प्रकाशक : मन्त्री, सर्व सेवा संघ,
राजघाट, वाराणसी-१
संस्करण : प्रथम : मार्च, १९६२ : ३,०००
द्वितीय : दिसम्बर, १९६५ : ३,०००
कुल प्रतियाँ : ६,०००
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी (६४५५–२२)
मूल्य : रु० ४.००
रु० ५.०० (सजिल्द)

[संशोधित तथा परिमार्जित संस्करण]

Title : AHIMSAK KRANTI KI PRAKRIYA
Author Dada Dharmadhikari
Subject Sarvodaya
Publisher Secretary,
Sarva Seva Sangh,
Rajghat, Varanasi
Edition Second
Copies · 3,000, December, '65
Total Copies : 6,000
Price . Rs. 4.00
Rs. 5.00 (Bound)

प्रकाशकीय

जनवरी-फरवरी १९६० मे साधना-केन्द्र, काशी, मे श्री दादा धर्माधिकारी ने 'अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया' पर लगातार एक माह तक भिन्न-भिन्न पहलुओं से अपने विचार प्रस्तुत किये थे। अहिंसा के विकास-क्रम को तथा विश्व की बहुमुखी परिस्थितियों मे अहिंसक क्रान्ति और उसकी प्रक्रिया को समझने-समझाने का प्रयास विश्व के विचारको ने किया है। हजारो वर्षों के काल-प्रवाह मे अहिंसा-विषयक चिन्तन कहाँ तक पहुँचा है और उसने समाजों तथा राष्ट्रों को कितनी गति दी है, इस सबका जैसा मन्थन दादा ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह बडा ही सरस और ज्ञानवर्धक है।

'अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया' ग्रन्थ का पहला संस्करण मार्च, १९६२ मे प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ का यह दूसरा संस्करण सशोधित और परिमार्जित रूप में प्रकाशित हो रहा है। दादा ने स्वयं इसमे अनेक उपयोगी सुधार कर दिये हैं।

ग्रन्थ के अन्त मे चार प्रकार की शब्द-सूचियाँ भी जोडी गयी है :

१. प्रमुख शब्दो की सूची,
२. प्रमुख व्यक्तियों की सूची,
३. अग्रेजी शब्दों की सूची,
४. उल्लिखित ग्रन्थों की सूची।

दादा की अपनी एक अनोखी अनुभूति है और वे उसे ऐसे शब्दो में तथा शैली में व्यक्त करते हैं, जो मौलिक होती है। मौलिक और वजनदार शब्दों से विचार समृद्ध होते है। व्यक्तियों की सूची में ग्रन्थकारों का और ऐसे मनीषियो का उल्लेख है, जिन्होंने अहिंसा की दिशा मे विश्व को कुछ-न-कुछ देन दी है। ग्रन्थकारों के ग्रन्थो की सूची भी साथ-साथ दी गयी है। दादा ने इन सबका जो उपयोग अपनी रचना में किया है, उसकी एक विशिष्ट छाप मन पर पड़ती है। दादा ने कुछ अग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। इन शब्दों को समझना विचार-समृद्धि मे बडा उपयोगी होगा। इन अग्रेजी शब्दो के दादा ने जो हिन्दी अर्थ बताये है, वे हिन्दी-भाषा की श्री-वृद्धि करते है।

इस प्रकार अब यह ग्रन्थ अहिंसक क्रान्ति का सन्दर्भ-ग्रन्थ बन गया है।

आशा है, अध्ययनशील पाठकों तथा शिक्षा-सस्थानों में इस ग्रन्थ का यथेष्ट स्वागत होगा।

●

क्या ?
क्यों ?
कैसे ?

क्रान्ति और सो भी अहिंसक !

ऐसा भी भला कभी सम्भव है !

और पलभर के लिए मान भी लें कि अहिंसक क्रान्ति सम्भव है, तो क्या हिंसक क्रान्ति की भाँति उसकी कोई प्रक्रिया भी हो सकती है !

सवाल टेढा है जरूर, पर टेढा कहकर ही हम उसे टाल नहीं सकते।

जनवरी-फरवरी, १९६० में यही सवाल आचार्य दादा धर्माधिकारी के सामने पेश किया गया और उन्होंने साधना-केन्द्र, काशी में एक माह तक लगातार इस पर भिन्न-भिन्न पहलुओं से विचार करके अपनी 'हितं मनोहारि' शैली में बताया कि अहिंसक क्रान्ति हुई है, हो सकती है और उसकी प्रक्रिया भी होती है। जरूरत है उसे समझने की और उसे अमल में लाने की। सत्याग्रही उपयुक्त समस्याओं को चुनकर इस प्रक्रिया के अनुसार समाज-परिवर्तन कर सकते हैं और जरूर कर सकते है। शर्त केवल इतनी ही है कि सत्याग्रही के मन मे यह मान रहना चाहिए कि संघर्ष में से भी मनुष्य का मनुष्य के लिए सद्भाव ही निष्पन्न होगा।

× × ×

दादा कहते हैं कि समाज-परिवर्तन आखिर हम चाहते क्यों हैं ! इसीलिए कि मनुष्य को जो सदा प्राप्त है, उससे वह असन्तुष्ट रहता है। वह परिवर्तन चाहता है।

सवाल है कि ऐसी कौन-सी अवस्था है, जिसमें यह असन्तोष न रहे। वह या तो जडता की अवस्था हो सकती है या परिपूर्णता की। मनुष्य के विकास के लिए न तो स्वयं-सन्तुष्टि ही चाहिए और न नित्य व्यग्रता ही। उसके लिए आवश्यकता है अहिंसक या अनासक्त चित्त की। हमारा चित्त ऐसा मुक्त होना चाहिए कि वह सबकी बात समझने के लिए तैयार रहे। वह किसीको दबाये नहीं।

अहिंसक क्रान्ति समझने और समझाने की ही क्रान्ति है। पहले हम समझेंगे और बाद में समझायेंगे।

पर होता उल्टा है। हम समझने की कोशिश करते नहीं, समझाने की ही सारी कोशिश करते है। अपनी बात मनवाने का ही हमारा प्रयत्न रहता है। फिर वह चाहे भौतिक स्तर की बात हो, चाहे वैज्ञानिक स्तर की; धार्मिक स्तर की हो, चाहे आध्यात्मिक स्तर की।

अपनी बात मनवाने के लिए कोई दूसरों के शरीर पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है, कोई विज्ञान के रूप मे दूसरो पर हावी होना चाहता है, कोई योग का चमत्कार और विभूतियो का सहारा लेता है, वशीकरण की मोहनी डालता है और कोई यह चाहता है कि सारे विश्व पर एकमात्र मेरा ही विचार छा जाय।

आज हम देखते हैं कि समाज मे ये सारी प्रक्रियाएँ चल रही है और अपने पूरे जोर से चल रही हैं।

परिणाम हमारी ऑखों के सामने है। हम देख रहे है कि हम नाना प्रकार के विरोधों, अन्तर्विरोधों मे फँसे हुए घड़ी के पैंडुलम की भाँति इधर से उधर भटकते फिर रहे हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व खण्ड-खण्ड हो रहा है, उसकी प्रतिभा कुण्ठित हो रही है, उसकी सिफत खिल नही पा रही है, उसकी बुद्धि का विकास हो नहीं पा रहा है।

लोग कहते हैं कि यत्रीकरण जितना होता चलेगा, उतना ही मनुष्य की बुद्धि का विकास भी होता चलेगा। पर देखने में तो उल्टा ही आ रहा है। यंत्रीकरण जितना बढ़ चला है, बुद्धि का कार्य उतना ही कम होता चल रहा है।

हमारे चारों ओर इन्द्रजाल फैला है। उपभोग की सुलभता हो रही है, पर निर्माण की क्षमता घटती चल रही है।

हम शब्द की गति से प्रवास करते हैं, प्रकाश की गति से दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह तो ठीक है, पर सम्बन्ध-स्थापन के लिए जो तीव्रता, उत्कटता और करुणा अभीप्सित है, उसका हमारे जीवन मे कहीं पता ही नहीं लगता!

आकाश पर हम कब्जा करते जा रहे हैं, पर धरती से हमारे पॉव उखड़ते चल रहे हैं! हमारी हार्दिकता, बन्धुता और सख्यता कम होती चल रही है!

वैज्ञानिक युग के ये अन्तर्विरोध हमारे देश को भी प्रभावित कर रहे हैं। विज्ञान मनुष्य को सुख देता चल रहा है, पर वह हमे निष्क्रिय भी बनाता चल रहा है। हमारा आध्यात्मिक जीवन-दर्शन, जो 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का हामी

था, वह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने में, आलस्य की उपासना करने में रत्तीभर भी नहीं झिझकता। आलस्य हमारा स्वभाव नहीं है, फिर भी सुभिक्ष की आकांक्षा हमारे भीतर घुसी बैठी है। अभिमान आध्यात्मिकता का है, पर आकांक्षा वैभव की है।

प्रश्न खडा होता है कि इस विषम परिस्थिति से छुटकारा कैसे मिले ?

हमे समाज-परिवर्तन की ऐसी प्रक्रिया चाहिए, जिसमे से दूसरी प्रतिक्रिया पैदा न हो, जिसमें क्रान्ति की प्रति-क्रान्ति न हो।

इसके लिए मानस बदलने की आवश्यकता है। यह मानस बदला जा सकता है—शिक्षण से, विचार से, सवाद से।

अभी तक मनुष्य को सत्कर्म की ओर प्रेरित करने के लिए दो प्रकार की ही प्रेरणाएँ दी जाती रही हैं—या तो लोभ की या भय की। व्यावहारिक और धार्मिक क्षेत्र में स्वर्ग का आकर्षण और नरक का भय ही मुख्य रूप से छाया रहा है। धर्म जहाँ एक ओर शारीरिक सुख का लोभ और शारीरिक दुःख का भय दिखाता है, वहाँ वह शरीर के प्रति जुगुप्सा भी उत्पन्न करता है। उसे मल-मूत्र-श्लेष्मा का आवास बताना और घृणा की दृष्टि से देखना धार्मिकता का एक फैशन-सा हो गया है।

परन्तु शरीर का यह द्रोह अहिंसा के विकास के लिए घातक है। जहाँ शरीर-द्रोह रहेगा, वहाँ अहिंसा के लिए कोई गुजाइश नहीं रहेगी।

इसका एक ही उपाय है, शरीर को रत्न-चिन्तामणि मानना।

विश्व की महान् विभूति आलवर्ट स्विट्ज़र ने विश्व के तमाम दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करके एक परम उत्कृष्ट सिद्धान्त हमें दिया है—VENERATIO VITŒ—'रेवरेन्स फार लाइफ'—जीवमात्र के लिए आदर !

स्विट्ज़र कहता है ' किसी भी व्यक्ति को सदाचारी या धार्मिक केवल तभी माना जा सकता है, जब उसके भीतर सतत यह प्रेरणा होती रहती है कि मैं जीवमात्र की यथाशक्ति सेवा करूँ और किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का क्लेश न पहुँचाऊँ। उसके लिए प्रत्येक प्राणी का जीवन पवित्र है। वह किसी वृक्ष का पत्ता तक नहीं तोड़ता, कोई फूल नहीं तोडता। वह इस बात का ध्यान रखता है कि उसके पैरों-तले कोई जीव कुचल न जाय। गर्मी के दिनों में रोशनी से यदि वह काम करता है, तो वह खिड़की बन्द करके उमस में बैठना कबूल करता है, बनाय इसके कि पतंगे बाहर से आ-आकर मेज पर शहीद हों।

इस 'रिवरेन्स फार लाइफ' मे—जीवमात्र के लिए आदर मे—धर्म का सारतत्त्व—प्रेम और करुणा—ऊपर से नीचे तक ओतप्रोत है। यह प्रेम मानवमात्र के लिए ही नहीं, प्राणिमात्र के लिए है। पशु और पक्षी, कीट और पतंग—कोई भी उससे अछूता नहीं रह सकता।

स्विट्जर का कहना है कि 'रेवरेन्स फार लाइफ' का पुजारी हर काम को इस कसौटी पर कसेगा। वह सोचेगा कि मुझे अपने जीवन, अपनी सम्पत्ति, अपने अधिकार, अपने आनन्द, अपने समय और अपने सर्वस्व का कितना अंश दूसरों को अर्पित कर देना है और कितना रखना है।

वह यदि प्रसन्न है, तो अपने-आपसे प्रश्न करेगा कि तुझे स्वास्थ्य, प्राकृतिक अनुदान, कार्यक्षमता, सफलता, सुन्दर बाल्यावस्था, उत्तम पारिवारिक परिस्थिति आदि बातों मे अन्य लोगों की अपेक्षा जो अधिक सुविधा प्राप्त है, उसे तुझे यों ही सहज मानकर स्वीकार नहीं कर बैठना चाहिए। तुझे जीवन के लिए सामान्य से अधिक आदर व्यक्त करना चाहिए। जिसे अधिक मिला है, वह अधिक त्याग करे।

अहिंसा की प्रक्रिया मे जीवन के प्रति आदर की यह भावना अनिवार्य है। शरीरमात्र को—फिर वह अपना हो या पराया—पवित्र मगलायतन मानना उसकी पहली सीढ़ी है। यों शरीर की पवित्रता तो न्याय भी स्वीकार करता है, पर अहिंसा का पुजारी न्याय को परे रखकर गाधी के शब्दों मे कहता है—'मेरा धर्म न्याय नहीं, करुणा है।'

स्वस्थ समाज के विकास के लिए इस बात की आवश्यकता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था इस प्रकार की हो, जिसमें मनुष्य का कर्म-स्वातन्त्र्य बना रहे, मनुष्य आत्मनिर्भर रहे। आत्मनिर्भरता का अर्थ है--परस्पर निर्भरता। मनुष्य किसी सस्था, राज्य या किसी अवान्तर शक्ति पर निभर न रहे।

आज के समाज मे सभी उत्पादक श्रम पशुओ, गुलामों और स्त्रियो के जिम्मे कर दिये गये हैं। कुछ अरुचिकर, पर आवश्यक काम जैसे कसाई या मेहतर के काम विशिष्ट वर्ग के लोगो के जिम्मे कर दिये गये हैं। यह गलत है। होना यह चाहिए कि उद्योग में जितना आवश्यक परिश्रम है, वह सयोजन के साथ जोड़ दिया जाय। मनुष्य का आर्थिक और औद्योगिक सयोजन इस प्रकार का हो कि कष्ट कम होता जाय और कौशल बढ़ता जाय। अकुशल श्रम समाप्त करने के लिए यन्त्रों का उपयोग किया जा सकता है, पर यंत्र तो ठहरा जड़। वह न तो स्वच्छता की भावना का विकास कर सकता है, न सहृदयता का।

कसाई का उद्योग हमने कसाई-वर्ग को सौंप दिया है। वह मांस काटता है। उसकी वेदना हमारे चित्त में नहीं है। पर कसाई भी और मांस खानेवाले भी दयालु हो सकते हैं और होते हैं। पर अहिंसक समाज में तो हमें जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ानी है और उसीके हिसाब से हमें इस व्यवसाय का परिमार्जन करना पड़ेगा। माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी से हम जिस प्रकार अपनी आत्मीयता बढ़ाते चलते हैं, उसी प्रकार हमें आत्मीयता का यह दायरा उत्तरोत्तर बढ़ाते चलना चाहिए। यह आत्मीयता जब मनुष्य से बढ़कर पशुओं तक पहुँच जायगी, तो कसाई का व्यवसाय अपने-आप समाप्त हो जायगा।

भंगी का कार्य भी यंत्र को सौंपा जा सकता है, पर यंत्रीकरण से आत्मीयता का विकास नहीं होगा। वह तो तभी होगा, जब हम भंगी से कहेंगे—'भैया, तेरा काम गंदा है। इसलिए वह अप्रतिष्ठित है। ला, मैं तेरा काम करूँगा।'

कसाई के व्यवसाय का यंत्रीकरण करने के पहले यह आवश्यक है कि कसाई का और हमारा दिल एक-दूसरे के निकट आये। 'तू काटता है, मैं खाता हूँ। इसलिए मुझसे तू अधिक अधम नहीं'—यह भावना हममें आनी चाहिए। शाकाहारी जैन और कसाई जब एक-दूसरे के निकट आयेंगे, तब क्रान्ति की प्रक्रिया धन्य होगी।

भंगी के व्यवसाय का यंत्रीकरण करने के पहले भी यह आवश्यक है कि भंगी का और हमारा दिल एक-दूसरे के निकट आये। भंगी और हम—दोनों ही यह महसूस करें कि 'तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं!'

इसके लिए अकुशल आवश्यक परिश्रम कुशल परिश्रम के साथ मिलाना चाहिए। उसमें से कला का उद्भव होगा। अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया मानव-केन्द्रित हो। यंत्रीकरण के कारण जीवन का स्पर्श क्षीण न हो।

यंत्रीकरण की तीन मर्यादाएँ हों :

(१) अर्थ-व्यवस्था में मनुष्य को अपने उत्तरदायित्व का भान रहे।

(२) उद्योग और कला में विच्छेद न हो।

(३) शरीर-धारण के लिए कुछ 'रफेज'—कष्टदायक अरुचिकर परिश्रम आवश्यक रहे।

संस्कृति के दो मानदण्ड हो गये हैं। व्यक्ति के लिए जहाँ अभिमान, गर्व, आत्मश्लाघा अवगुण है, वहाँ समूह के लिए, राष्ट्र के लिए गुण हैं। इसके कारण एक वैयक्तिक नीति बन गयी है, दूसरी सामुदायिक। व्यक्तिगत जीवन में चोरी, असत्य, सूदखोरी आदि गलत मानी जाती है, सार्वजनिक जीवन में उसे गलत नहीं मानते। इस प्रकार जीवन के दो हिस्से हो गये हैं।

कुल, रक्त, वर्ण, राष्ट्र आदि के ये अभिमान सस्कृति के अंग बन बैठे हैं। इन अभिमानों के कारण मनुष्य-मनुष्य मे कृत्रिम भेद पड जाता है। यों मनुष्य स्वभावतः दूसरे मनुष्य से मिलना चाहता है, परन्तु सस्कृति की ये दीवारें उसमें भेद पैदा कर देती हैं। होना तो यह चाहिए था कि संस्कृति मनुष्य में विनय-शीलता लाती, पर वह लाती है अभिमान और भेद। इससे व्यक्तित्व के टुकड़े होते चलते हैं। 'आठ कनौजिया नौ चूल्हे' बनते है। पशु की रक्षा के लिए मनुष्य की हत्या कर डालने में लोगो को संकोच नहीं होता! इस अविवेक का त्याग आवश्यक है। सस्कृति के नाम पर दोषों का सरक्षण नहीं होना चाहिए। हॉ, जिन सांस्कृतिक प्रथाओं को सर्वमान्य सास्कृतिक सिद्धान्त की कसौटी पर कस सकते हैं, केवल उन्हींका संरक्षण होना चाहिए।

सांस्कृतिक संस्पर्श की भूमिका पर मनुष्य एक होंगे, तभी जागतिक, मानवीय सस्कृति का विकास हो सकेगा।

व्यक्ति के दायरे से निकलकर जब हम समाज-रचना की ओर बढ़ते हैं, तो हम देखते हैं कि विज्ञान के कारण मनुष्य की आस्थाएँ, उसकी रुचियॉ बदलती चल रही हैं। साथ ही मनुष्य राज्य की ओर से समाज की ओर बढ़ रहा है।

लोग बने-बनाये ढॉचे के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि वे समाज-रचना का भी कोई बना-बनाया ढॉचा चाहते हैं, परन्तु हम केवल उसकी दिशा सोच सकते हैं। मूल बात यह है कि हम विश्व को एक सामुदायिक संस्था नहीं बनाना चाहते। सारे विश्व को मानव-कुटुम्ब बनाना चाहते है।

हमारे इस मानव-कुटुम्ब में शोषण के लिए कोई स्थान नही रहेगा। उसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी, मालकियत नहीं रहेगी। कुटुम्ब में रक्त और विवाह का जो सम्बन्ध होता है, कुटुम्ब की जो परवशता होती है, विश्व-कुटुम्ब में हमे उसे निकाल देना है। स्वेच्छा और स्नेह के आधार पर हमे यह विश्व-कुटुम्ब बनाना है।

आज हमारे सामने कई समुदाय है—कारखाने का समुदाय, बाजार का समुदाय, कुटुम्ब का समुदाय, राज्य का समुदाय। इन सब समुदायो का शोधन किये बिना काम चलनेवाला नहीं।

कारखाने मे मनुष्य केवल 'फंक्शन' बनकर रह जाता है। उसका व्यक्तित्व उसके व्यवसाय में खो जाता है।

पूँजीवादी समाज मे सबसे प्रभावशाली संस्था है—बाजार। वह हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रविष्ट हो गया है। हर चीज पर लगी हुई चिप्पी जाने-

अनजाने मनुष्य के मन और जीवन में परिवर्तन लाती है। उसके कारण जीवन में काम और श्रम का महत्त्व घट जाता है।

यह सही है कि कुटुम्ब में बाजार का कम-से-कम प्रवेश होता है, परन्तु वहाँ भी जो कमाता है, उसका महत्त्व अधिक माना जाता है।

बाजार के समुदाय का प्रभाव यह होता है कि मनुष्य का स्वतन्त्र विकास रुक जाता है। बाजार के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व तक बाजार बन जाता है। यह मनुष्य के लिए, मनुष्य के विकास के लिए बडी ही घातक वस्तु है। और यही कारण है कि सभी क्रान्तिकारी सदा से ही सौदेबाजी का विरोध करते रहे है। सभी प्रकार के क्रान्तिकारी ऐसी घोषणा करते हैं कि हमारे समाज में सौदेबाजी नहीं चलेगी। वे भाव निश्चित कर देते हैं, वस्तु की किस्म, उसकी शुद्धता निर्धारित कर देते है। तात्पर्य यह है कि बाजार न रहे, व्यक्तित्व का सौदा न हो, विज्ञापन और विक्रय-कला द्वारा मॉग पैदा करने की कोशिश न हो।

भारत मे श्रम-विभाग की योजना गुण-विभाग पर की गयी। गुण के आधार पर मनुष्यो का वर्गीकरण अच्छी चीज नहीं। समाज में यदि दुष्ट और सुष्ट, ऐसे दो वर्ग रहेंगे, तो अहिंसक प्रक्रिया के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जिस प्रकार हमें सम्पत्याश्रित और धनाश्रित वर्गीकरण नहीं चाहिए, उसी प्रकार गुणाश्रित वर्गीकरण भी नहीं चाहिए। हम चाहेंगे कि गुण की प्रतिष्ठा हो। गुण सार्वत्रिक बने।

गाधी और विनोबा ने वर्ण-व्यवस्था का विवेचन करते हुए कहा है कि वर्ण मे तीन बाते न रहें, तो झगड़ा नहीं रहेगा :

(१) रोटी-बन्दी, बेटी-बन्दी न रहे।
(२) मानवीय सार्वत्रिक शिक्षण सबको समान मिले।
(३) जन्म के आधार पर मनुष्य का वर्गीकरण न हो।

राज्य का समुदाय आज सर्वग्रासी बन रहा है। रक्षण, पोषण और शिक्षण राज्य ही करता है और उसके बदले मे वह मनुष्य की बुद्धि और हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

अहिंसात्मक प्रक्रिया को माननेवाला मनुष्य राज्य के नियत्रण को नहीं मानता। वह कहता है कि समुदायवाद में मनुष्य की सत्यनिष्ठा और आत्मनिष्ठा का लोप नहीं होना चाहिए। राज्य की व्यवस्था ऐसी हो, जिससे व्यक्ति की आत्मसयम की क्षमता बढे और संरक्षण की आकाक्षा और आवश्यकता घटे।

प्रोदों, मैकस्टर्नर, क्रोपाटकिन, गाडविन आदि विचारकों ने राज्यसंस्था को निरर्थक बताया। गाडविन ने राज्य-संस्था के विघटन का उपाय बताया—समझाना-बुझाना। पर सवाल है कि समझाने-बुझाने से काम न चले तब ?

थोरो और तोल्सतोय ने इस प्रश्न का थोड़ा-सा उत्तर देने की कोशिश की, पर पूरा उत्तर किसीके पास नहीं था। वह दिया गांधी ने।

गांधी ने इसका उपाय बताया—सत्याग्रह। सत्याग्रह का आधार समझाना नहीं, मत-परिवर्तन है। उसमें हमेशा अपने मत-परिवर्तन की तत्परता गर्भित है। इसीमें से लोकनीति का विकास होता है।

सत्याग्रह के शास्त्र का गांधी ने विकास किया। उसकी एक आवश्यक शर्त यह है कि सत्याग्रही की बुद्धि में विकार नहीं रहना चाहिए। वह निर्विकार होकर तटस्थ वृत्ति से काम करे। सर्वोदय-समाज-रचना के लिए अहिंसक संगठन आवश्यक है। सत्याग्रही उपलब्ध साधनों से काम लेगा, पर उसमें विजय की आकांक्षा नहीं रहनी चाहिए। स्नेह और विवेक के आधार पर ही सत्याग्रह पुष्पित पल्लवित होगा।

समाज परिवर्तन की अहिंसक प्रक्रिया में एक अत्यन्त अनिवार्य वस्तु है—ट्रस्टीशिप। 'सम्पत्ति मेरी नहीं, समाज की है'—इस भावना के विकास में क्रान्ति की बुनियाद छिपी पड़ी है। ट्रस्टीशिप में हर वस्तु के लिए, सृष्टि के लिए, उपकरणों के लिए, अपने शरीर और श्रम के लिए भी हमारे हृदय में आदर रहना चाहिए। इससे संयम स्वतःस्फूर्त होगा और किसी भी वस्तु का विनाश नहीं किया जायगा। अहिंसक समाज में हम अपनी श्रम-शक्ति, बुद्धि-शक्ति और अन्य शक्ति को धरोहर मानेंगे, अपने स्वामित्व की वस्तु नहीं मानेंगे। प्रत्येक वस्तु की हम प्रतिष्ठा करेंगे और यह जीवन की प्रतिष्ठा में अन्तर्भूत है।

× × ×

अहिंसक क्रान्ति की यह सारी प्रक्रिया दादा ने अत्यन्त विस्तार से शिविरार्थियों को समझायी है। मुझे इसका अवगाहन करने का अवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य !

लीजिये, अब दादा की बातें दादा के ही मुख से सुनिये।

काशी
१२-२-'६२

अनुक्रम

अहिंसक क्रान्ति
की
प्रक्रिया

●

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया : १ :

हमारे सामने सबसे पहला सवाल यह है कि हम समाज-परिवर्तन चाहते क्यों है ?

पहली बात तो यह है कि मनुष्य को जो प्राप्त है, उससे वह हमेशा असतुष्ट रहता है। बहुत दिनो तक अगर वह रेशमी कपड़ा पहनता रहे, तो सोचता है कि अब कुछ दिन सूती कपड़ा पहने, तो अच्छा है। मैदान मे रहनेवाले हवा-खोरी और स्थान-परिवर्तन के लिए पहाड पर चले जाते है और वहाँ कहते है कि यहाँ सृष्टि-देवी का सौदर्य अनुपम है, कितना रम्य स्थान है! लेकिन पहाड़ का आदमी कहता है कि मैदान देखा नहीं, वह बहुत ही खूबसूरत होगा। मनुष्य का स्वभाव-धर्म है कि वह परिवर्तन चाहता है, वस्तु-स्थिति से संतुष्ट नहीं रहता। यह असन्तुष्टि निरन्तर-सी है। अगर प्रगति जैसी कोई चीज है, तो उसका बीज इसीमे है। यह असतोष मनुष्य की प्रगति का जनक है।

जड़ता या परिपूर्णता

अब सोचिये कि ऐसी कौन-सी अवस्था है, जिसमे यह असंतोष न हो दो जवाब हैं, या तो जड़ता होगी या परिपूर्णता। 'स वै मुक्तोऽथवा पशुः'— 'या तो वह मुक्त होगा या पशु।'

इसके विपरीत, परिवर्तन से मनुष्य घबराता भी है। कल ही तो कृष्णमूर्ति ने कहा था कि "मनुष्य को सोचने मे खतरा मालूम होता है, सकट मालूम होता है। डर लगता है कि कहीं अपनी स्थिति से हम खिसक न जायँ। मनुष्य अपनी स्थिति से खिसकना नहीं चाहता, इसलिए वह परिस्थितियों के साथ और अपने-आपसे 'एडजस्टमेट'—समझौता—कर लेता है। वह नुकसान मे भी अपना फायदा देख लेता है। हानि में भी लाभ देख लेता है और दुःख में भी सुख मान लेता है। लेकिन यह समझौता मानसिक आलस्य का लक्षण है। मनुष्य विचलित नहीं होना चाहता। किसी तरह समय काटना चाहता है।"

इसके लिए कृष्णजी ने कल 'स्लिदरिंग' शब्द का प्रयोग किया था। अर्थात् जैसे लड़के पटिया पर से खिसकते और उछलते हैं, वैसे ही मनुष्य किसी

तरह खिसक-उछलकर पार हो जाना चाहता है। वह समस्या को समझना नहीं चाहता।

यही आत्मतुष्टि या स्वयं-तुष्टि मनुष्य को जड़ बना देती है। तो, एक तो ऐसा मनुष्य है, जैसा पशु। पशु प्रकृति के अधीन हैं। इसलिए उसमें अपने जीवन के परिवर्तन की विशेष आकांक्षा नहीं है।

अब, सिद्धावस्था में परिणत ज्ञानी की क्या स्थिति होती होगी, इसका पता मुझे नहीं। कल्पना और अनुमान भी एक हद से आगे नहीं जा सकता। हॉं, पशु की अवस्था का अनुभव है। किसी तरह हम वक्त काटना चाहते हैं। जिंदगी में आकर फॅस गये हैं—इसको किसी तरह काट लेना है। ऐसा सन्तोष मान लेते हैं। लेकिन इस तरह का संतोष ठीक नहीं है। इससे मनुष्य का विकास नहीं होता।

इसी प्रकार निरन्तर असंतोष भी एक ऐसी वस्तु है, जो जीवन में व्यग्रता पैदा करती है। उससे प्राप्त वस्तु के साथ उसका जीवन एकरस नहीं हो पाता। वह मनुष्य को आनन्द से वंचित कर देती है, व्यग्र रखती है। इसलिए यह नित्य-व्यग्रता भी नहीं होनी चाहिए।

अहिंसक या अनासक्त चित्त

सारांश, नित्य व्यग्रता भी न हो और स्वयं-संतुष्टि भी न हो, इस प्रकार का एक तटस्थ चित्त होना चाहिए, जिसे गांधी ने 'अनासक्त चित्त' कहा है। जो चित्त व्यग्र होगा, उसमें विकार पैदा होगा। व्यग्र चित्त में संतुलन नहीं रहता। जरा गहराई से सोचें, तो दीख पड़ेगा कि सन्तुलन रखने या साधने की चीज नहीं, वह तो अपने-आप आता है। जहॉं संतुलन साधना पड़ता है, वहॉं संतुलन रखने में ही मनुष्य की सारी शक्ति समाप्त हो जाती है।

एक आदमी तार पर चल रहा है, हाथ में छाता लिये हुए है और संतुलन रख रहा है। उससे पूछिये, "क्या कर रहे हो?" तो वह कहेगा . "तार पर चल रहा हूॅं।" आप पूछेंगे कि "क्यों चल रहे हो?" तो वह कहेगा : "चल रहा हूॅं, इसलिए चल रहा हूॅं।" "किधर चलने का लक्ष्य है? क्या इलाहाबाद जा रहे हो?" तो वह कहेगा : "कोई लक्ष्य नहीं। चलना ही है तार पर।" लेकिन क्या वह यह कहेगा कि "मैं सन्तुलन साध रहा हूॅं?"

सन्तुलन रखने की चीज नहीं। वह अपने-आप आता है। तटस्थता जितनी होगी, उतना ही सन्तुलन होगा। आप सन्तुलन साधने की कोशिश करेंगे, तो जिन दो चीजों में उसे साधने की कोशिश रहेगी, वे नित्य सामने रहेंगी। जहॉं

तटस्थता होगी, वहाँ व्यग्रता न होगी। नित्य असंतोष हो, तो व्यग्रता आती है। सन्तुलन के लिए जहाँ कोशिश करेंगे, वहाँ उसीके पीछे दौड़ेंगे। इस तरह सन्तुलन का अभ्यास नही हो सकता।

हमे समन्वय चाहिए, 'रेजिमेंटेशन' टकसाली जीवन नही। समन्वय का मतलब है, सबकी बात समझने की तैयारी।

हमारा चित्त ऐसा मुक्त हो कि वह सबकी बात समझने के लिए तैयार रहे। किसीकी बात को दबाये नहीं। इसे हम उन्मुक्त, या 'खुला' चित्त कहते है। इसमे से समन्वय अपने-आप आता है। यह बहुत महत्त्व की चीज है। जो समझने के लिए तैयार नही होगा, उसे समझाने का भी अधिकार नही। आप अपनी बात समझाना चाहते हैं, इसका क्या मतलब है? दूसरे की बात समझने की तत्परता होती है, तभी समझाने का अधिकार आता है; दूसरे को समझाने के लिए तभी दावा कर सकते है। जिसे आप 'अहिंसक क्राति' कहते हैं, वह समझने और समझाने की क्राति है। हम पहले समझेंगे और बाद मे समझायेंगे।

विनयशीलता या तटस्थता

हमे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि हमारा मुख्य साधन समझना और समझाना है। जब हम समझाने के लिए उपवास आदि अवातर उपायो से काम लेते है, तब हमें यह समझ लेना चाहिए कि दूसरा आदमी भी हमे समझाने के लिए इन उपायो से काम ले सकता है। आप कहते हैं कि "मैंने हजार बार समझाया, लेकिन इसकी समझ मे ही नहीं आता, इसलिए अब समझाना-बुझाना छोड, अपनी बात मनवाने के लिए दूसरे ऐसे उपाय से काम लूँगा, जिससे उसे किसी तरह की हानि न पहुँचे, कष्ट न हो।" लेकिन इससे पहले हमे सोचना चाहिए कि यदि मैं समझाने के लिए इस उपाय से काम लेता हूँ, तो समझने के लिए इससे काम क्यो नहीं लेता? हम अपनी बात दूसरे के गले उतारना चाहते हैं। उसे समझाने के लिए इन अवातर उपायों से काम लेते हैं। कहते जरूर हैं कि मै अपनी आत्मशक्ति बढा रहा हूँ। लेकिन किसलिए—तो समझाने के लिए। किन्तु अहिंसा मे अगर इन अवातर साधनों का प्रयोग हो भी, तो वह अपनी समझने की शक्ति बढाने के लिए होना चाहिए। हमे यह बहुत अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि समझने की शक्ति जितनी बढ़ती है, समझाने का अधिकार भी उतना ही प्राप्त होता है।

'अधिकार' शब्द संस्कृत का है। उसका मतलब है पात्रता। हिन्दी मे अधिकार का मतलब 'स्वामित्व' कहाँ से आया, पता नहीं। हममे समझाने की

क्षमता उस अनुपात में प्राप्त होती है, जिस मात्रा में हमने समझने की योग्यता प्राप्त की हो। आज हो क्या रहा है? हम समझाने की अधिक कोशिश करते हैं, समझने की कम। इसलिए हमारे दर्शन में भी अहिंसा नहीं आ पाती।

आज 'अहिंसा' शब्द ऐसा हो गया है कि उसके साथ बहुत-सी बातें मिल गयी हैं। उसका नाम लेते ही कई चीजें मन में खड़ी हो जाती हैं। बुद्ध, महावीर, गांधी, शाकाहार, सत्याग्रह, अनशन आदि के सपने आ जाते हैं। इसलिए उस शब्द को अलग रख लें और 'विनयशीलता' या 'तटस्थता' शब्द ले लें। समाज-परिवर्तन में ऐसे उपायों से काम लेना चाहिए कि जिनमें समझाने की कोशिश कम और समझने की कोशिश ज्यादा हो।

मानव अपवाद भी है, विभूति भी

हरएक चाहता है कि मेरे दिमाग की दुनिया और इन्सान बने। लेकिन गांधी के लिए ऐसा इन्सान उनके तनय नहीं बने, 'विनोबा' बने। अगर आपका तनय नहीं बन सकता, तो शिष्य बन सकता है। अगर मेरा तनुज मेरे मन के मुताबिक नहीं बन सकता, तो कम-से-कम मेरा आत्मज, मानस-पुत्र, मेरे मन के अनुसार, मेरे ढाँचे का बने। अहिंसक क्रांति में इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि हम पहले से न सोच लें कि दूसरा आदमी हमारे ढाँचे में ढले। हर व्यक्ति अपने में अपवाद भी है और अपने में विभूति भी। यह नहीं होना चाहिए कि हम उसे अपने ढाँचे में ढालें।

हमारे एक मित्र हैं। पहले वे असेंबली में थे। वैसे तो मुझसे छोटे हैं, लेकिन हैं बड़े होशियार। उन्होंने एक बार कहा : "आजकल आप किस दुनिया में रहते हैं?" मैंने कहा : "मैं उसी दुनिया में रहता हूँ, जिसमें आप रहते हैं।" उन्होंने कहा : "क्या तुम जानते हो कि अब तो हम मनुष्य को भी विज्ञान से बनायेंगे। आँख की जगह आँख, नाक की जगह नाक, हृदय की जगह हृदय, मस्तिष्क की जगह मस्तिष्क—यह तो होता ही था; लेकिन अब तो मनुष्य ही बनायेंगे। अब आप क्या कहेंगे?" हमने कहा : "अगर हमें दुबारा बनाना हो, तो आप न बनाइये। जिस भगवान् ने हमें बनाया, उससे भी हमें शिकायत है। उसने हमें यह शरीर दिया। भीमकाय क्यों नहीं किया? मदन जैसा रूप क्यों नहीं दिया? गंधर्व की आवाज क्यों नहीं दी? वह तो सर्वशक्तिमान् था। उसने हमें इतना भद्दा बनाया, तो क्या पता कि तुम कैसा बनाओगे? जितनी तुम्हारी अक्ल होगी, उतना ही तो तुम बना पाओगे न!" विज्ञानवादी जैसे स्थूल भूमिका से मनुष्य और सृष्टि का निर्माण करना चाहता है, वैसे ही हम

अध्यात्म से भी करना चाहेंगे, तो अनर्थ ही होगा। यह 'रेजिमेन्टेशन' टकसाली ढंग है।

वशीकरण के गलत प्रकार

आगे जो दुनिया होगी, उसमे मनुष्य को मनुष्य नही बनायेगा। हम तो यहाँ तक कहते है कि मनुष्य अपने को भी नहीं बनायेगा। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को बनायेगा, यह गलत चीज है। वैसे आज तो सभी एक-दूसरे को 'बनाते' ही है! एक 'डिप्लोमेट' (कूटनीतिज्ञ) दूसरे 'डिप्लोमेट' को बनाता है। 'डिप्लोमेसी' (कूटनीति) का अर्थ यही है कि मै आपको बनाऊँ और आप मुझे। लेकिन जिस तरह की प्रक्रिया का प्रयोग हम करना चाहते हैं, उसमे यह चीज नहीं आ सकती। आप कहेगे कि इसमे कोई हिंसा तो है नहीं, किसीको डराया-धमकाया नहीं, जबरदस्ती भी नहीं की। लेकिन किसी आदमी के भोलेपन, उसकी विश्वासपरकता से अगर हम लाभ उठा लेते है, तो वह धोखा है। इस तरह शारीरिक और मानसिक स्तर पर किसीको बनाना हमारी प्रक्रिया मे आ नहीं सकता।

इसी प्रकार आध्यात्मिक स्तर पर भी मनुष्य मनुष्य को न बनाये। इस स्तर पर बनाने का एक प्रकार है—मैस्मरिज्म, सम्मोहन। किसी भी बड़े स्टेशन पर जाकर देखेंगे, तो डेल कार्नेगी की किताबें बिकती है। 'हाउ टु इन्फ्ल्यूएन्स पीपुल ?' (लोगो को कैसे प्रभावित करें ?) किसीकी शादी करनी हो, तो लड़का या लड़की का वशीकरण कैसे करें ? ये सब वशीकरण के उपाय हैं। सारा का सारा अथर्ववेद 'मंत्र-विद्या' है। जारण, मारण, उच्चाटन, वशीकरण के तावीज मिलते है। बीस-पचीस रुपये भेज दिये, तो वशीकरण का एक तावीज आ जायगा।

ये सारे अमानुषता और पुरुषार्थहीनता के प्रकार हैं। इनमें नम्रता भी नहीं है। मर्दानगी और इन्सानियत भी नहीं। मर्दानगी इसलिए नहीं कि हम दूसरों को मूर्च्छित कर देना चाहते हैं, सुला देना चाहते है, परास्त करना चाहते है। यह पौरुष नहीं है। वीरता दूसरे की वीरता खंडित करने मे नहीं है। एक दीपक दूसरे दीपक को बुझा नहीं सकता। एक दीया दूसरे दीये को बुझाता हो, तो उसमे चिराग की तासीर, चिराग का लक्षण ही नहीं है। वीरता से वीरता पैदा होनी चाहिए। वीरता से अगर भीरुता पैदा होती है, तो वीरता ने अपना गुण छोड़ दिया, अपनी असलियत छोड दी। इसीलिए वीरता ऐसी न हो, जो भय पैदा करे। दूसरो के चित्त को अपने कब्जे

में कर लेनेवाली जितनी युक्तियाँ है, उनमें न मर्दानगी है, न इन्सानियत, न पुरुषार्थ है, न मानवता।

अनाग्रह का मार्ग

हम इसका प्रयोग करना नहीं चाहते, भले ही हमें सफलता न मिले। सफलता हमें व्यग्र कर देगी। व्यग्र एकाग्र से विरुद्ध है। फिर हमारा ध्यान समझाने की तरफ नहीं रहेगा, सफलता की तरफ ही रहेगा। जहाँ सफलता की तरफ ध्यान गया, वहीं समझाने की तरफ से ध्यान हट जायगा। सफलता का विचार मनुष्य के मन में अधीरता पैदा कर देता है, फिर चित्त एकाग्र नहीं रहता और जहाँ एकाग्रता नहीं, वहाँ नम्रता, विनयशीलता हो नहीं सकती, समाज-परिवर्तन भी नहीं हो सकता। अगर इन रास्तों को छोड़कर दूसरे रास्ते से जाना है, तो उस रास्ते को जो जाननेवाले हैं, उनके साथ ही जाना होगा। अलग रहने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। जिस रास्ते को हमने सही समझा, अपने में उस रास्ते से जाने की ताकत न पैदा हो, दूसरा रास्ता बनाना जरूरी हो, तो पहले से ही दूसरे रास्ते पर 'डबल मार्च' करनेवाले जो लोग हैं, उनके साथ ही जाना चाहिए। 'अनाग्रह' की बात यहाँ आती है।

'आग्रह नहीं रखेंगे', इसका मतलब क्या है? इसका इतना ही मतलब है कि आग्रह अपना होता है। किसी तत्त्व का नहीं। विनोबा वेद से एक शब्द देते हैं—'मम सत्यम्।' यह असत्य का दूसरा लक्षण है। जब सत्य 'मेरा' बन जाता है, तब उसका नाम है असत्य। तटस्थता तब आती है, जब अपने संस्कारों को अलग रखा जाता है। अपनी बात को लेकर दूसरे की बात नहीं समझी जा सकती। आग्रह हमेशा अहंकार के साथ जुड़ा होता है। जितनी अहंता होगी, उतना आग्रह होगा। मानव-समाज आज कैसी बौद्धिक और मानसिक अवस्था में पहुँच गया है? विज्ञान के कारण जीवन जितना सम्मिश्र हो गया है और मनुष्य का मन जिस स्तर पर पहुँच गया है, वहाँ इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं कि या तो 'रेजिमेन्टेशन' होगा या अनाग्रह। हर क्षण अपने में अनन्त है। अनन्त कोई काल नहीं हो सकता। ऐसा होगा, तो उसकी अवधि बँध जायगी। क्षितिज को मर्यादित कर दें, तो वह चौहद्दी हो जायगी। क्षितिज कहाँ है? यहाँ से क्षितिज यहीं दिखाई दे रहा है, तो वह यहीं है। हर क्षण अपने में अनन्त है। इमर्सन का एक वाक्य है: 'इटरनिटी इन्स्ट्रक्ट्स दी अवर, एण्ड दी अवर इन्स्ट्रक्ट्स इटरनिटी' (क्षण में अनन्त का संकेत है, और अनंत में क्षण का)। तो यह चीज बाँधने की नहीं, समझने की है।

एक आदमी ने कह दिया कि "आपका पत्र आया, बडा आनन्द हुआ।" पूछा : "क्या वैसा ही आनन्द हुआ, जैसा परीक्षा मे पास होने पर हुआ था ?" उसने कहा : "उस वक्त भी आनन्द हुआ था और अब भी हुआ है। कैसा आनन्द हुआ, यह पूछो मत, समझ लो।" कुछ बाते ऐसी होती है, जो पकड़ लेनी चाहिए। अनाग्रह का मतलब अपने विचार मे जितना अहकार है, उसे बाद देते जायँगे। अपने अहकार मे सफलता की यह आकाक्षा आती है कि यह काम मेरे हाथो होना चाहिए। कहते है, बेटे की शादी मेरे हाथो होनी चाहिए। उसके पीछे पडे है कि "शादी कर लो, शादी कर लो, नही तो मै मर जाऊँगा।" तो क्या फिर शादी नहीं होगी ? लेकिन कहता है, "तब तो मै नही रहूँगा।" तो पूछा कि "फिर तुम्ही शादी क्यो नही करते ?" आप लोग इस पर हँसते हैं, क्योकि ये बेवकूफी की बाते है ! क्रातिकारी भी इतनी बेवकूफी की बाते करता है ! कहता है, "दुनिया मेरे हाथो बदलनी चाहिए।" भाई, तेरे हाथो ही क्यो ? सफलता का आग्रह जितना कम होता है, अनासक्ति के कारण काम मे उतनी ही उत्कटता आती है। हृदय काम के साथ एकरूप होता है। उसमे एकाग्रता आती है, व्यग्रता कम होती जाती है।

भौतिक स्तर

तो, शारीरिक और भौतिक स्तर पर मनुष्य को बनाने की आकाक्षा न रखे। सब मिलकर हर मनुष्य के स्वास्थ्य और आरोग्य के लिए परिस्थिति पैदा करे। लेकिन एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को गढ़ने की आशा करे, यह गलत चीज है। इसका सबध औषधि, उपचार, शल्य-क्रिया इन सबसे नहीं है। इसका संबंध विज्ञान से है। लोग कहते है कि विज्ञान मनुष्य को बनायेगा, तो हम कहते है कि यह चीज गलत है। दूसरे एक अर्थ मे भी गलत है। समझ लीजिये, मुझे हृदय की धड़कन हो गयी। हृदय ठीक से काम नही कर रहा है। बीच-बीच मे रुकता है। एक डॉक्टर कहता है कि "एक दूसरा मनुष्य आज अभी अभी मरा है, उसका हृदय हम आपके शरीर मे लगा देते है।" लगा दीजिये। दूसरी दफा मेरा दिमाग खराब होने लगता है। डॉक्टर कहता है, "दूसरा दिमाग लगा देता हूँ।" 'लीडर' के सपादक सी० वाई० चिन्तामणि के बेटे की खोपडी चाँदी की लगा दी गयी। इसी तरह आज मानव मे दूसरा दिल-दिमाग भी लगा दिया जाता है। लेकिन मै कहता हूँ कि दिल ही लगाना चाहते हैं, तो फिर राणा प्रताप का लगा दें और दिमाग ही लगाना चाहते हैं, तो आइन्स्टाइन का लगा दे। यह अगर हो सकता है, तो ऐसा करनेवाले पहले अपने ही शरीर मे

वह दिल और दिमाग क्यों नहीं लगवा लेते, जिससे उन्हें सन्त का हृदय और प्रतिभाशाली मनुष्य का मस्तिष्क मिल जाय? अर्थात् यह आकांक्षा अपने में अधम आकांक्षा है, उत्तम नहीं। किसीके शरीर के स्वास्थ्य को ठीक कर देना है, वहाँ तक तो ठीक है। लेकिन उसके शरीर पर कब्जा नहीं करना चाहिए। यह हुआ पहला स्तर।

वैज्ञानिक स्तर

दूसरा स्तर, विज्ञान का उपयोग दूसरे की बात समझने के लिए अधिक हो, अपनी बात समझाने के लिए कम हो। आज सारा का सारा 'प्रोपेगैण्डा' (प्रचार) अपनी बात समझाने की कोशिश के लिए है, दूसरे की बात समझने की कोशिश के लिए नहीं। विनोबा कहते हैं: "प्रकाशन चाहिए, प्रसिद्धि नहीं।" प्रकाशन क्या करता है? अपनी बात के साथ दूसरे की बात को भी प्रकाशित करता है। एक चिराग दूसरे चिराग को जलाता है। लेकिन प्रचार अपनी आग जलाता है, पर दूसरे की ज्योति बुझा देता है। वह ठीक नहीं।

हम 'रेजिमेंटेशन' न करें। अपनी बात दूसरों पर न थोपें। अवान्तर साधनों का उपयोग हम दूसरों की बात समझने के लिए करें, अपनी बात समझाने के लिए नहीं। नहीं तो हम एक अहिंसक रेजिमेन्टेशन बनायेंगे, जिसमें शस्त्र और सत्ता नहीं रहेगी। वह राज्य-निरपेक्ष, शस्त्र-निरपेक्ष रेजिमेन्टेशन होगा। वह भी हम नहीं चाहते। उसमें भी हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दूसरे पर कब्जा करना चाहते हैं। सूक्ष्म दबाव के तौर पर आपने उपवास कर दिया या किसी दूसरे ऐसे उपाय का प्रयोग किया, तो देखने में वह अहिंसक ही है, फिर भी वह मनवाने का उपाय है, समझाने का नहीं।

धार्मिक स्तर

तीसरा स्तर धर्म का आता है। धर्म के संबंध में हम क्या करते हैं? दो प्रकार के प्रयोग करते हैं। एक योग-विद्या का और दूसरा सम्मोहन-विद्या का। दोनों में चमत्कार है। आश्रय चमत्कार का है। मराठी भाषा में कहावत है: 'चमत्काराशिवाय नमस्कार नाहीं।'—'चमत्कार के बिना नमस्कार नहीं।' आपके साधुत्व को मानने के लिए कोई तैयार नहीं, या तो आपमें चमत्कार की शक्ति हो या सम्मोहन की शक्ति।

एक पतिव्रता स्त्री अपने पति की सेवा में लगी हुई थी। इतने में एक बहुत बड़ा तपस्वी ब्राह्मण उसके दरवाजे पर अलख जगाता हुआ भिक्षा के

लिए आया। लेकिन वह तो पति-सेवा मे लगी थी, इसलिए भिक्षा देने मे पॉच मिनट देर हो गयी। ब्राह्मण शोला हो गया। वह आयी, तो बेचारे ने ऑखे बन्द कर ली। झोली मे भिक्षा ले ली और ऊपर देखा। पेड पर एक पक्षी बैठा था, वह मर गया। उसने कहा : "देवी, अगर मै आपकी तरफ देखता, तो आपकी भी यही स्थिति होती।" उस तपस्वी ब्राह्मण की ऑख मे इतनी शक्ति थी! दूसरे दिन भी वह भिक्षा लेने आया। भिक्षा देने के बाद उस पतिव्रता स्त्री ने सूरज की तरफ देखा, तो सूरज छिप गया। यह देखते ही तपस्वी ने उसे नमस्कार किया और कहा कि "मै हार गया। आपमे मुझसे ज्यादा शक्ति है!" एक कहता है कि "हमारे पास हाइड्रोजन बम है, तुम्हारा कुछ नही चलेगा।" तो दूसरा कहता है कि "मेरे पास स्पुतनिक है।" तो, वैज्ञानिक आविष्कार का चमत्कार हो या योग-विद्या का, सम्मोहन का चमत्कार हो या तो कुछ मैजिक, हिप्नाटिज्म, विचक्रैफ्ट—जंतर-मंतर—जैसा, या फिर धर्म की सत्ता हो। यह भी 'रेजिमेंटेशन' की ही पद्धति है।

आध्यात्मिक स्तर

अन्त मे हम आते है आध्यात्मिक स्तर पर, जिसे लोगो ने वैचारिक प्रभुत्व (आइडिआलाजिकल डॉमिनेशन) कहा है। सारे विश्व पर मेरा विचार छा जाय। विश्व वैसा ही बने, जैसा कि मै चाहता हूँ। यह तो मेरी ही कल्पना का विश्व बनाना हुआ न? भगवान् प्रसन्न हो गये। वरदान मॉगा। बहुत अच्छा आलीशान मकान हो, बगीचा हो, मोटर हो, ड्राइवर हो, दो रसोइये हो, हर घंटे सामने आकर हाथ जोडकर खडे हो। यह आपकी कल्पना का जगत् हुआ। फिर विनोबा से हम कहेगे कि यहॉ रहने आओ, तो वे कहेगे कि "यहॉ मेरी तो तबीयत ही नही लगती! मुझे जगल मे अच्छा लगता है, वही रहूँगा।" "तो क्या फिर हम आपके पास जगल मे आये?" यहॉ दोनों का झगडा शुरू हो गया। दो नकशे बनाये। अब हरएक अपने-अपने नकशे मे दूसरे को रखना चाहता है। इस तरह अध्यात्म के क्षेत्र मे वैचारिक प्रभुत्ववाद होता है।

जब इस साधना-केन्द्र की बात आयी, तो शकररावजी ने कहा कि जहॉ तक शारीरिक सुविधाओ का सम्बन्ध है, वे सबके लिए समान होगी, सबको प्राप्त हो सकेगी। इसका यह मतलब नहीं कि वे जबरदस्ती सबको प्राप्त करनी ही पडेगी। उपभोग आवश्यक नहीं, सुलभता होनी चाहिए। इस तरह जितनी सुविधाऍ है, सर्वसुलभ होगी, एक हद तक सबके लिए समान होगी। इसके आगे समझौता नहीं होगा। जब हम कहते हैं कि रेजिमेंटेशन नहीं होगा और साथ-साथ यह भी कहते है कि विषमता भी नही होगी, तो 'रेजिमेंटेशन नहीं होगा'

का मतलब होता है, हम दूसरे के शरीर का उपयोग उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं कर सकेंगे। अर्थात् कोई संस्था, समाज या राज्य भी किसी व्यक्ति का उपयोग नहीं करेगा। रेजिमेंटेशन के साथ 'कान्स्क्रिप्शन' भी आता है। 'कान्स्क्रिप्शन' का अर्थ है, जबरदस्ती सिपाही बनाना। युद्ध के समय हम कहते हैं कि हर व्यक्ति को सिपाही बनना ही पड़ेगा। किन्तु हम कहते हैं कि किसी मनुष्य के शरीर का उपयोग उसकी मर्जी के खिलाफ कोई नहीं कर सकेगा। इसकी हद कहाँ होगी ? 'क्रीचर कंफर्ट' याने स्वास्थ्य और शारीरिक उपभोग के लिए जितना काम आवश्यक है, सबके लिए समान होगा। इससे आगे 'कान्स्क्रिप्शन' नहीं।

सामुदायिक पुरुषार्थ आवश्यक

इस दिशा में हम जाना चाहते हैं। हम इस तरह समाज-परिवर्तन करेंगे, इसका मतलब इतना ही है कि हम अपने लिए ऐसी स्थिति, ऐसी भूमिका प्राप्त कर लेंगे। 'हम' कहने पर मैं अकेला नहीं रह जाता, सामाजिक पुरुषार्थ भी आ जाता है। विनोबा कहता है कि सामूहिक मुक्ति और सामूहिक पुरुषार्थ होना चाहिए। एक व्यक्ति परिस्थिति का निर्माण नहीं कर सकता। सबको मिलकर करना चाहिए। सहकर्म, सहपुरुषार्थ और सहवीर्य होना चाहिए। जिस परिस्थिति का निर्माण करना हो, सब मिलकर करेंगे। परिस्थिति सबके लिए है. इसलिए उसमें स्थूल कर्म होना चाहिए, स्थूल पुरुषार्थ होना चाहिए। क्लेश और कष्ट सामुदायिक हैं, संकट सामुदायिक है, इसलिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक होना चाहिए। इसके समझने में कोई दिक्कत नहीं है। जैसे बाढ़ आती है, भूकम्प आता है, शहर में आग लग जाती है—इन सामुदायिक संकटों से बचने के लिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक ही चाहिए।

सामुदायिक पुरुषार्थ हो और रेजिमेंटेशन न हो, इसलिए वह पुरुषार्थ सर्वसम्मत होना चाहिए। नहीं तो जो कम है, उन्हें उनकी बात माननी पड़ेगी, जो कि ज्यादा हैं। इसलिए यह जरूरी है कि सामुदायिक पुरुषार्थ सर्वसम्मति से हो। अल्पसंख्या पर बहुसंख्या की सत्ता न हो। बहुसंख्य अल्पसंख्य को समझायें। समझाने के लिए पहले क्या करें ? बहुसंख्य अल्पसंख्य को समझें। जिस व्यवस्था में समझना और समझाना अधिक-से-अधिक होता है, वही 'लोकतन्त्र' कहलाती है। व्यवस्था होगी, लेकिन वह विचार-विनिमय से होगी। 'व्यवस्था' के दो अर्थ हैं : 'कन्क्लूजन' और 'प्रोविजन'—'निर्णय देना' और 'प्रबन्ध करना'।

२६-१-'६०

क्रान्तियों के पीछे नैतिक भूमिका : २ :

समझाने और मनाने मे अन्तर है। समझाने मे असफल होते है, तो मनाने की ओर मुडते है। मनाने में समझाने की प्रक्रिया को छोड देते है। समझाने मे दूसरे की बुद्धि को समझाते हैं। पर मनाने मे वह आपकी बात को सही समझे या गलत, आप चाहते है कि वह उसे मान ले। विचार जबरदस्ती नही करता। जब आप अपनी बुद्धि के प्रभाव से किसीको वश मे करना चाहते है, तब जबरदस्ती होगी।

गाधी के सत्याग्रह का या अहिंसक प्रतिकार का आरम्भ हुआ, तो दो बाते मानी गयीं—शस्त्र-शक्ति विषम है, बुद्धि की शक्ति अपर्याप्त है। गाधी को अहिंसा की बात अपने-आप आ गयी हो या आसमान से टपक पडी हो, ऐसा नहीं है। किसी पुस्तक मे से भी नहीं आयी। पहले परिस्थिति पैदा हो गयी। परिस्थिति से लगा कि बुद्धि-शक्ति अपर्याप्त है, शस्त्र-शक्ति विषम है, प्रतिकूल है। समझाने से आप नहीं मानते हैं, तो शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता है। शक्ति का प्रयोग अपने मे ही दबाव है। सन् १९२३ मे केस नाम के लेखक की एक किताब निकली थी : 'नान वायलेट कोअर्शन, ए स्टडी इन मेथड्स ऑफ सोशियल प्रेशर।'

समझाने द्वारा मत-परिवर्तन

जब आप समझाने को छोड़ देते हैं और मनाने के प्रयोग पर आते है, तो आपको मानना होगा कि वहॉ आपने एक तरह से जबरदस्ती को प्रोत्साहन दिया। 'यंग इंडिया', 'हरिजन' में गाधी ने समय-समय पर लिखा है कि जहॉ हम समझाने में असफल होते हैं, वहॉ मनाने का प्रयोग कराना पड़ता है। आज हमें इससे आगे जाना होगा। इस दृष्टि से अहिसा मे शुद्ध प्रक्रिया यह होगी कि आप दूसरे का मत-परिवर्तन करे। इस मत-परिवर्तन का मतलब अपने संप्रदाय मे दाखिल करना नहीं है। मत-परिवर्तन समझाने से होता है।

पहले हम कहते हैं कि समझेंगे और समझते-समझते समझायेंगे। हमे किसी

विचार के चौखटे में नहीं रहना चाहिए। हमारी मर्यादा क्या है, यह हम समझ ले। 'मुझे श्रमजीवी होना चाहिए', यह एक विचार मेरे मन में आया, तो मेरा मत-परिवर्तन हो गया, लेकिन इतने से मैं श्रमजीवी नहीं बन गया। हाँ, अन्तर्विरोध हो गया। श्रमजीवी नहीं हूँ, श्रमजीवी होना चाहिए, इस प्रकार जीवन में एक अन्तर्विरोध पैदा हो गया। लेकिन मान लीजिये कि लडका खेल रहा है, दौडते-दौड़ते अँगीठी के पास चला गया। उसे रोकना चाहिए। आप दौड गये। यहाँ आप उस बच्चे पर अपनी बात लादते नहीं है। जब आपमें प्रेम होता है, तो बीच में विचार का पर्दा नहीं आता। यह चीज मेरे, आपके सबके काम की है। आज सभी विचारवान् यही बात कह रहे है। विनोबा कहता है, मन के ऊपर उठना चाहिए। अरविन्द कहते हैं, अति-मानस होना चाहिए। कृष्णमूर्ति भी मन को शान्त करने की बात कहते है। रमण महर्षि भी कह रहे है कि मन से आगे जाना चाहिए।

मन से ऊपर उठने का प्रश्न

आज मस्तिष्क के नियन्त्रण की कोशिश हो रही है। इसके कितने ही उपाय है। हम फुसलाते भी हैं। कहते है, 'इन्टेलेक्च्युअल' (बौद्धिक) चकमा दिया। वह चकमेबाज आदमी है, होशियार आदमी है। गुरु के प्रति श्रद्धा में भी एक तरह का धार्मिक 'रेजिमेंटेशन' होता है। एक मनुष्य के मन पर दूसरा मनुष्य कब्जा करने की कोशिश करता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य मस्तिष्क के स्तर पर रहेगा, तो उसका कोई गुजारा नहीं है। विज्ञान ने ऐसी वस्तुस्थिति पैदा कर दी है कि मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता के लिए मस्तिष्क-नियन्त्रण से आगे जाना होगा। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के मस्तिष्क का नियन्त्रण करना चाहता है, हर मनुष्य दूसरे के मन का विधाता बनना चाहता है, इसमें से कैसे बचें, यह सवाल है। इसके लिए मनुष्य को मन के स्तर से आगे जाना होगा।

दूसरा उदाहरण लीजिये। इधर कुछ वर्षों में जिन लोगो ने विचारकों और साहित्यिकों के मन पर बडा प्रभाव डाला है, ऐसे मानसशास्त्रियो में फ्राइड एक है। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि मनुष्य जो कुछ करता है और जो उसकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उनमें काम-भावना प्रधान है। मनुष्य के बहुत से व्यवहारों में 'लिबिडो', 'काम-भावना', प्रधान है। इसमें वह इस हद तक गया है कि पैदा होते ही बच्चा माँ का दूध पीता है, यह भी एक काम-भावना का ही आविष्कार है। साथ ही हर लडके मे अपने बाप के लिए ईर्ष्या की, मत्सर की भावना होती है, क्योंकि माँ स्त्री है। इस तरह का एक विचार उसका

चला। ऐसे आदमी से कोई कहे कि तुम ईसा पर, हनुमान्‌जी पर, स्वामी रामदास पर, गाधी पर याने दुनिया के ब्रह्मचर्यनिष्ठ लोगों पर एक किताब लिखो, तो वह सबका 'साइको-एनालेसिस' (मानस-विश्लेषण) करेगा।

अब सवाल यह है कि फ्राइड के मन का विश्लेषण हो सकता है या नहीं? मनुष्य के मन का विश्लेषण का शास्त्र अपूर्ण रहा है। अन्त मे एक मनुष्य ही तो करेगा दूसरे मनुष्य का विश्लेषण। हम कह चुके है कि हर व्यक्ति अपने मे एक विभूति है। विभूति का मतलब है, जिसे आप पूरी तरह से समझ नही पाते। मनुष्य को मत तौलिये। उसको तौलना या परखना ठीक नहीं। उसे समझिये।

फ्राइड के बाद विचार करनेवाले जो लोग आये, उनमे से एक है ॲलेक्सिस कॅरेल। इन्होने 'मैन दी अन्‌नोन' किताब लिखी है। मनुष्य अब तक अज्ञात है, ज्ञात नहीं। आजकल एरिक फ्रॉम की किताबे चल पड़ी है। 'सेन सोसाइटी' मे फ्राइड का जवाब देने की कोशिश की है और बताया है कि फ्राइड ने जो बाते कही है, वे कहाँ गलत है।

तो प्रश्न यह है कि हम विज्ञान के युग मे यह क्यो कहते है कि मनुष्य को मन से परे जाना होगा? ईश्वर के दर्शन के लिए, आत्म-साक्षात्कार के लिए? यह कोई आध्यात्मिक आवश्यकता नही है। विज्ञान के जमाने मे मनुष्य मनुष्य पर कब्जा करना चाहता है। हर बात का अपना एक मानस होता है। जैसे युद्ध का मानस, शस्त्र का मानस, सपत्ति या वैभव का मानस। आज यह भी कहते है कि टेक्नॉलॉजी ने, यत्रों और उपकरणो ने भी मनुष्य का एक मानस बना दिया है, जिसे 'आटोमेशन' कहते हैं। ऐसे भी यन्त्र है, जो स्वतन्त्र है, मनुष्य-निरपेक्ष है। ये भी एक मानस पैदा करते है। हर तरह से मनुष्य का मानस बनाने की कोशिश होती है। तो मनुष्य की स्वतन्त्रता कब रहेगी? जब वह मन के ऊपर उठेगा। मनोव्यापार से ऊपर उठेगा, तब।

मन के बारे मे माना जाता है कि 'फीलिग एण्ड विलिंग' मन करता है और 'नोईंग' बुद्धि करती है। मन और बुद्धि अलग-अलग कर दी। सकल्प-विकल्प मन करता है। निर्णय-शक्ति बुद्धि की मानी जाती है।

इन सब बातो का आशय एक ही है कि आज मनुष्य एक ऐसे मुकाम पर आ गया है कि मनुष्य को मन के परे जाना होगा।

युग का अन्तर्विरोध

'कान्फ्लिक्ट' (सघर्ष) किस बात को लेकर है? 'कान्फ्लिक्ट' है आइडियालॉजी का, विचारधारा का। संघर्ष अब पुराने स्तर पर नहीं रहा। इस

देश पर मेरा राज होगा या आपका, यह संघर्ष अब पुराना हो गया है। दूसरे महायुद्ध के बाद किसका राज्य कहाँ होगा, इसकी अपेक्षा इस बात पर जोर है कि किसका विचार विजयी होगा, किस मतवाद का प्रभुत्व होगा? मतवाद का प्रभुत्व मनुष्य के मन पर ही हो सकता है। मतवाद का प्रभुत्व शरीर पर नहीं रह सकता। अब दोनों आ गये: एक 'मेंटल रेजिमेंटेशन' और दूसरा 'ब्रेन वॉशिंग'। आज तक आपके दिमाग में जो कूड़ा-कर्कट भरा हो, उसे धो डालो। ऐसी दो प्रक्रियाएँ चलेंगी। इनसे परे जाना आवश्यक है। वस्तुस्थिति ऐसी है कि अगर आप आध्यात्मिक क्षेत्र में इससे परे नहीं जायेंगे, तो भौतिक क्षेत्र में कभी जा ही नहीं सकेंगे; क्योंकि यह तो माना ही गया है कि भौतिक क्षेत्र में धमका-डराकर करा ही लेना चाहिए, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य को समझाना चाहिए। लेकिन वहाँ भी डरा-धमकाकर मनवा लेते हैं। जिस क्षेत्र में मनुष्य का चित्त मुक्त हो सकता है, उस क्षेत्र में भी मनोनियंत्रण होता है, वहाँ से भी मनोनियत्रण का अन्त होना चाहिए। अगर यह नहीं होगा, तो मनुष्य की स्वतन्त्रता का नाश होगा। हर मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है। यह इस युग का एक 'कन्ट्राडिक्शन' (अन्तर्विरोध) है।

समाजवाद का जन्म

समाजवाद मनुष्य के हृदय को क्यों पकड़ता है, यह सोचने की बात है। समाजवाद का आरम्भ मजदूरों ने नहीं किया। असल में समाजवाद की आवश्यकता मजदूरों को थी, लेकिन समाजवाद का उद्‌गम वहाँ से नहीं हुआ। समाजवाद का आरम्भ जिन्होंने किया, वे 'यूटोपियन', 'ध्येयवादी' थे। उन्होंने जो 'यूटोपिया' लिखा, उसमें अपने आदर्श समाज की तसवीर सामने रखी। इनमें से कुछ मार्क्स से भी ज्यादा व्यावहारिक थे। उनकी भावना प्रत्यक्ष प्रयोग में आयी। भावना का जीवन में अनुवर्तन हुआ। असल में वे 'प्रैक्टिकल सोशियालिस्ट' (व्यावहारिक समाजवादी) थे। उन्होंने प्रयोग किये। उनसे अपना नहीं, दूसरे का दुःख नहीं देखा गया। बाबर से हुमायूँ का दुःख नहीं देखा जाता, राम से लक्ष्मण का दु:ख नहीं देखा जाता। अब इससे आगे हम चलते हैं। कृष्ण से सुदामा का दुःख नहीं देखा जाता। विनोबा ने इसे 'करुणा' कहा है।

समाज में जिन नैतिक भावनाओं से परिवर्तन हुआ है, उन सबके मूल में करुणा है। इसलिए समाजवाद की मूल प्रेरणा करुणा है। समाजवाद की किसी भी रचना को परखने की कसौटी यही है कि सहानुभूति और

करुणा उसमे कितनी है। मार्क्सवादियों ने करुणा और सहानुभूति की जगह द्वेप और मत्सर को रखा। ये उदात्त प्रेरणाऍ नही हुई। समाजवाद की जो मूल प्रेरणा थी, उस मूल प्रेरणा को हम वदल देते है, तो भावनात्मक प्रेरणा की जगह विकारात्मक प्रेरणा आ जाती है। यह एक कसौटी है। एक व्यक्ति ने लेनिन से सवाल किया कि "आखिर सब लोग तेरे साथ थे, तो अब तुझे जवरदस्ती क्यो करनी पड़ रही है? तुझे 'डिक्टेटरशिप' क्यो चाहिए? ये सारे-के-सारे किसान तेरी क्राति मे तो शामिल थे, उनके साथ अव जवरदस्ती क्यो करनी पड़ती है?" तो उसने कहा कि "मेरी क्राति मे जो शामिल हुए, वे सब समाजवादी थोड़े ही थे? वे अपने स्वार्थ के लिए शामिल हुए थे।"

यहॉ समाजवाद का एक और सिद्धान्त आता है—जो दूसरा 'कन्ट्राडिक्शन' (अन्तर्विरोध) है—भूमिका (रोल) और उद्देश्य (मोटिव्ह) का। गरीव को क्रान्ति चाहिए, इसलिए उसे क्रान्ति मे प्रधान भूमिका प्राप्त होती है। उस क्रान्ति मे मजदूरो का प्रधान 'रोल' था। यह फर्क हमे अवश्य करना चाहिए कि क्रान्ति मे शामिल होनेवाले सभी क्रान्तिकारी नहीं होते। क्रान्ति के प्रवर्तक क्रान्तिकारी होते है। गाधी के साथी सब अहिंसक नही थे। प्रेरक अहिसक था। अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन स्पृश्यों ने किया। विधवा-विवाह का आन्दोलन पुरुषो ने शुरू किया। इस तरह समाजवाद का आन्दोलन शुरू किया उन लोगों ने, जो स्वयं श्रमिक नही थे। उसकी मूल प्रेरणा है करुणा और सहानुभूति। इस करुणा और सहानुभूति का विकास कितना हुआ, यह कसौटी होनी चाहिए। इसलाम का मुख्य लक्षण क्या है? इसलाम शब्द का अर्थ 'शान्ति' है। लेकिन 'बन्धुत्व' उसकी विशेपता मानी जाती है। अव इसलाम को अगर परखना हो, तो कैसे परखेगे? इसीसे कि शाति और वन्धुत्व, इन दो गुणो का उसमे कितना विकास हुआ है?

करुणा ही एकमात्र कसौटी

इसी तरह हम सोचें कि समाजवाद और कम्युनिज्म की कसौटी क्या होगी? समानता की परिस्थिति कहॉ तक आयी, सिर्फ इतना ही इसके लिए काफी नही है। देखना यह है कि समानता की भावना, प्रेरणा का विकास कितना हुआ है? विपत्ति मे और युद्ध मे जो एकता होती है, वह सापेक्ष एकता है। वह वास्तविक एकता नहीं है। सकट और युद्ध मे एकता होती ही है। कुछ लोगों का अनुभव है और एक ऐसी मशहूर मिसाल भी है कि बाढ में मनुष्य और सॉप एक ही लट्ठे पर चले जाते है। मनुष्य सॉप को मारना नही चाहता और सॉप

उसे काटना नहीं चाहता, क्योंकि दोनों का दिल लगा हुआ है बचने की तरफ। संकट और युद्ध की परिस्थितियाँ एकता की परख की परिस्थितियाँ नहीं हैं। प्रश्न यह है कि जब संकट न हो और युद्ध न हो, ऐसे समय एकता की भावना का कितना विकास हुआ? छावनी की 'सालिडेरिटी' (एकता) अलग चीज है। एकता छावनी की नहीं है, वह समुदाय की है।

इस एकता की भावना का कितना विकास हुआ है, इसे हम समाजवाद की कसौटी समझते हैं। रूस और चीन में कम-से-कम आपस में सहानुभूति का विकास होना चाहिए। मुसलमानों में कम-से-कम आपस में बन्धुत्व का विकास होना चाहिए। पर दोनों जगह होता क्या है? रूस और चीन में सत्ताधारियों को अपने साथियों की हत्या करनी पड़ती है और पाकिस्तान में डिक्टेटरशिप की जरूरत पड़ती है। कम्युनिस्टों में ऊपर-ऊपर से एकता दीखती है। गरीब लोगों के मन में यह भावना है कि ये बड़े निर्दय हैं, लेकिन हमारे लिए सब कुछ करेंगे। उनके प्रति यह भावना नहीं है कि वे करुणावान् हैं।

क्रान्तियों के पीछे नैतिक प्रेरणा

समाज में आज तक जितनी क्रान्तिकारी चेष्टाएँ हुईं, उनके पीछे मानवीय और नैतिक प्रेरणाएँ थीं। यह हमारे लिए बहुत बड़ा आशा का विषय है। गुलामी की प्रथा के निर्मूलन की प्रेरणा ले लीजिये। इसका निर्मूलन करने की आवाज उन्होंने उठायी, जो स्वयं गुलाम नहीं थे। विलियम पेन, जॉर्ज फॉक्स, लिंकन गैरिसन, विल्बरफोर्स ऐसे जितने लोग थे, वे खुद गुलाम नहीं थे। सबके चित्तों को दहला देनेवाली किताब भी जिस स्त्री ने लिखी, वह भी गुलाम नहीं थी—हैरियट स्टो। इस स्त्री ने जो किताब लिखी, वह करुणा से लिखी। इस दास-प्रथा के विरुद्ध जिन लोगों ने आन्दोलन किया, वे स्वयं दास नहीं थे। हमें यह आशंका मन से निकाल देनी चाहिए कि जहाँ स्वार्थ नहीं है, वहाँ क्रान्ति की प्रेरणा नहीं है। आज तक जितने भी क्रान्तियों के आन्दोलन चले, उनके पीछे जो लोग थे, वे करुणावान् थे। मानवीय सहानुभूति की प्रेरणा उनके मन में थी। उनके साथ ऐसे भी कुछ लोग थे, जो क्रान्ति में अपना स्वार्थ देखते थे।

माओ के साथ बहुत से ऐसे भी सिपाही थे, जो क्रान्ति में अपना स्वार्थ देखते थे। लेकिन पेट के लिए जो सिपाही बने थे, वे च्यांग के सिपाही थे। च्यांग का राज गया और माओ के हाथ आया। दोनों के हाथ में हथियार है। लेकिन फर्क क्या है? माओ के सिपाही समझते हैं कि हमारा स्वार्थ क्रांति

के साथ जुडा हुआ है। च्याग के सिपाही समझते है कि हमारा स्वार्थ च्याग के साथ नहीं है। परिणाम मे च्याग के सिपाहियों ने अमेरिका के हथियार माओ के सिपाहियो के हाथ वेच दिये। अन्त मे अमेरिका के सिपाहियो की गर्दन उन्हीके हथियार से काटी गयी। कोरिया मे माओ की सेना अमेरिका के हथियारों से लडी।

२६-१-'६०
प्रातः

अन्तर्विरोध के चार प्रकार : २ :

अब हम इस युग के अन्तर्विरोधों पर विचार करेंगे।

कन्ट्राडिक्शन (द्वंद्व) और कॉन्फ्लिक्ट (संघर्ष); इसमें दो विचार हैं। एक विचार यह है कि द्वन्द्व एक बला है। द्वन्द्व अपने में जीवन का विरोधी है। जीवन मे द्वन्द्व विनाशकारी है। नम्रता के सिलसिले में उन्होंने एक बात और कही थी। नम्र मनुष्य जब समस्या का मुकाबला करता है, तो कुछ हिचक के साथ करता है। नम्रता मे चुनौती नहीं होती। जैसा आज हम मानते हैं कि कहीं दंगा हो गया, तो वह हमारी अहिंसा के लिए चुनौती है। चीन का अतिक्रमण हुआ, तो हम कहते है, यह अहिंसा के लिए चुनौती है। दुनिया मे कोई भी समस्या खड़ी हो जाती है, तो कहते है कि हमारे लिए चुनौती है। हर समस्या चुनौती है। यह तो दंड-बैठक की कसरत करना ही हो गया! सारे जीवन का समरांगण बन जाता है।

विभिन्न दृष्टिकोण

लॉगफेलो ने 'साम ऑफ लाइफ' में कहा है कि ससार विशाल समर-भूमि है और जीवन एक छावनी है; इसमें भेड़-बकरी मत बनो, वीर पुरुष बनो। जीवन की तरफ देखने का यह एक तरीका हुआ। इसे हम वीर पुरुष का तरीका, योद्धा का तरीका कहते हैं। सारा जीवन उसके लिए एक समर-भूमि है। बच्चे के लिए वह क्रीड़ा-भूमि है, क्रीड़ांगण है। श्रीमद्भागवत में भगवान् कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन है। गोकुल गोपाल-कृष्ण की क्रीड़ा-भूमि है। वीर पुरुष के लिए यह भूमि समर-भूमि, बाल-वृत्तिवाले मनुष्य के लिए क्रीड़ा-भूमि और धार्मिक मनुष्य के लिए यज्ञ-भूमि हो जाती है। इसे द्वंद्व कहते हैं। यह हमारी वृत्ति को और मन को परिमित कर देता है, उसकी हद बॉध देता है। एक ने कहा यह सारा विश्व मेरे लिए समर-भूमि है, दूसरे ने कहा व्रज-भूमि या लीला-भूमि है और तीसरे ने कहा यज्ञ-भूमि है। ये विभिन्न दृष्टिकोण है। जीवन मे हमने अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुरूप बहुत से प्रवेश-द्वार बना लिये है। यह नहीं होना चाहिए। हम अपनी वृत्ति, अपनी

भूमिका से संसार को सीमित न करें। हमारी अपनी जो मनोवृत्ति, भूमिका या आकांक्षा है, उससे दुनिया को हमे सीमित नहीं करना चाहिए।

हम किसी विचार, मनोवृत्ति या दृष्टिकोण को लेकर एकत्र हो जाते हैं। इससे एक पन्थ, एक पक्ष बन जाता है। एकत्र होने के जो आधार होते है, वे अपनी भूमिका को लेकर होते है। इससे प्रभुत्ववाद आ जाता है। इसके दो रूप हे। एक चीज आध्यात्मिक रहती है, दूसरी चीज भौतिक। भौतिकता का प्रतिनिधि है सिकंदर। सिकंदर ने कहा, सारी दुनिया मेरे पेट मे होगी। मैं दुनिया के साथ एकरूप हो जाऊँगा। लेकिन इस तरह एकरूप होऊँगा कि सारी दुनिया मेरे पेट मे हो। शेर ने कहा कि भेड और मैं एक हूँ। भेड कहाँ है ? वह मेरे पेट मे है ! अब मुझमे और भेड मे कोई फर्क नही रहा। इसे हम 'साम्राज्यवाद' कहते है। कोई आदमी सारी दुनिया को एक बनाना चाहता है। लेकिन उसका एकत्व ऐसा है कि मैं ही रहूँगा और मुझमे ही सारी दुनिया रहेगी।

परकाया-प्रवेश

दूसरा आध्यात्मिक मानस है। वह कहता है, मैं परकाया-प्रवेश करूँगा। आध्यात्मिकता मे परकाया-प्रवेश को 'ऑकल्ट पॉवर' या अतीन्द्रिय शक्ति कहते है। एनी बेसेंट के बारे मे कहते हैं कि वे रात को अपने शरीर को छोडकर महात्माओ से मिलने चली जाती थीं। वे जाती थी या नही, मुझे मालूम नहीं। अहमदाबाद मे एक सज्जन कहते थे कि हम परलोक के व्यक्ति से मिल सकते है। इंदौर में भी एक सज्जन थे। वे और बंगाल के 'अमृत बाजार पत्रिका' के संस्थापक शिशिरकुमार घोष कहते थे कि हम परलोक के लोगो के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। 'स्पिरिच्युआलिज्म' का एक अर्थ है—मृतात्माओ से सम्बन्ध स्थापित करने की विद्या। इस विषय की एक पत्रिका निकलती थी। उसमे मृतात्माओं से सम्बन्ध स्थापित करने के बारे मे ही सारा विवेचन रहता था। रामदास गौड कहते थे कि पेड के हर पत्ते पर भूत ही भूत दिखाई देता है।

एक मित्र मुझे बार-बार कहते थे कि "एक साधु पास बैठते ही यह जान लेता है कि तुम्हारे मन में क्या चल रहा है। तुम उसके पास चलो।" मैंने कहा : "तब तो मैं नही चलूँगा। अगर उनके पास बैठने से मेरे मन मे जो चलता है, वह बदल जाता है तो ठीक है; नही तो फिर मुश्किल होगी, क्योकि उनके सामने बैठकर कहीं मैं उन्हें मन मे गालियाँ देने लगूँ, तो वे समझ

जायँगे तब ?" लेकिन अनुभव ऐसा हुआ कि जब मैं ऐसी जगह जाकर बैठा, तो भगवान् की कृपा से इस बात का उन्हें पता नहीं चला कि मेरे मन में क्या चलता था।

'तुम्हारे दिल में क्या चल रहा है, इसे मैं जानूँ'—यह जो शक्ति है, इसे 'परकाया-प्रवेश'-शक्ति कहते हैं। यह शक्ति मिल जाने पर इस वक्त अमेरिका में बैठकर आइसनहावर क्या सोच रहा है, मास्को में बैठकर ख्रुश्चेव क्या सोच रहा है, यह जान लेने के लिए फिर किसी जासूस की जरूरत नहीं रह जायगी। ये बातें मनुष्य के स्वत्व को विचलित कर देती हैं। यह आध्यात्मिक प्रभुत्ववाद है। सिकंदर, कैसर, हिटलर या इंग्लैण्ड के साम्राज्यवाद की तरह यह भी एक आध्यात्मिक, एकच्छत्र साम्राज्यवाद है, जिसे 'ऑकल्ट पॉवर' कहते हैं। इसलिए कुछ लोगों ने इस युग का नाम रखा है 'ॲपॉकॅलिप्टिसिज्म' का युग। 'ॲपॉ-कॅलिप्टिसिज्म' का अर्थ है इल्हाम। इल्हाम याने हृदय में ईश्वर की प्रेरणा होना। अति-मानवीय प्रेरणा को 'इल्हाम' या 'रिव्हिलेशन' कहते हैं। तो, यह 'रिव्हिलेशन' का युग है। भौतिक 'रिव्हिलेशन' का नाम हमने 'विज्ञान' रखा है और आध्यात्मिक 'रिव्हिलेशन' को हम 'चमत्कार' कहते हैं। हैं दोनों चमत्कार ही। दोनों जगह आविष्कार हैं और ऐसे आविष्कार, जो अब मनुष्य की बुद्धि से परे हैं।

अभी तक अध्यात्म साधारण मनुष्य की बुद्धि से परे और विज्ञान प्रत्यक्ष और इंद्रियगम्य माना जाता था। लेकिन एटम ? क्या कोई कह सकता है कि वह अणु देख सकता है ? अगर अणु दिखाई दे, तो वह अणु नहीं रह जायगा। एटम में मास (पदार्थ) और एनर्जी (ऊर्जा) दोनों हैं। लेकिन ऊर्जा दिखाई दी किसीको ? सारे विज्ञान का जो गणित है, वह अब अन्त में जाकर आनुमानिक पदार्थों पर विश्वास रखता है। यह वैज्ञानिक इल्हाम, पहले जैसे अध्यात्म ऋषियों तक ही सीमित था, वैसे यह विज्ञानियों तक ही सीमित है। इसका नतीजा यह होगा कि जहाँ यन्त्रशास्त्र बढ़ जायगा, वहाँ विशेषज्ञों का सहकार होगा, सामान्य लोगों का नहीं। मान लीजिये कि आपने मुझे किसी सन्त के पास बिठा दिया। आप पूछते हैं कि "कैसा दिखता है ?" मैं कहूँगा कि "मैंने पागलखाने में ऐसा ही एक मनुष्य देखा है। उसमें और इसमें कोई फर्क नहीं दीखता मुझे।" तो आप कहेंगे कि सन्त को पहचानने के लिए सन्त चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्र में जैसे एक पहुँचा पुरुष दूसरे पहुँचे पुरुष को पहचानता है, वैसे ही इस विज्ञान में आगे चलकर पहुँचे हुए वैज्ञानिकों का सहयोग होगा।

इलहाम का युग

आज का युग इलहाम का है। विज्ञान का परिणाम सर्वसुलभ है, उसके आविष्कार सर्वसुलभ नही हैं। यह अन्तर्विरोध है। विज्ञान कोई सर्वसुलभ वस्तु नही है, लेकिन भ्रम यह है कि विज्ञान सर्वसुलभ है। विज्ञान के परिणाम सर्वसुलभ है, सो भी एक हद तक। हवाई जहाज चलाना सर्वसुलभ नहीं है। हवाई जहाज मे बैठना सर्वसुलभ है। मोटर और ट्रेन चलाना सर्वसुलभ नही है, ट्रेन और मोटर मे बैठना सर्वसुलभ है। लेकिन हाथी, घोडे या ऊँट को चलाना भी सर्वसुलभ है। यहाँ अन्तर आ गया। जीवन के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं है। विज्ञान ने भोग सर्वसुलभ कर दिये, लेकिन उसने व्यक्ति के लिए जीवन मे प्रत्यक्ष सक्रिय भाग लेना पहले की अपेक्षा आज अधिक मुश्किल कर दिया है। अब आप दर्शक और उपभोक्ता हैं, जीवन के विधाता नही। जीवन में आपकी सक्रिय भूमिका नही होती। यह विज्ञान के युग का अन्तर्विरोध है।

दर्शक किसे कहते है ? वह, जो दूसरे की मार्फत उपभोग करता है। हमारे सब गात्र शिथिल हो गये है, हमारी भोगशक्ति क्षीण हो गयी है, लेकिन हम नाच रहे है। "क्यो ?" "बेटे की शादी है।" "तो फिर तुम क्यो नाच रहे हो ?" इसलिए कि बाप बेटे के जरिये उपभोग करता है। जैसे ब्राह्मण द्वारा यज्ञ होता है, वैसे ही हम दूसरों के द्वारा उपभोग करते हैं। रेडियो सुन रहे है। जसू पटेल ने सेंच्युरी बना दी, तो नाच उठे। क्यो ? क्योकि उसके जरिये हम उपभोग कर रहे है। यह है दूसरे की मार्फत उपभोग—'लाइफ एट सेकेंड हैंड !'

तीन भूमिकाएँ

तो, तीन भूमिकाएँ हुईं—निर्माता, उपभोक्ता और केवल दर्शक। वैसे तो भगवद्गीता मे आत्मा के लिए शब्द आया है—उपद्रष्टा-अनुमन्ता। उपद्रष्टा याने जो तमाशा देखता है, लेकिन वह सिर्फ तमाशा ही नहीं देखता। वह उसके साथ-साथ अनुमन्ता भी है। उसका दिल भी जाता है। हजारे ने एक अच्छा सिक्सर मार दिया, तो यह क्यों खुश हो रहा है ? उसके साथ इसका दिल जाता है। प्रश्न है कि इन भूमिकाओं मे से मुख्य भूमिका कौन-सी होनी चाहिए ? पहली भूमिका निर्माता की होनी चाहिए, दूसरी उपभोक्ता की और तीसरी दर्शक की। इसमें से निर्माता की भूमिका दिन-दिन परिमित होती जा रही है। इसलिए हमने यह कहा कि आज के युग मे यह अन्तर्विरोध है।

दूसरा कहता है कि यह 'ज्यूक-बॉक्स' का युग है। बाजीगर से पूछो कि उसके पिटारे में क्या है ? तो वह कहता है कि इसमे दुनियाभर की चीजे हैं।

'आम भी है इसमें ?' पूछो तो वह कहेगा आम ही क्यों, इसमें से मैं आम का पेड़ भी निकाल दे सकता हूँ। यह भानमती के पिटारे का युग है। विज्ञान किस वक्त क्या चीज निकालकर देगा, यह कोई बता नहीं सकता। आविष्कार का इल्हाम होता है और यहाँ विज्ञान आपके लिए एक बाजीगर की तरह कई तरह की चीजें रखता है। अब इल्हाम और 'जादू की पिटारी' में से अन्तर्विरोध पैदा होता है। 'ज्यूक बॉक्स' क्या है ? उसका धर्म क्या है ? आप जो चीज चाहते हैं, वह आपको बगैर मेहनत के मिल जायगी। 'ज्यूक बॉक्स' इसके सिवा क्या करता है ? आपने कहा कि हमारा बेटा मर गया है, उसकी आवाज सुना दो। वह उसकी आवाज सुना देता है। आप खुश हो जाते हैं। आपकी अँगूठी गुम हो गयी। बाजीगर से पूछा, "बताओ, वह कहाँ है ?" वह कहता है, अमुक-अमुक आदमी के मकान में है। अब आपको कोई मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। यह हुआ ज्यूक बॉक्स। आविष्कार आईन्स्टाईन का है, लेकिन उसके ठेकेदार हैं आइसनहावर और क्रुश्चेव। इनके पास आणविक शस्त्र हैं। आविष्कार आईन्स्टाईन ने किया, लेकिन आइसनहावर और क्रुश्चेव जैसे लोग उसका पिटारा छीन लेते हैं। पश्चिम में विज्ञान की प्रगति हुई है, लेकिन पश्चिम का मनुष्य वैज्ञानिक नहीं है।

यन्त्र के लिए अधिक बुद्धि आवश्यक

पहले हम देख चुके हैं कि मजदूर लेनिन की क्रान्ति में शामिल हुए, लेकिन मजदूर समाजवादी नहीं बने। यन्त्र का गुण है कि यन्त्र के संचालन के लिए अधिक बुद्धि की आवश्यकता होती है। बैलगाड़ी चलानेवाले से मोटर चलानेवाले में ज्यादा अक्ल चाहिए। इसीलिए बैलगाड़ी में आप बैठते हैं, तो गाड़ीवाले से कहते हैं : "ए गाड़ीवाले, गाड़ी अच्छी तरह चला।" बस में बैठते हैं, तो कहते हैं : "ड्राइवर साहब !" यह ड्राइवर 'साहब' कहाँ से आ गया ? इसका कारण यह है कि बैलगाड़ी आप भी चला सकते हैं। बैलगाड़ी चलानेवाला नाराज होकर उतर जाय, तो भी गाड़ी ठप नहीं हो जाती, आप उसे चला सकते हैं। लेकिन यह बस ड्राइवर उतर जाय, तो वह बस आपके बस की नहीं। समाजवादी कहता है, विज्ञान-युग सांस्कृतिक प्रगति में है। दो चीजों को अलग-अलग समझ लेना चाहिए। उपभोग के साधन बहुत हो गये, इसलिए प्रगति हुई, यह कहना अलग चीज है।

भोग की बहुत-सी चीजें मिल गयी हैं, इससे क्या समाज की उन्नति हुई ? उसका दावा यह है कि यन्त्र चलाने के लिए मनुष्य की बौद्धिक भूमिका उन्नत

चाहिए। मैकेनिस्ट की तो बात ही क्या, शोफर या ड्राइवर होने के लिए भी बैलगाडीवाले से ज्यादा ज्ञान रखना पडता है। गाड़ीवान, पीलवान, साईस और सॉडणीसवार इन सबमे विशेष निपुणता है, लेकिन यन्त्र में जो विशेष निपुणता है, उसमे बुद्धि की अधिक आवश्यकता है।

अब अन्तर्विरोध कहाँ आता है? यन्त्र जितना अधिक कुशल होगा, उसके निर्माता मे उतनी ही अधिक बुद्धि की आवश्यकता होगी। इसलिए यन्त्र आगे चलकर विशेषज्ञों तक ही सीमित हो जायगा। आटोमेशन (स्वतःचालन) अलग चीज है। मनुष्य जिस यन्त्र को चलाता है, वह जितना कुशल और सक्षम होता जायगा, उतनी दुनिया मे टेक्नॉक्रेसी (यत्रविदो की सत्ता) आयेगी। केवल व्यवस्थावाद नहीं है, यहाँ यह 'यान्त्रिको का राज्य' है।

शोध और निर्माण

वैज्ञानिक को इल्हाम होता है। इल्हाम दो तरह के है—'डिस्कव्हरी' (शोध) और 'इन्व्हेन्शन' (निर्माण)। चन्द्र मे और सूर्य मे कितना अन्तर है? गणित करके आपने बतला दिया। अन्तर को आपने बनाया तो नहीं, उसे आपने खोजा। सृष्टि के नियमो का शोध किया। एटम, ईथर, मास, एनर्जी का शोध किया, इसलिए ये सब 'डिस्कव्हरी' है, स्पुतनिक 'इन्व्हेन्शन' है। चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए आपने एक साधन बनाया, वह 'इन्व्हेन्शन' (निर्माण) है। यह 'इन्व्हेन्शन' आप किन उपकरणो से करेगे? उन उपकरणों से जो अधिक सूक्ष्म होते चले जायेगे। उपकरण जितने सूक्ष्म होगे, उतने ही वे कम सुलभ होगे। इसलिए वहाँ चलकर टेक्नॉक्रॅट (यंत्रकोविद) की सत्ता आ जायगी।

निर्माण और उपभोग

आध्यात्मिक क्षेत्र मे अतीन्द्रिय शक्ति की सत्ता आयी और यहाँ टेक्नॉक्रॅट की सत्ता। इस युग मे 'ज्यूक बॉक्स' एक अन्तर्विरोध है। यह उपभोग की चीजे बिखेर देता है, लेकिन चीजे बनाने की शक्ति या कौशल वह नही बॉटता। मान ले कि आप साक्षीविनायक गली में अपने छोटे भाई को लेकर गये। वहाँ वह देखता है कि हर दूकान मे खिलौने ही खिलौने है। तो वह कहता है कि साक्षीविनायक गली जैसी गली दुनिया मे और कही नही है। इस गली मे खिलौने मिल सकते हैं, लेकिन खिलौने बनाने की युक्ति नही मिल सकती। इस तरह से निर्माण की शक्ति क्षीण होती चली जाती है और उपभोग की

सुविधा बढ़ती चली जाती है। कम्युनिस्ट या अमेरिका का आदमी यह कहता है कि सांस्कृतिक विकास हुआ है क्योंकि यन्त्र के संचालन के लिए ज्यादा अक्ल की आवश्यकता है। यन्त्र के संचालन के लिए ज्यादा अक्ल की आवश्यकता है, यह हम जानते हैं, लेकिन क्या उस यन्त्र को ज्यादा आदमी चलायेंगे ? तो जवाब मिलता है कि नहीं, उसे कम-से-कम आदमी चलायेंगे। तो फिर इससे फायदा ? वीणा या तानपूरे को ले लीजिये। इसका तार छेड़ने के लिए उँगली में कोमलता चाहिए। तार को मुक्का मारने से क्या मधुर ध्वनि निकलेगी ? नहीं। इसलिए वीणा या तानपूरा सर्वसुलभ नहीं हो सकते।

तो एक तरफ भोग्य वस्तुओं की विपुलता है और दूसरी तरफ व्यक्ति के लिए उन चीजों के निर्माण के अवसर कम होते जाते हैं। इसमें से सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता।

योगी और वैज्ञानिक

आज हम शब्द की गति से यात्रा करते हैं। पहले जिस गति से शब्द सुनते थे, उस गति से अब यात्रा करते हैं। प्रकाश की गति से हम एक-दूसरे से संबंध स्थापित करते हैं। आइसनहावर वाशिंगटन में बैठकर क्या कर रहा है, यह देखा जा सकता है। इससे अधिक पहले का योगी क्या करता था ? कोई १५-२० वर्ष पहले हमारे मित्र हमें एक महात्मा के पास ले गये। मित्र ने कहा : "यह पहुँचा हुआ आदमी है। यहाँ बैठकर वह बतला सकता है कि अमेरिका में क्या हो रहा है।" मैंने कहा : "कुछ दिनों के बाद मैं भी बतला दूँगा। फिर इस आदमी की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। इन्हें टेलिविजन के डाइरेक्टर बना दीजिये, इन्हें साधु बने रहने की आवश्यकता नहीं।" इंद्रियों की शक्ति अतीन्द्रिय शक्ति के बहुत नजदीक पहुँच रही है। विनोबा कहता है कि ब्रह्मज्ञान के बिना अब कोई चारा नहीं है। कृष्णमूर्ति ने कल कहा कि अब इससे परे जाने की जरूरत है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि पहले योगियों की पहुँच में जो वस्तु थी, वह आज सुलभ हो रही है, मनुष्य वहाँ तक पहुँच गया है।

अभिक्रम, स्वयंप्रेरणा और स्वतंत्र प्रवृत्ति

फिर अन्तर्विरोध कहाँ है ? योगी की सामर्थ्य स्वायत्त थी और हमारी परायत्त। हमें यह 'पैसिव्ह' (परप्रेरित) बना देता है। योगी उसे स्वतन्त्र रूप से प्राप्त करता है और हमें वह परिस्थिति-प्राप्त है। इसलिए इसमें अभिक्रम नहीं रहता, स्वयं-प्रेरणा और स्वतंत्र प्रवृत्ति भी नहीं रहती। 'इन्स्पिरेशन',

'इनीशिएटिव्ह' और 'ओरिजिनैलिटी' ये तीनो चीजे इससे निकल जाती है। ये तीनो मनुष्य के व्यक्तित्व के उपादान है। जैसे घडे का उपादान मिट्टी है, कुर्ते का उपादान कपास है, शाल का उपादान ऊन है, वैसे ही ये तीनो चीजे मनुष्य के व्यक्तित्व के उपादान है। मनुष्य मे स्फूर्ति, स्वय-प्रेरणा और मौलिकता होनी ही चाहिए। इनके न होने से उसके जीवन से उत्कटता निकल जाती है।

लुई फिशर ने गाधीजी की जीवनी लिखी। उसमे एक प्रसग है। लुई फिशर ने महादेवभाई से सवाल किया कि "यह गाधी मुट्ठीभर हड्डियो का आदमी दुनियाभर का इतना काम कर सकता है, इसका क्या कारण है? इसे रक्तचाप भी है, फिर भी जीता है और काम करता है, इसका कारण क्या है?" महादेवभाई ने जवाब दिया कि इनमे 'पैशन' (उत्कटता) है। प्रेम के साथ 'पैशन' चाहिए। मनुष्य अत्यन्त अलग-अलग द्रव्यो का बना हुआ नही होता। उत्कटता और प्रेम दो अलग चीजे नही है। वे है एक ही। प्रेम के साथ उत्कटता जितनी अधिक होगी, पुरुषार्थ उतना ही अधिक होगा। पैशन मे 'कॉम' उपसर्ग जोड दे, तो कॉम्पैशन (करुणा) हो जाता है। 'कॉम' का अर्थ है सह। मेरा अकेला 'पैशन' दूसरे के साथ जब मिल जाता है, तो उसे 'कॉम्पैशन'—करुणा कहते है। सहयोग के लिए 'कॉम्पैशन' की जरूरत होती है।

यंत्रशास्त्रीय अन्तर्विरोध

आज दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के साधन इतने हो गये है कि आप प्रकाश की गति से संबध स्थापित कर सकते है। लेकिन अगर उसमे उत्कटता नही होगी, तो सहयोग कैसे होगा? दो आदमियो को पडोस मे लाकर बैठा दिया, तो क्या इतने से दोनो का सम्पर्क हो जायगा? वाशिगटन दिल्ली के बहुत नजदीक आ गया, तो क्या आइसनहावर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया? सम्भव है, पास-पास बैठे लोग एक-दूसरे का जवाब भी न दे। परस्पर विमुखता हो, तो इन साधनो का कोई उपयोग नही है। उसकी जगह प्राङमुखता आनी चाहिए। प्राङ्मुख याने मुखातिब। जब आदमी एक-दूसरे की तरफ मुँह करके बैठते हैं, तब उसे प्राङ्मुखता कहते है। और जब पीठ फेर लेते है, तो उसे पराङ्मुखता कहते है। आवागमन के और सम्बन्ध स्थापित करने के साधन उपलब्ध कर देना प्राङ्मुखता नही है। यहाँ अन्तर्विरोध आ गया। इसे समझने की जरूरत है। दिल्ली से पेकिग जितनी दूर है, उससे वाशिंगटन कहीं ज्यादा दूर है। दिल्ली का वाशिंगटन के साथ सम्पर्क हो जाता

है, मास्को के साथ हो जाता है, लेकिन त्रिवेंद्रम के साथ, जहाँ पर शंकरन् नंबूद्रीपाद हैं, सम्पर्क नहीं हो पाता ! इसका कारण क्या है कि वे दोनों मुखातिब नहीं हैं। उन्होंने एक-दूसरे की तरफ से मुँह फेर लिया है। इन्सान जब एक-दूसरे की तरफ से मुँह मोड़कर बैठे हों, तो वह यंत्रशास्त्रीय अन्तर्विरोध हो जाता है।

साक्षिप्रत्यक्ष

इस युग का नाम दिया है स्पेस (आकाश) और कामन मैन (सर्व-साधारण) का युग। 'स्पेस' का मतलब है—आकाश, केवल खाली जगह। दो वस्तुओं के बीच की जो खाली जगह है, उसीको 'आकाश' कहते हैं। आकाश का अनुभव है, लेकिन दर्शन नहीं है। इसके लिए पुराने शास्त्रों में एक सुन्दर शब्द है—'साक्षिप्रत्यक्ष'। इन्द्रियगोचर नहीं है, पर दो अँगुलियों के बीच के आकाश का हम अनुभव करते हैं। 'मैं हूँ', ऐसा मनुष्य कहता है। पर 'मैं हूँ', यह उसने जाना कैसे ? 'मैं हूँ' इसे समझाने के लिए किसीकी जरूरत नहीं है। ऐसा जो ज्ञान है, उसे साक्षिप्रत्यक्ष कहते हैं। दूसरे के साथ एकता का प्रत्यय कोई सिद्धान्त नहीं है। लेकिन उसे जब आप शब्दबद्ध करके उसका एक तत्त्व बनाते हैं, तब वह सिद्धान्त बन जाता है।

मैं ओंकार से कहता हूँ कि रात को मारपीट हो गयी। वह कहता है, मुझे तो कुछ पता नहीं है। "उस वक्त तुम क्या कर रहे थे ?" "उस वक्त तो मैं सो रहा था।" "कैसे सो रहे थे ?" "बेखबर सो रहा था।" "तुम्हें कैसे पता चला कि तुम बेखबर सो रहे थे ?" "मैं क्लोरोफार्म से बेहोश हो गया था।" "कैसे पता चला ?" "मैं सुख से सो रहा था, मुझे कुछ पता नहीं था !" यह जिसने जाना, वह 'साक्षी' है, ऐसा वेदान्ती कहता है। अगर उस वक्त ज्ञान न होता, तो बाद में स्मरण भी नहीं रह सकता। 'जब मैं पैदा हुआ था', यह अनुमान है। इसका ज्ञान किसीको नहीं है। दूसरे को हमने पैदा होते हुए देखा, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। लेकिन बेहोशी और निद्रा का ज्ञान ऐसा नहीं है। मैं होश में नहीं था, यह भी वह जानता है और मैं गहरी नींद में सो रहा था, यह भी वह जानता है। इसके लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं है। यह 'साक्षिप्रत्यक्ष' कहलाता है।

आकाश-युग

इस युग को 'आकाश-युग' भी कहते हैं। आकाश-युग क्यों ? स्थलचर, जमीन पर चलनेवाले तो हम पैदा ही हुए, बाद में एक युग आया, जब हम

स्थलचर और जलचर दोनो बने। नाव चलने लगी, जहाज चलने लगा। तैरने की बात नहीं कर रहा हूँ, वह मनुष्य की व्यक्तिगत कला है। हम टेक्नॉलॉजी—यत्र-विज्ञान—के युग मे जा रहे है। उस युग मे क्या था? जिसका बेड़ा, समुद्र-सेना सबसे कुशल हो, वह राष्ट्र सबसे प्रभावशाली समझा जाता था। अग्रेजो के इतिहास मे नेल्सन का नाम प्रसिद्ध है। क्यो? इसलिए कि स्पेन की दुर्जय मानी जानेवाली नौ सेना को इसने हरा दिया। ब्रिटानिया सबसे बडा राज्य क्यो है? इसलिए कि समुद्र की लहरो पर ब्रिटानिया की सत्ता है, इसीलिए वह प्रभावशाली राष्ट्र है। अब मनुष्य नभचर हो गया। इसलिए इस युग को आकाश-युग कहते है। अब तो स्पुतनिक मगल तक जाने लगा। पहले अस्सी दिन मे दुनिया का चक्कर लगाते थे, आज आठ घटे मे दुनिया का चक्कर लगा सकते है। याने आज दुनिया गेंद से भी छोटी हो गयी है। वैज्ञानिकों के लिए यह पृथ्वी गेंद से बहुत बडी नहीं रह गयी है। लेकिन वाशिंगटन और मास्को मे जो अन्तर था, वह बढ गया है, कम नहीं हुआ। आगे चलकर वाशिंगटन और मास्को का अन्तर कम हो जायगा, लेकिन पूर्वीय बर्लिन और पश्चिम बर्लिन का जो अन्तर है, वह नहीं मिटेगा। आकाश पर कब्जा तो कर लिया, लेकिन धरती से पॉव उखड़ गये। यह अन्तविरोध हुआ। इसलिए इस युग का नाम है नुकीले द्वन्द्व या अन्तर्विरोध का युग। द्वन्द्व इस युग मे आकर एक सिरे पर, एक परिसीमा पर पहुँच गया है, एक बिन्दु मे केन्द्रित हो गया है। यहाँ हम द्वन्द्व की नोक पर आ गये है।

मूलभूत अन्तर्विरोध

हम मूलभूत अन्तर्विरोधो पर विचार कर रहे है। हमारे जीवन मे कुछ मूलभूत अन्तर्विरोध आ गये है, जिनका जवाब हम खोजते हैं। लेकिन जवाब खोजते है 'ओरैकल' से, 'क्विझ' की तरह। 'क्विझ' का मतलब है अकस्मात् किसीसे सवाल पूछ लेना, और वह गड़बडा जाय, तो आप कहे कि मैंने उसे 'क्विझ' कर दिया। बगैर पूर्वसूचना के आप जिससे सवाल पूछते है और उसका उत्तर वह दे सकता है, तो उसे 'क्विझ' उत्तर कहते हैं।

एक विद्यार्थी साधु के पास जाकर अकस्मात् पूछता है, क्या मै परीक्षा मे पास हो जाऊँगा? साधु जवाब देता है: "जा बेटा, तू पास हो जायगा।" पुराने ग्रीस मे डेल्फी मे एक मदिर था, जहाँ लोग जाकर पूछते थे कि हमारा बेटा बीमार है, तो वह अच्छा होगा या नहीं? जिसे शंका होती थी, वह डेल्फी के ओरैकल के पास जाता था। आज की दुनिया क्या मानती है? या

तो इलेक्ट्रिक ब्रेन (यांत्रिक मस्तिष्क) जवाब देगा या डिक्टेटर। हिसाब-किताब, गणित जैसे जितने दूसरे सवाल हैं, उन सबका जवाब इलेक्ट्रिक ब्रेन (यान्त्रिक मस्तिष्क) देगा। जीवन की समस्याओं का जवाब डिक्टेटर देगा! इस तरह मनुष्य अपनी मनुष्यता से त्यागपत्र दे रहा है।

चार प्रकार के अन्तर्विरोध

एक तरफ आपने कहा कि यन्त्रीकरण जितना होगा, उतना ही मनुष्य की बुद्धि का विकास होगा। दूसरी ओर यन्त्रीकरण जितना बढ़ रहा है, उतना ही बुद्धि का कार्य कम हो रहा है। ऐसा अन्तर्विरोध खड़ा होता है। आज का युग इल्हाम का युग है। हृदय में अन्तःप्रेरणा, दिव्य प्रेरणा होती है और कुछ निर्माण होता है। इस प्रकार का इल्हाम आईन्स्टाईन का और वैज्ञानिकों का होता है। पुराने जमाने में आध्यात्मिक क्षेत्र में जिस प्रकार की एक अन्तःस्फूर्ति पैदा होती थी, वैसी ही अन्तःस्फूर्ति आज पैदा हो रही है, पर वह एक दूसरे ही स्तर पर है। यह पहला अन्त-र्विरोध है।

दूसरा अन्तर्विरोध है 'ज्यूक बॉक्स' का। एक इन्द्र-जाल फैला दिया गया है और जादूगर के इस पिटारे में जाने क्या-क्या भरा हुआ है। वह हमें उप-भोग की चीजें देता है और चीजें बनाने की बुद्धि से वंचित रखता है। नतीजा यह है कि एक तरफ उपभोग की सुलभता हो रही है और दूसरी तरफ निर्माण की क्षमता कम हो रही है। यह दूसरा अन्तर्विरोध है।

तीसरा अन्तर्विरोध यह है कि हम शब्द की गति से प्रवास करते हैं और प्रकाश की गति से एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। लेकिन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो 'पैशन' (उत्कटता) और 'कॉम्पैशन' (करुणा) चाहिए, वह मनुष्य के जीवन से कम हो रही है।

आज का युग आकाश का और सर्वसाधारण का है। पहले हमारा पुरुषार्थ केवल भूमि तक सीमित था। बाद में भूमि और जल तक बढ़ा। अब आकाश तक हमारा पुरुषार्थ गया है और आकाश के साथ-साथ दूसरे ग्रहों तक बढ़ गया है, लेकिन इहलोक के मनुष्यों में हार्दिकता और बन्धुता, जिसे विनोबा 'सख्य' कहते हैं, नहीं है। इस युग में 'पैशन' और 'कॉम्पैशन' नहीं है, पर आकाश-सञ्चार है। यह चौथा अन्तर्विरोध है।

२७-१-'६०
प्रात

निष्क्रियता और यंत्र-प्रेम : ४ :

आज की परिस्थिति मे मूलभूत अन्तर्विरोध यह है कि मनुष्य एक-दूसरे के निकट तो आ रहे है, लेकिन परस्पर के अभिमुख नहीं हो रहे है। चाहिए यह कि इन्सान का रुख इन्सान की तरफ हो, इन्सान इन्सान से मुँह न मोडे।

अरण्यवाद और वैराग्य

पुराने जमाने मे अरण्यवाद और वैराग्य आध्यात्मिकता के साथ-साथ चलते थे। भगवद्गीता मे आता है—'अरतिः जनसंसदि।' आदमी महफिल-बाज नही है, क्लबवाला नही है। अग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने 'डेज-र्टेड व्हिलेज' मे लिखा है : 'फार फ्राम दी मैडनिंग क्राउड'—'जन-समुदाय से अलग होकर अपना जीवन बिताना'। इसका मतलब है भीड से अलग रहना, समुदाय-विमुखता। भीड कोई नही चाहता। कुम्भ मे बहुत-से लोग नहाने जाते हैं। बहुत-से लोग इस भीड़ को देखने के लिए ही जाते हैं। पर जब वे स्वय नहाने जाते हैं, तब यह चाहते है कि उस वक्त भीड़ न हो। अर्ध-कुंभी अमावस्या के लिए बहुत-से लोग जाते है, लेकिन चाहते है यह कि ट्रेन में भीड़ न हो। तो, मनुष्य भीड़ नहीं चाहता। लोगों का जहाँ मजमा हो, वहाँ मनुष्य नहीं जाता। लेकिन भीड से बचना अलग चीज है और लोक-विमुखता अलग चीज है। लोक-विमुख नहीं होना चाहिए। नही तो प्रेम के लिए कोई अवसर नहीं है, समाज-परिवर्तन की कोई आवश्यकता नही है। हम व्यक्ति हैं। हर व्यक्ति अपने मे अपवाद है, यह सही है। लेकिन कोई व्यक्ति विविक्त व्यक्ति नही है। विविक्त का मतलब है—आइसोलेटेड, एकान्तसेवी। मनुष्य को एकान्तसेवी नहीं होना चाहिए। पहले का आध्यात्मिक मनुष्य विरक्त, एकान्तसेवी माना जाता था। 'उनकी क्या बात है? वे तो साधु हैं, हमेशा पहाडो मे और जगलों मे घूमा करते हैं', ऐसा हम अक्सर सुनते है। ऐसों को 'रिक्ल्यूज' कहते हैं। 'रिक्ल्यूज' का मतलब है विरक्त पुरुष, वैरागी, जो समाज से दूर रहता है।

तो पुराने जमाने मे मनुष्य के सामने दो ही विकल्प थे।—

'एको वासः पत्तने वा वने वा।' या तो शहर मे या फिर जंगल में रहो। 'एको देवः केशवो वा शिवो वा!' देव एक ही होगा—या तो भगवान् कृष्ण होगा या फिर शिव ही होगा। दो नहीं हो सकते। मित्र भी 'भूपतिर्वा यतिर्वा'—या तो राजा से दोस्ती करो या फिर यति से, दोनों से नहीं। जो विरक्त थे, जो आध्यात्मिक वृत्ति के लोग थे, वे पत्तन मे, शहर मे नहीं रहते थे। रघुवंश मे रघुवंश के राजाओ का जो वर्णन आया, उसमे अन्त मे वर्णन आता है वानप्रस्थाश्रम का। वानप्रस्थ का मतलब है, जो वन मे चला गया :

'शैशवे कृतविद्याना, यौवने गृहमेधिनाम्।'

जब तक बालक है, तब तक विद्या, तरुण हो गया, तो गृहस्थ हो गया। और चौथेपन मे—

'वार्धके मुनिवृत्तीनाम्।'

राजा अपना राज पुत्र को देकर जगल को चला जाता है। राम को युवराज बना दो और तुम निवृत्त हो जाओ। जिसको संसार-निवृत्त होना था, वह लोक-निवृत्त हो जाता था।

लोकाभिमुखता और प्रपंचविमुखता

विनोबा कहता है कि अब वानप्रस्थ आश्रम का पुनरुज्जीवन होना चाहिए और उसकी एक वयोमर्यादा होनी चाहिए। जितने गुरुकुल हैं, उन सबमे वानप्रस्थ जाकर बसें। हर मनुष्य के लिए वह ऐसी मर्यादा बतला रहा है। परन्तु यदि हम दोनों के लिए दो भिन्न अर्थ माने तो उसमे 'डायकोटेमी' है। इसमें से मनुष्य के व्यक्तित्व का विच्छेद होता है। एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व और एक सासारिक व्यक्तित्व। दो भूमिकाओ के दो भिन्न जीवन हो जाते हैं। एक गृहस्थ-धर्म और एक यति-धर्म। जैनियो में एक गृहस्थ का धर्म होता है और दूसरा भिक्षुओ का धर्म। इसी तरह एक सैनिक का धर्म, दूसरा नागरिक का धर्म; एक नागरिक निवास, दूसरा सैनिक निवास; एक सैनिक-वृत्ति, दूसरी नागरिक की गृहस्थ-वृत्ति, ऐसे दो भेद किये जाते हैं। जो संसारविमुख हो गया वह लोकविमुख भी बन जाता है। हम कहते है कि मानवाभिमुख रहो और ससार-निवृत्त हो। लोकाभिमुखता का विकास होना चाहिए। प्रपच-निवृत्ति का मतलब है लोकाभिमुखता का अनन्त विकास। जो प्रपंच-निवृत्त हुआ, वह लोकाभिमुख बन गया। इस तरह से सामान्य मनुष्य के व्यक्तित्व मे समग्रता आनी चाहिए। गणित मे एक शब्द है 'इंटिजर'। तीन सही चार बटे पाँच इस सख्या मे ३ की सख्या इंटिजर है, पूर्णांक है। जो सख्या अपने मे पूर्ण है, उसे 'इंटिजर' कहते हैं, 'होल नम्बर' कहते है। उसी तरह मनुष्य का व्यक्तित्व

इंटिग्रल, होल, समग्र, पूर्ण, होना चाहिए। हर मनुष्य अपने मे अपवाद होगा और विभूति भी होगा। अपने मे पूर्ण होगा, अश नही। 'कम्युनिटेरियम' समाज के पक्षपाती 'आर्गेनिक थियरी' को मानने लगे है। वे समाज की यान्त्रिक रचना को नही मानते, 'आर्गेनिक थियरी' को मानते है। इसमे अवयव-अवयवीभाव है। अवयव याने शरीर के अग। ऑख, कान, हाथ, उँगलियॉ—ये सब शरीर के अंग है। शरीर का अगो के साथ जो सम्बन्ध है, वही व्यक्ति का समाज के साथ सम्बन्ध है। यह समाज की 'आर्गेनिक थियरी' या अग-अंगी सिद्धान्त कहलाता है।

अंग-अंगी सिद्धान्त

पश्चिम के समाज-विज्ञान मे एक ऐसा युग आया, जब लोग इस अग-अगी सिद्धान्त को मानते थे। उसके बाद फिर यान्त्रिक सिद्धान्त आया कि समाज एक बड़ा भारी यन्त्र है। फिर उसके बाद प्रतिक्रिया हुई और अवयव-अवयवीभाव का सिद्धान्त दुबारा आया। यह जो अंग-अगीभाव (आर्गेनिक थियरी) है, इसमें क्या है ? इसमे एक बहुत बड़ा दोष है, कमी है। वह यह कि हर अग अपने मे शरीर नहीं है, पूर्ण नहीं है। परन्तु हम कहते है कि हर मनुष्य, हर व्यक्ति अपने मे पूर्ण है। यहाँ विनोबा के बहुत मार्के के दो शब्द आते है। हर व्यक्ति अपने में 'पूर्ण' है और समाज मे 'परिपूर्ण' है। यहॉ पर 'परि' जो उपसर्ग है, उसका मतलब है 'सब तरफ से'। 'परितः' याने सब तरफ से। अपने में पूर्ण है, जब वह दूसरो के साथ होता है, तो सब तरफ से पूर्ण हो जाता है। सह-जीवन का अर्थ है परिपूर्ण जीवन।

परपरा से यह चीज चली आयी, इसलिए अब हम कहते है कि समाज का विकास अब यहॉ तक हो गया है कि व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध मे व्यक्ति बड़ा है या समाज बडा है, इस तरह का विवाद अप्रस्तुत है। हमारा विचार आगे बढ गया। हर व्यक्ति अपने मे पूर्ण है और समाज मे परिपूर्ण है। राज-नीति मे कहते है : 'द किंग', और 'द किग इन कौसिल।' राजा जा रहा है। वह जानेवाला सिंधिया, होलकर या निजाम कोई भी हो सकता है; किन्तु 'द किंग इन कौसिल' हुक्म कर रहा है। वह राजा जिसे आज्ञा देने का अधि-कार है। ये दो चीजें अलग-अलग नही है। वैसे ही मनुष्य और समाज का सदस्य मनुष्य (ए मैन, मैन इन सोसाइटी)। अपने मे पूर्ण है, समाज मे परिपूर्ण। इसे हम समन्वय कहते हैं। दोनो का एक-दूसरे से विरोध नहीं है।

साम्यीकरण

अब इसका अनुबन्ध देखिये। इस यान्त्रिक युग मे दो चीजें साथ-साथ चल रही हैं। एक है 'स्टैंडर्डाइजेशन' और दूसरी है 'स्पेशियालाइजेशन'। स्टैंडर्डाइजेशन का मतलब है—एकरूपता आ रही है, साम्यीकरण आ रहा है। जैसे, अब हमारे सबके बाल एक-से कटे है, जूते एक-से है, चश्मे एक-से हैं। समाज में सब तरफ बाह्य चीजों मे एकता आ रही है। भोजन मे भी एकरूपता आ रही है। दक्षिण के भोजन मे और उत्तर के भोजन में पहले जितना अन्तर था, आज उतना अन्तर नहीं है। आज विज्ञान के साथ रहन-सहन का स्टैंडर्डाइजेशन आ गया है। कला मे भी वही बात देखने में आती है। आज काशी में वैसे ही मकान बनते हैं, जैसे आस्ट्रेलिया या अमेरिका मे बनते है। दक्षिण भारत और उत्तर भारत के मंदिरों और गिरजाघरों मे अन्तर है, लेकिन यहाँ के किंग एडवर्ड—शिवप्रसाद—अस्पताल और दूसरे अस्पतालों में कोई अन्तर नहीं है। 'एस्पेरेन्टो' पोशाक, 'एस्पेरेन्टो' भोजन, 'एस्पेरेन्टो' आर्किटेक्चर—यह स्टैंडर्डाइजेशन है। लेकिन विज्ञान के साथ जितना स्टैंडर्डाइजेशन आया, उतना ही 'स्पेशियालाइजेशन' भी आया।

विशिष्टीकरण

सुन्दरलाल बीमार हुआ। डॉक्टर आये। स्टेथोस्कोप से उन्होंने छाती देखी। ऑख देखी, मुँह देखा। फिर कहते है कि इनकी टट्टी और पेशाब परीक्षण के लिए भेज दो। "आप देखेंगे?" "नहीं-नहीं, मैं नहीं देखूँगा, दूसरे डॉक्टर के पास भेज दीजिये।" फिर कहते है, "हृदय का कार्डियोग्राम करा लीजिये।" "आप करेंगे?" "नहीं, मैं तो वह लिपि भी नहीं जानता। किसी हार्टवाले के पास जाओ।" फिर ऑख खराब हो गयी। दूसरे डॉक्टर के पास जाओ। ऑख देख ली। वह कहता है कि दाहिनी ऑख खराब है। मैं तो सिर्फ बायीं ऑख का डाक्टर हूँ, आप दूसरे डॉक्टर के पास दाहिनी ऑख दिखाइये। इस तरह स्पेशियालाइजेशन जीवन को टुकड़ों में बॉट देता है और बॉटने का मतलब खण्डित कर देता है। लेकिन वह खंडित किसलिए करता है? ज्ञान के लिए।

मानव की निष्क्रियता

एक तरफ स्पेशियालाइजेशन है और दूसरी तरफ यह स्टैंडर्डाइजेशन। हम कहते हैं कि आखिर तुम यह स्टैंडर्डाइजेशन और स्पेशियालाइजेशन कर ही

रहे हो, तो फिर यह क्यो नही करते कि सामाजिकता भी बढे और व्यक्ति की विशेषता भी बढ़े ? 'टिकर, टेलर, सेलर और सोल्जर' को लीजिये। 'टिकर' (कसेरा) मे यह गुण है कि वह बरतन दुरुस्त करता है। 'टेलर' (दर्जी) मे यह गुण है कि वह कपडे सीता है। 'सेलर' (नाविक) मे नाव चलाने का गुण है और 'सोल्जर' (सैनिक) मे लडाई का। इस तरह पेशो मे लोग बँटे थे और पेशो का स्पेशियालाइजेशन कर दिया था। इसे लोगो ने 'डिव्हिजन ऑव्ह लेबर' (श्रम-विभाजन) नाम दिया। 'टेक्नॉलॉजी' (यत्र-विज्ञान) के साथ 'स्पेशियालाइजेशन' आयेगा। उपकरण सूक्ष्म और कुशल होते जायेगे, इसलिए विज्ञो की आवश्यकता होगी। विशारदता की आवश्यकता होगी, तो साथ-साथ स्पेशियल आदमियो, विशिष्ट लोगो की ही महिमा बढेगी। और हम कहते हैं कि यह युग है सामान्य जन का। हर मनुष्य के लिए भोग सुलभ हो जाय, इतना आपने काफी माना। हम कहते है कि भोग सुलभ होना ही काफी नही है, भोग मे खेल भी आता है, मनोविनोद, सजीवन भी आता है—इन्हे सुलभ बना देते हैं, लेकिन व्यक्ति के 'फक्शन' (क्रियाशीलता) को छीन लेते है। स्पेशियालाइजेशन जब यन्त्रीकरण के साथ आता है, तो विज्ञता जितनी बढ़ती है, उतना सामान्य मनुष्य 'फक्शनलेस' (व्यवसायहीन) हो जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। यह निर्जीविता ही है। मनुष्य को हम निष्क्रिय नही बनाना चाहते।

तो अन्तर्विरोध कहॉ आता है ? वैज्ञानिक आविष्कार और वैज्ञानिक शोध ने मनुष्य को सुखी तो बनाया, लेकिन उसकी स्वतन्त्रता छीन ली। यहॉ स्वतन्त्रता का मतलब है क्रियाशीलता, कर्मदक्षता। पैर दौड रहे है, यह पैरो की क्रियाशीलता नहीं है। यह वर्जिश है, कसरत है। लेकिन मनुष्य उॅगली से सितार के तार छेडता है, तो वह 'फंक्शन' उद्योग है।

हरएक के पास जब बैलगाड़ी थी, तब बैलगाडी मे क्या-क्या है, इसका यन्त्र-विज्ञान हर मनुष्य को होता था। हर मनुष्य के पास मोटर हो जायगी, तो यह आवश्यक नहीं है कि हर मनुष्य मोटर का विज्ञान जान ले। हर मनुष्य के पास चश्मा है, तो क्या वह बनाना भी जानता है ? बाटा ने हर मनुष्य को जूता दे दिया। लेकिन क्या मनुष्य जूता बनाना जानता है ? यन्त्र जितना कुशल होता है, उतना वह बरतनेवाले के लिए सुलभ होता है और बनानेवाले के लिए मुश्किल। लेकिन बरू की कलम ली आपने। यह बरतनेवाले के लिए मुश्किल है, बनानेवाले के लिए आसान है। बनानेवाला तो लकड़ी ले लेता है और उसको छीलकर दे देता है। लेकिन बरतनेवाला जितना कुशल होगा,

उतने अक्षर अच्छे आयेंगे। वह टाइपराइटर है। बरतनेवाले के लिए आसान है, लेकिन बनानेवाले के लिए मुश्किल है। आज सबसे अच्छी घड़ी कौन-सी समझी जायगी? 'ऑटोमेटिक'—जिसमें चाभी देने की जरूरत न हो। और 'ऑटोमेटिक' के साथ-साथ 'अनब्रेकेबल' न टूटनेवाली, भी मिल सकेगी। जितना यन्त्र कुशल होगा, उतना ही उपभोग सुलभ होगा। यही यन्त्र की कुशलता है।

मार्क्स ने कहा था कि केन्द्रीकरण जितना होगा, उतने मालिक कम होंगे और मालकियत बढ़ेगी। मालकियत कब बढ़ती है? जब मालिक थोड़े-थोड़े होते जायँ। एकनाथ के पास अगर छह एकड़ जमीन है, तो वह छोटा मालिक है, ६०० एकड़ है, तो मँझला मालिक है और ६००० एकड़ जमीन है, तो वह बड़ा मालिक है। ६००० एकड़ जमीन जिनके पास होगी, उनकी संख्या कम होगी। मालिकों की संख्या जैसे-जैसे कम होती जायगी, वैसे-वैसे मालकियत बढ़ती जायगी। वैसे ही यन्त्र-विशारदता बढ़ती जायगी और विशारद कम होते जायेंगे। यह नहीं होना चाहिए। इससे मनुष्य के जीवन का आनन्द आप छीन लेते हैं।

पुराने और नये यन्त्रों का अन्तर

हर मनुष्य की दृष्टि से 'टक्नॉलॉजी' में कहाँ विरोध आता है? यंत्र विज्ञान तो तभी से रहा है जब से मनुष्य ने औजारों की खोज की। पहले के उपकरण मामूली थे। उसमें स्पेशियालाइजेशन कम था, पहले एक औजार से कई काम होते थे। आज एक-एक काम के लिए अलग-अलग औजार हैं, अलग-अलग उपकरण हैं। यह 'स्पेशियालाइजेशन' कहलाता है। इसमें 'इन्स्ट्रूमेण्ट्स' (औजारों) का भी 'स्पेशियालाइजेशन' होता है। पहले क्या था? नब्ज देख ली और कह दिया, इसे सर्दी हो गयी। आज का डॉक्टर स्टेथोस्कोप से छाती देखेगा, थर्मामीटर से टेम्परेचर देखेगा, बैटरी से मुँह देखेगा और तब कहीं वह कुछ कहेगा। स्पेशियालाइजेशन जितना होगा, उतना ही औजार भी उसके अनुरूप होगा। पहले के औजारों में और आज के औजारों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पहले का औजार सादा था, इसलिए वह बहु-प्रयोजनवाला था। आज का औजार सूक्ष्म होता चला जाता है, इसलिए वह एक ही काम का है। एक औजार से दूसरा काम करने जायेंगे, तो वह गलत समझा जायगा। मान लीजिये, आपको किसी अंग्रेज ने भोजन के लिए बुलाया। आप बैठ गये। आपके सामने काँटा और चम्मच आ गया। जिस हाथ में काँटा पकड़ना

चाहिए, उस हाथ मे आप चम्मच पकडते है और जिस हाथ मे चम्मच पकडना चाहिए, उस हाथ मे आप कॉटा पकडते है और खाना शुरू कर देते है। तो वह क्या कहेगा? "क्या गॅवार है? कॉटा और चम्मच भी पकडना नही जानता!"

एक यन्त्र से अगर आप बहुत से काम करते हैं, तो वह यन्त्र अधूरा है। उसमे 'एक्युरेसी' (अचूकता) तब आयेगी, जब वह यन्त्र एक ही रोग के कीडे देखेगा, दूसरे रोग के नही।

हमारा मन जितना अचूक संकेत करता है, उतना ही वह प्रमाण माना जाता है। एक मनुष्य कहता है कि "आप यह खूब समझ लीजिये कि मुझे यह चीज अच्छी लगी, तो वह अच्छी होनी ही चाहिए, क्योकि मेरा मन बुरी चीज की तरफ जा ही नहीं सकता।" दुष्यन्त कहता है कि मुझे शकुतला से प्रेम हो गया, तो शकुतला सिवा क्षत्रिय-कन्या के दूसरो हो ही नही सकती; क्योकि दूसरी कन्या से मैं प्रेम ही नहीं कर सकता। 'प्रमाणं अन्तःकरणप्रवृत्तयः।' हरीश व्यास कहता है कि मेरे मुँह में पानी आ गया, तो यह आमलेट हो ही नही सकता, यह पकौडी ही हो सकती है, क्योंकि मुझे आमलेट खाने की आदत नही है।

यंत्र-शक्ति की कसौटी

यन्त्र मे जितनी अचूकता आती है, उतना ही वह प्रमाण माना जाता है। एक ही यन्त्र जब दो चीजे बतलाता है, तो निर्णय नहीं हो पाता। एक यन्त्र जब एक ही चीज बतलाता है, तो तुरन्त निर्णय हो सकता है। यन्त्र-शक्ति की यह कसौटी है कि उसमे अचूकता, 'एक्युरेसी' होनी चाहिए।

यन्त्र जितना कुशल होगा, उतनी ही यन्त्रविदों की सत्ता दुनिया मे कायम होगी। टेक्नॉलॉजी का धर्म है यह। जो मनुष्य मोटर खरीदेगा, उसको मेकेनिक भी होना चाहिए ऐसा आप कहेंगे, तो वह कहेगा कि यह क्या झंझट है? मोटर खरीदनेवाला यन्त्र नही चाहता, मोटर की सहूलियत चाहता है। उसको आप मोटर दे देते हैं और आराम उसको इस चीज में है कि झझट न हो। टाइप-राइटर को हर वक्त देखना पड़े, तो यह झंझट है, यह नहीं चाहिए। पेन मे स्याही भरो, स्याही भरो। आप कहेगे कि बार-बार स्याही भरने की यह क्या झझट? तो ऐसा पेन दे दिया कि जिससे लिखते ही जायॅ, स्याही खत्म ही न हो। कब तक लिखोगे? तो कहता है, जब तक उॅगलियॉ नही थक जातीं।

यह सुलभता कहलाती है। इस चीज से हर मनुष्य 'फंक्शनलेस' (निष्क्रिय) बन जाता है।

मानव के व्यक्तित्व की समाप्ति

हम देख रहे हैं कि साधारण मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो रहा है। होना यह चाहिए था कि 'स्टैण्डर्डाइजेशन' और 'स्पेशियालाइजेशन' दोनों साथ-साथ चलें। साधारण मनुष्य की विशेषता का विकास होना चाहिए। लेकिन वह नहीं हो रहा है। यह चीज हमारे गले क्यों नहीं उतरती ? क्योंकि मनुष्य निष्क्रियता और आलस्य-प्रिय नहीं है।

शरीरधारी का, मनुष्य का जो स्वरूप है, वह निष्क्रियता का नहीं है। तो फिर वह आराम के शोध में क्यों है ? इसका कारण है अभाव और दुर्भिक्ष। यह एक अन्तर्विरोध और आया। विपुलता के उपकरण बढ रहे हैं, लेकिन अभाव और दुर्भिक्ष दुनिया मे है। इस देश के मनुष्य से पूछिये कि वह क्या चाहता है, तो वह सार्वजनिक सभा मे कहेगा कि "यह क्या अमेरिका है, जो भौतिक सुख के पीछे दौड़ा जा रहा है ? हमारा देश आध्यात्मिक है। हमारा देश भौतिक सुख के पीछे नहीं जायगा।" लेकिन अगर घर मे कहना हो, तो वह कहेगा : मुझे वैसा ही मकान चाहिए, जैसा अमेरिका में है। वहाँ तो हर आदमी के पास मोटर है और हमारे पास नहीं है। हमें भी मोटर चाहिए। वहाँ पर बटन दबाने से भोजन आ जाता है और यहाँ तो भोजन के लिए स्त्री को डॉटना पडता है। ऐसा क्यो ? क्योंकि यहाँ सुख के साधन उपलब्ध नहीं हैं।

सुभिक्ष की आकांक्षा

मेरे साथ एक बूढा आदमी बैठा है। रवडी परोसी जा रही है। वह कहता है कि "हमने जो रवडी खायी, वह तो आजकल मिलती ही नहीं है।" वह आगे कहता है कि "क्या तुम यह जानते हो कि उस वक्त रवड़ी चार आने सेर मिलती थी ?" देख लीजिये अब आप उसका यह अध्यात्म। जमाने की अच्छाई का वर्णन जब आप करते हैं, तब सुख-सुविधाओं की विपुलता का वर्णन करते हैं। यह है इस देश के आध्यात्मिक मनुष्य की बात। अब आप उसे जरा परखिये कि उसकी आध्यात्मिकता कहाँ चली गयी ? वह अभाव में खो गयी, दुर्भिक्ष मे सूख गयी। सुभिक्ष में आध्यात्मिकता हो और दुर्भिक्ष में वह सूख जाय, यह बहुत बड़ा अन्तर्विरोध है।

कहते हैं कि भारत दुनिया को मार्ग दिखायेगा। कौन-सा भारत दुनिया को मार्ग दिखायेगा ? क्या वह भारत दुनिया को मार्ग दिखायेगा, जो रात-दिन

भौतिक सुख के सपने देखा करता है, जिसके रोम-रोम मे अमन-चैन के अरमान छा रहे है ? भारत दुनिया को आध्यात्मिकता का रास्ता दिखायेगा ? वैभव और बल दोनो की आकाक्षा रहते ऐसा होगा ? इसीलिए यहाँ का साधारण मनुष्य परिस्थिति मे प्रत्यय पैदा नहीं कर पाता। प्रत्यय का मतलब है— विश्वास। यह अन्तर्विरोध है।

सघर्ष आज हमारे व्यक्तित्व को टुकडे-टुकड़े मे बॉट रहा है। वह उसके दो टुकड़े कर रहा है। हमने उसका विचार नहीं किया। जो लोग क्रान्ति चाहते हैं, उन्होने भी उसका विचार नहीं किया। साधारण मनुष्य तो जिस परिस्थिति मे है, उस परिस्थिति मे है। लेकिन हमने इसका विचार नही किया कि शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति जहॉ नही होती, वह देश हमेशा वैभव का आकाक्षी रहता है।

एक बात और। मनुष्य अपने मे स्वभावतः सग्रहप्रिय नहीं है। लेकिन आज वैभव की आकाक्षा उसके चित्त मे है। इसका कारण यह है कि आवश्यक वस्तुओ का दुर्भिक्ष है।

एक ऐतिहासिक प्रश्न

यहॉ एक ऐतिहासिक प्रश्न होता है। क्या इस देश मे ऐसा सार्वत्रिक सुभिक्ष कभी था, जब सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही हो ? वेद मे अकाल है। पुराण मे विश्वामित्र ऋषि का वर्णन है; हरिश्चन्द्र का वर्णन है। ऐसा कोई युग नहीं, जिस युग में अकाल का वर्णन न हो। ऐसा सुभिक्ष कभी था ही नहीं। अब वह सुभिक्ष हम अपनी ऑखों के सामने प्रत्यक्ष देख रहे है और उसकी आकाक्षा कर रहे है। इस देश मे ऐसी अवस्था कभी नहीं थी, जब दुर्भिक्ष न रहा हो। इतने अश मे नही होगा, क्योकि आजकल जन-सख्या बढ गयी है। आज की अपेक्षा कम दुर्भिक्ष था, इसीलिए गुण-गान करते है, यह अलग बात है। घी जब चार आने सेर था, तब क्या वह सबको मिलता था ? दूध जब एक आने सेर था, तो क्या वह सबको मिलता था ? गेहू जब एक पैसे पायली था, तो क्या वह सबको मिलता था ?

उत्पादन के साथ सुलभता का सवाल आता है। वस्तु प्राप्य हो और उपलब्ध भी हो। केवल प्राप्य होना काफी नहीं है, वह उपलब्ध भी होनी चाहिए।

दो मूलभूत अन्तर्विरोध

इस प्रकार वैज्ञानिक युग के अन्तर्विरोध को लेकर हम अपने देश के अन्तर्विरोध तक पहुँचे। दो मूलभूत अन्तर्विरोधो तक पहुँचे। यान्त्रिकता के

साथ जो एक विरोध चलता है, वह यह है कि यन्त्र जितना कुशल होता है, मनुष्य उतना निष्क्रिय होता है। यह यन्त्र के साथ चलनेवाली चीज है, इसलिए यह मूलभूत अन्तर्विरोध है।

दूसरा अन्तर्विरोध लीजिये। अपने देश का 'एको वासः पत्तने वा वने वा'—आध्यात्मिक दर्शन रहा है। यह हमारे लिए बहुत बड़े गौरव का विषय है कि ऐसी सारी परिस्थिति में भी हमारा जीवन-दर्शन आध्यात्मिक रहा है। यहाँ का चिथड़े पहननेवाला आदमी भी गाता है और हँसता है। उसका यह सन्तोष अधम हो सकता है, लेकिन उसके पीछे एक तत्त्वज्ञान रहा है। अब यह तत्त्वज्ञान वास्तविक नहीं है। इसलिए हमारा व्यक्तित्व छिन्न-विच्छिन्न हो रहा है। आज परिश्रम के बिना वैभव की आकांक्षा है। यन्त्र-युग का यह अन्तर्विरोध है। मनुष्य यदि निष्क्रिय नहीं बनना चाहता है, तो फिर हमारे देश के निवासी यन्त्र-प्रेमी क्यों है? वे ग्रामोद्योग क्यों नहीं चाहते? वे क्यों यन्त्रों को चाहते हैं? इसका कारण आलस्य का स्वभाव नहीं, बल्कि सुभिक्ष की आकांक्षा है। यन्त्र में यह आकर्षण है। ●

२८-१-'६०

आध्यात्मिकता बनाम वैभव की आकांक्षा : ५ :

'स्टैण्डर्डाइजेशन' का मतलब है 'साम्यीकरण'। सबको एकरूप, एक रग बनाने की कोशिश को 'स्टैण्डर्डाइजेशन' कहते है।

धर्म, फौज और शिक्षण मे साम्यीकरण

स्टैण्डर्डाइजेशन हम कहाँ-कहाँ देखते है? एक तो धर्म मे, दूसरे फौज मे, तीसरे विश्वविद्यालय मे। फौज में हर सिपाही के नाप की पोशाक नही बनती। फौज में दरजी हर सिपाही का नाप नहीं लेता है, क्योंकि फौज मे वही आदमी दाखिल किये जाते है, जिनका नाप लगभग समान हो। स्टैण्डर्डाइजेशन के लिए 'रेजिमेण्टेशन' (सैनिकीकरण) की जरूरत होती है। फौज के बाने होते है, वर्दी होती है। सिपाहियो की वर्दी होती है और कद करीब-करीब एक-सा होता है, नाप-नापकर भर्ती होती है। इसलिए सिपाहियो का कद एक-सा होता है।

धर्म मे 'स्टैण्डर्डाइजेशन' कुछ दूसरी तरह का होता है, क्योंकि धर्म मे दाखिल करने मे आदमी का कद नही देखते हैं। पोशाक से पहचानते है कि यह मुसलमान है, पोशाक से पहचानते है कि यह सिक्ख है, पोशाक से पहचानते हैं कि यह पहलवान है, पोशाक मे पहचानते है कि यह वैरागी है। इस तरह धर्म मे और फौज मे स्टैण्डर्डाइजेशन है।

विश्वविद्यालय मे काला 'गाउन' पहनकर एक लडका खडा है। हम पूछते हैं कि कौन है यह? तो कहते हैं, यह स्नातक है, 'ग्रेजुएट' है। वकील के पास, न्यायाधीश के पास भी अपनी-अपनी पोशाक होती है। लड़के युनिवर्सिटी मे पास होते हैं, तो हरएक अपना 'गाउन' अलग नही बनाता है। दस रुपये दे देने से वह मिल जाता है और उसीसे डिग्री ले सकते हैं। 'गाउन' उतारकर वापस कर देते हैं। बहुत हुआ, तो एक फोटो खिंचवा लेते है। इसी तरह जो व्यक्ति समावर्तन का भाषण करने आता है, उसका 'गाउन' भी उसके नाप का नहीं होता। जहाँ 'स्टैण्डर्डाइजेशन' होता है, वहाँ 'मास प्रोडक्शन' होता है, बड़े पैमाने पर चीज बनानी पडती है।

आप लोगों में से किसीको दो सन्तानें है, किसीको तीन। काशी से खिलौना ले जाना है। आप अगर एक तोता हरे रंग का और एक पीले रंग का खरीदते है, तो वहाँ जाकर झगडा होगा। दोनों लडके कहेंगे कि हमें हरे रंग का ही चाहिए। आप समझायेंगे, तो भी वे नहीं मानेंगे। इसलिए एक ही नाप के, एक ही शक्ल-सूरत के खिलौने ले जायेंगे, तभी दोनों खुश होंगे।

अदल-बदल के दो तरीके

तो 'स्टैण्डर्डाइजेशन' आगे चलकर 'इण्टरचेञ्जेबुल' (परिवर्तनीय) में बदल जाता है। एक वस्तु की जगह दूसरी वस्तु रह सकती है। इसे 'अदल-बदल' कह सकते हैं। इन चीजों का आपस में अदल-बदल हो सकता है। वास्तविक रूप में तो वे एक ही है। नीचेवाली ईंट, ऊपरवाली ईंट, ऐसा फर्क नहीं रहता। ईंट ईंट ही है। दोनो का आकार एक-सा है। एक ईंट टूट गयी, तो उसकी जगह दूसरी ईंट फौरन आ सकती है। इसी तरह 'स्टैण्डर्डाइजेशन' में एक मनुष्य की जगह दूसरा मनुष्य ले सकता है।

लेकिन हमने तो कहा था कि हर व्यक्ति अपने में अद्वितीय है, अपवाद है। पर 'टेक्नॉलॉजी' कहती है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की जगह ले सकता है। इसमें अपवाद कोई नहीं रहा। यह है एक मूलभूत अन्तर्विरोध। सामान्य मनुष्य आज कहाँ जा रहा है? उसकी सामान्यता 'इण्टरचेञ्जेबिलिटी' की ओर जा रही है। एक मनुष्य की जगह दूसरा मनुष्य आप रख सकते हैं।

'इंटरचेञ्जेबिलिटी' का आसान तरीका क्या है? अदल-बदल के दो तरीके हैं। एक मुश्किल तरीका है, एक आसान। आसान तरीका कौन-सा है? जो सबसे सामान्य है, उसकी सतह पर दूसरों को लाओ। आसान यही है कि लोहिया, जयप्रकाशजी और जवाहरलाल इन सबको हम अपनी सतह पर ले आयें। 'जीनियस' को 'मिडियाकर' बना दो, विशिष्ट को सामान्य बना दो। 'मिडियाकर' का मतलब है बीच का, सर्वसाधारण। पर असल में 'इंटरचेञ्जेबिलिटी' में क्या होना चाहिए? यही कि जो उत्कृष्ट है, उसके समान दूसरे हो, उसकी सतह पर दूसरे आयें। लेकिन होगा क्या? जो सामान्य है, उसकी सतह पर दूसरों को लायेंगे।

सामान्य की दिशा अनगढ़पन की ओर

सामाजिक परिवर्तन की दिशा समझ लीजिये। एक कहता है कि उत्कृष्ट की तरफ जाओ, दूसरा कहता है, सामान्य की तरफ जाओ। पहला है 'कल्चराइजेशन', जो संस्कृति की दिशा में उत्तमता की तरफ ले जाता है, दूसरा है

'वल्गराइजेशन', जो अनघड़पन की तरफ ले जाता है। यह बेढब है। सहज तरीका उत्कृष्ट को नीचे की तरफ लाने का है, शुद्ध उच्चारण करनेवाला अगर अशुद्ध उच्चारण करेगा, तो कहेगे कि वह साधारण मनुष्य की ओर आ गया है। महाराष्ट्र मे कृष्ण का 'कुशा' किया। गुजरात मे 'करसन' कर दिया। हिन्दीवाले ने 'किसन' किया और बगलावाले ने 'क्रिष्टो' कर दिया। यह सब सर्वसाधारण की भाषा है। एक ने लक्ष्मण का 'लखमन' कर दिया, दूसरे ने 'लछमन' कर दिया, तीसरे ने 'लखन' कर दिया, चौथे ने 'लाखन' कर दिया और पॉचवे ने 'लॅखोन' कर दिया! अखबार मे 'स्टेनोग्राफर' आता है, तो बिहारवाले 'अस्टेनोग्राफर' पढते है, हिन्दीवाले 'इस्टेनोग्राफर' और पजाबवाले 'सटेनोग्राफर'। यह सब सामान्य उच्चारण है। यह ठीक नही। हम कहते है कि 'स्टैण्डर्डाइजेशन' हो, तो 'एक्सेलेन्स' की तरफ हो, उत्कृष्टता की तरफ हो। हमे ध्यान मे रखना चाहिए कि क्रान्ति की अहिंसात्मक प्रक्रिया केवल एक प्रक्रिया नहीं, जीवन की पद्धति है, दिशा है। थोडी देर के लिए मान लीजिये कि 'इण्टरचेञ्जेबिलिटी' अगर आवश्यक हुई, तो मेरी जगह जवाहरलाल हर रोज आ सकते हैं। लेकिन आज सवाल उठता है कि जवाहरलाल के बाद कौन, तो ताक रहे है हम आसमान की तरफ! तो, इस तरह शिखर पर और सदैव अपवाद के रूप मे कुछ लोग रहेगे। मेरा बेटा जब वकालत करने लगा, तो मैने कहा कि "तुम वकालत क्यो करते हो? इसमें तो बहुत आदमी होगे। बड़ी भीड़ होगी।" उसने कहा कि "दादा, शिखर पर हमेशा जगह होती है।" शिखर पर जगह होती है, क्योकि वहॉ एक ही बैठ सकता है। नीचे जगह नही है। तो भी नीचेवाले की जगह ऊॅचेवाला ले सकता है, लेकिन ऊॅचेवाले की जगह नीचेवाला नहीं ले सकता। क्योंकि वहॉ तो सिर्फ एक के लिए जगह है। विनोबा कहते है कि यह हमारा 'आरोहण' है। 'आरोहण' सिर्फ टकसाली शब्द नहीं है। उसमे एक दिशा है कि 'स्टैण्डर्डाइजेशन' हो, तो उत्कृष्टता की तरफ हो।

हम छोटे थे, तब हमने समाजवाद के खिलाफ एक किताब पढी। उस वक्त समाजवाद की छोटी-छोटी बहुत-सी किताबें निकली थीं, क्योकि समाजवाद का बोलबाला था। कम्युनिज्म का उस समय बोलबाला नही था। उस किताब मे लिखा था कि मकान बैरको की तरह होने चाहिए। सवाल था कि एक-से मकान होंगे क्या? आज तो होते ही है, 'फ्लैट' ही 'फ्लैट' होते हैं। कहते हैं कि कमरे भी एक नाप के होने चाहिए। बम्बई मे लडके रहते हैं, तो कोनेवाले कमरे का किराया ज्यादा होता है, क्योकि हवा और रोशनी वहॉ ज्यादा मिलती है। हॉस्टेल में कोनेवाला कमरा उसे मिलता है, जो सबसे अच्छा स्कॉलर

(पदाक्र) होता है। सबको समान कमरे देते हैं, फिर भी कोनेवाले कमरे के लिए विवाद होता है। नाम रखने लगे, तो एक का नाम रखा गया अविनाशचन्द्र और दूसरे का नथुआ। अब वह कहेगा कि 'यह तो ठीक नहीं है। ये अविनाश हो गये, हम नत्थू बुद्धू ही रह गये।' 'तो फिर क्या ?' 'नाम नहीं, सबको नम्बर दिये जायँ।' फिर विवाद उठता है कि उसका पहला नम्बर, तो हमारा दूसरा क्यों ? तो, यहाँ समाजवाद को हास्यास्पद बना रहे हैं।

अहिंसक प्रक्रिया का गुण

कमरे के लिए झगड़ा होता है कि कोनेवाला कौन ले ? मान लो, दोनों ही उसमें रहने लगे, तो फिर इसपर झगड़ा होता है कि सड़क की तरफ की खिड़की कौन ले ? एक की दृष्टि इतनी मंद है कि उसे किसी की शक्ल-सूरत दिखायी नहीं देती, तो भी कहते हैं कि सबको उसीके नंबर के चश्मे दे दो। किसीकी आँख का जीरो पावर है, तो भी उसे माइनस नंबर की ऐनक लगाओ! इसे 'लेव्हलिंग डाउन' कहते हैं।

एक सतह करनी है। सतह समान करनी चाहिए। प्रश्न है कि समानीकरण हो, पर कौन-से धरातल पर ? ऊपर के धरातल पर हो, नीचे के धरातल पर नहीं। 'लेव्हलिंग' हो, पर ऊपर की तरफ हो; नीचे की तरफ न हो। अहिंसक प्रक्रिया में यह विवेक है। हिंसक प्रक्रिया में जिनकी संख्या अधिक होगी, उनके समान सबको बनना होगा। हिंसक प्रक्रिया का यह लक्षण है।

संख्या की शक्ति हिंसक शक्ति है। इसका नाम रखा गया है 'ब्रूट मेजॉरिटी', हैवानी अक्सरियत। बहुसंख्या है, लेकिन कैसी ? पाशविक है। पाशविक बहुसंख्या इन्सान की नहीं। संख्या की शक्ति जड़ शक्ति है। यह न समझिये कि संख्या की शक्ति अहिंसक है। शस्त्र-शक्ति की अपेक्षा वह अहिंसक है, लेकिन अपने में पशु-बल है। इतना ही है कि शस्त्र-बल की अपेक्षा वह कम हिंसक है। इसलिए अगर वह समानीकरण, 'लेव्हलिंग' नीचे के धरातल पर होगा, तो जिनकी संख्या अधिक होगी, उनके समान बनना पड़ेगा। और अगर अहिंसक प्रक्रिया है, तो संख्या की तरफ नहीं, गुण की तरफ समाज मुड़ेगा।

इन दो प्रक्रियाओं को अच्छी तरह समझकर ध्यान में रखना चाहिए। इन दोनों में मूलगामी और दूरगामी फर्क है। एक प्रक्रिया संख्या पर आधार रखती है, नाम अहिंसा का भले ही हो। अहिंसात्मक इसलिए कि वह निःशस्त्र है। लेकिन उसमें बहुसंख्या की तरफ सबको मुड़ना होगा। इसलिए 'स्टैण्डर्डाइजेशन' में एक मर्यादा होनी चाहिए। जैसे आपके कुरतों में मर्यादा

है। हरएक का कुरता एक-सा है, तब भी अपने-अपने नाप का है। उसमे अपना-अपना नाप और रुचि है। तो, दो चीजे आ गयी। एक आपका व्यक्तित्व का परिमाण आपका अपना नाप है। दूसरी चीज आपकी अपनी एक रुचि है, जिसे 'टेस्ट' कहते है। 'टेस्ट' से मनुष्य की सभ्यता का, संस्कृति का पता चलता है।

कलात्मकता की कसौटी

'टेस्ट' के साथ-साथ तौर-तरीका होता है, जिसे 'तहजीब' कहते है। तहजीब याने सभ्यता, शिष्टाचार। आपकी बगल मे एक आदमी बैठा है, वह खीर पी रहा है तो घट-घट आवाज होती है, रोटी खाता है तो बज-बज आवाज होती है, चाय पीता है तो फुर-फुर आवाज होती है। ऐसा हो, तो आप समझते हैं कि इसके तौर-तरीके में फर्क है। पालन-पोषण के तरीके मे कुछ कमी रह गयी है। तौर-तरीका मनुष्य के उद्योग मे भी प्रकट होता है

उद्योग मे कलात्मकता और कौशल होता है। एक लड़की की उँगली दरवाजे मे दब गयी। हमसे उसने कहा : "पट्टी बाँध दो।" पट्टी बाँधत-बाँधते किवाड मे उँगली जितनी दबी, उससे ज्यादा हम दबाते है, तो वह कहती है : "मेहरबानी करो, इसके लिए तो किवाड काफी था! तुम्हारी जरूरत नहीं थी।" वह दूसरे को बाँधने के लिए बुलाती है। वह वही पट्टी बाँधता है, पर उसमे उसे आराम लगता है। वह कहती है : "क्या कला है बाँधने मे!" मामूली काम करने के ढग मे भी कला होती है।

तो 'लेव्हलिग' का अर्थ हम समझ ले। उत्कृष्टता की ओर हमे जाना है। हम छोटे थे, तो हमारे दादा हमसे पत्तल और दोने बनवाते थे। दोने हमारे यहाँ ऐसे बनते जो वेदकाल से चले आये होगे, कभी ठहरते ही नही। ठहराया कि गिरे। पाँच हजार साल से यह सस्कृति चलती आ रही है, पर कोई माई का लाल ऐसा न निकला, जो ऐसे दोने बनाये, जो न लुढके। किसीके दिमाग मे भी यह बात न आयी। कैसा विलक्षण है यह देश! हमारे दादा कहते थे कि ऐसे दोने बनाओ, जो लुढके नहीं। हम कहते थे कि "ऐसे दोने नहीं बन सकेंगे। आप बनाकर दिखाइये।" वे बनाकर दिखाते थे। यह 'कला' कहलाती है।

मामूली चीज मे भी कला हो सकती है। अपने काम मे कुशलता होनी चाहिए। उद्योग मे प्रगति वही है, जो उत्कृष्टता की ओर जाती है। उद्योग मे जितनी कला आती है, उतनी ही उसकी सास्कृतिक प्रगति होती है। उद्योग मे

जितनी कला आयेगी, उत्पादन की क्षमता बढ़ेगी। उत्पादन-क्षमता एक है, लेकिन असली प्रगति दूसरी चीज है। पचीस लड़के खानेवाले हैं, तो उतनी रोटियाँ बनेंगी, लेकिन कलात्मकता नहीं आयेगी, सांस्कृतिक प्रगति नहीं होगी। परिमाण और गुण—दोनों को नजदीक लाना है। पैमाना हमेशा खूबी की तरफ बढ़ना चाहिए। परिमाण गुण की तरफ बढ़ना चाहिए। परिमाण तो चाहिए ही, लेकिन प्रगति गुण की तरफ होनी चाहिए।

कसौटी कौन-सी है? जिसमें कलात्मकता आती है, वह अपने में कसौटी है। एक उदाहरण लीजिये। दो 'बैट्समैन' हैं। एक खिलाड़ी गेंद आते ही पीटता जाता है। एक ओव्हर में छह गेंदें मारता है, करीब-करीब एक 'सेन्चुरी' हो जाती है, पर दूसरा खिलाड़ी एक 'रन' भी नहीं बना पाता। आप कहते हैं: "इनके खेल में कैसी कुशलता है, कैसा 'ग्रेस' है, कैसा सौन्दर्य है, कलात्मकता है!" हर चीज में आप कलात्मकता देखते हैं, यह कलात्मकता ही कसौटी है।

फ्रिगकाग की कुश्ती हमसे देखने के लिए कहा जाता है। हम कहते हैं कि "आप देख आइये, बाद में हम जायेंगे।" आप देखकर आते हैं और कहते हैं कि "आप मत जाइये। वहाँ तो मारा-पीटी जैसा होता है, कुश्ती नहीं होती।" तो कुश्ती किसे कहते हैं? कुश्ती में पेंच की सफाई होनी चाहिए। इनके खेल में कोई सफाई नहीं, 'ग्रेस' नहीं। दो मेढ़ों की लड़ाई से भी खराब है। कोई कलात्मकता नहीं। किसीको मारने के लिए ऐसे लोगों को बुलायेंगे, कला के लिए नहीं। तो, उद्योग में जितनी कला आती है, उतनी ही उसकी सांस्कृतिक प्रगति होती है—यह कसौटी है।

मोटर चलाने में बैलगाड़ी चलाने से अधिक कुशलता चाहिए। घड़ी रखने में बड़ा रखने से अधिक कुशलता चाहिए। यंत्र के लिए अधिक कुशलता चाहिए। लेकिन यह मर्यादा जहाँ समाप्त होती है, वहाँ यंत्र की सांस्कृतिक भूमिका समाप्त होती है। फिर कुशलता यंत्र के साथ नहीं चलती।

मानवता : मानव की विशेषता

हमारे विचार के केन्द्र में मनुष्य है; मनुष्य से मतलब है, उसकी मानवता। उसकी मानवता उसकी विशेषता है। उसे केन्द्र में रखकर हम योजना बनाना चाहते हैं। इसलिए 'टेक्नॉलॉजी' में 'स्टैण्डर्डाइजेशन' तो होगा, 'स्टैण्डर्डाइजेशन' की मर्यादा यह होगी कि वह मनुष्य की विशेषता, अद्वितीयता को समाप्त न करे।

हर व्यक्ति अपने में अद्वितीय है। मेरे चार बेटे है, उनके लिए एक भाव का एक रंग का कपड़ा लेता हूँ। एक कहता है कि मै उसका 'हण्टिग कोट' बनाकर पहनूँगा, दूसरा कहता है कि 'गॉल्फकोट' बनाकर पहनूँगा, तीसरा कहता है कि 'लागकोट' बनाकर पहनूँगा और चौथा कहता है कि 'बुशकोट' बनाकर पहनूँगा। यह एक-एक की अपनी अभिरुचि है। यह अभिरुचि उसकी वृत्ति की द्योतक है। अभिरुचि मे मनुष्य का रुख प्रकट होता है। सभी चीजो मे रुख नहीं होता। 'सब करते है तो हम करे', ऐसा ही होता है। सब लोग जैसे बाल रखते है, वैसे ही हम रखे, ऐसा होता है। लेकिन आपके बाल कटाने मे आपकी वृत्ति होती है। आपके कपडे मे आपकी वृत्ति होती है।

तो, दो चीजें हुई। मनुष्य के काम करने के तरीके मे मनोवृत्ति और सभ्यता होती है। अभिरुचि में दो चीजे आयीं—सस्कृति और मनोवृत्ति। इससे यह बात ध्यान मे आयेगी कि तालीम को उद्योग के साथ क्यो मिलाया? उद्योग मे कलात्मकता हो, तो सस्कृति और अभिरुचि प्रकट होती है। अभिरुचि मे मनोवृत्ति और सभ्यता होती है।

हम चाहते है कि 'स्टैण्डर्डाइजेशन' हो, तो उत्कृष्टता की तरफ हो। ऐसा होगा तो उसमे व्यक्तित्व होगा, 'इण्डिव्हिज्युआलिटी', व्यक्तित्व और पर्सनैलिटी, व्यक्तित्व मे अतर है—दूसरो से मेरा अलग अस्तित्व, पृथक् अस्तित्व। मेरी अपनी अलग हस्ती 'सेपरेट एण्टिटी'। हर ईंट अपने मे 'इण्डिव्हिज्युअल' है। हर ईंट अपने मे एक एक है, लेकिन हर ईंट 'पर्सनॅलिटी' नहीं है।

आपकी जो विशेषता है, वह 'पर्सनॅलिटी' है। केवल आपका अलगपन, भिन्नता आपका व्यक्तित्व नही है; आपकी विशेषता, 'डिस्टिंक्टिव करेक्टरिस्टिक' है। एक ईंट की जगह दूसरी ईंट ले सकती है, लेकिन पत्थर की जगह ईंट नही ले सकती। लकडी की जगह लोहा नहीं ले सकता। कॉच की जगह स्लेट नही ले सकती। हरएक का अपना-अपना विशेषत्व है। मनुष्य भी एक-दूसरे की जगह एक हद तक ले सकता है। सामान्यता मनुष्य की 'इण्डिव्हिज्युआलिटी' तक पहुँचती है, लेकिन पर्सनॅलिटी मे हर मनुष्य असामान्य और असाधारण हो जाता है।

हम कहते हैं कि उपक्रम ऐसे होने चाहिए कि वे मनुष्य की असाधारणता को बचायें और उसकी साधारणता बढ़ायें।

मनुष्य की सिफत क्यों नही खिलती ?

हर इन्सान की अलग-अलग सिफत है। वह खिलनी चाहिए। पर ऐसा क्यों नहीं होता ?

२६ जनवरी का दिन है और हमारे सर्वोदय के नेता, काग्रेस के नेता, पी० एस० पी० के नेता सब एक प्लेटफार्म पर भाषण के लिए खड़े हैं। हर आदमी कहता है कि हमारा देश अनोखा देश है, उसकी परम्परा में ही अहिंसा है, यहाँ जितना आध्यात्मिक विकास हुआ है, उतना और कहीं नहीं हुआ। पर हर नेता जब भाषण समाप्त करता है, तो क्या कहता है? यही कि हमारा देश ऐसा है, जहाँ पहले महल और मंजिल बनते थे, तो उनमें हीरे जड़े रहते थे। कन्याकुमारी के दर्शन के लिए जाइये, तो वहाँ वे कहेंगे कि कन्याकुमारी की नाक की नथुनी में ऐसा हीरा जडा हुआ था, जिसका प्रकाश दीवाल में से जगमगाता था। उस प्रकाश को देखकर परदेशी का जहाज यहाँ आया और वे लोग हीरा ले गये। हमारे देश में ऐसा कोहेनूर हीरा था, जो विक्टोरिया रानी के मुकुट में जाकर बैठा। तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है कि रामराज्य में अयोध्या के रास्ते पर चन्दन और गुलाबजल का छिड़काव होता था। रामचन्द्रजी जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ सारी ऋतुएँ इकट्ठी होती थीं, फूल खिलने लगते थे, सूर्य शीतल होता था। यह कोई आध्यात्मिकता की व्याख्या नहीं है। हम कहना यह चाहते हैं कि पहले यह देश भौतिक सपत्ति से समृद्ध था, लेकिन आज हमारे पास कुछ भी नहीं है। पहले तो बहुत था। पहले ऐसा मालदार देश था, मगर आज हमारे पास फूटा टीकरा भी नहीं है। पहले हीरा था, तो विदेश के लोग चढ़ाई करके ले गये।

यह आकाक्षा मनुष्य को 'टेक्नॉलॉजी' के साथ बाँधती है। यह चित्त में जलन पैदा होने का लक्षण है। केवल पूर्वजो की महिमा पर अभिमान करना मिथ्या गर्व है। दूसरों की महत्ता से अपनी हीनता को छिपाना चाहते हैं। हमारे जो पूर्वज थे, हमारी जो परम्परा और इतिहास था, उसे हम दुनिया के सामने क्यों रखते हैं? हम कहते हैं कि 'आपका 'स्पुतनिक' तो आज है, हमारे तो पितर ही चन्द्रलोक में रहते थे। तू तो अब विमान में उडता है, हमारा राम पुष्पक-विमान में उडता था।' हम पूछते हैं कि 'तू कहाँ है?' तो कहेगा कि 'मैं तो पाताल में जाने की तैयारियाँ कर रहा हूँ।' यह ईर्ष्या है। इसमें से 'टेक्नॉलॉजी' का आकर्षण होता है। यह चीज अभाव में से पैदा होती है। वैभव नहीं है, पर वह वैभव के लिए लालायित है। इसमें लोभ अधिक रहता है। आशा और प्रतीक्षा में जितना लोभ होता है, उतना प्राप्ति में नहीं होता। जो चीज प्राप्त है, उसका मोह नहीं होता। पर जो प्राप्त नहीं, उसके लिए चित्त जलता रहता है।

हम आज इस स्थिति में हैं। भाषण का आरम्भ होता है इन बातों से कि

इस देश की संस्कृति में, परम्परा मे अहिंसा है, आध्यात्मिकता है। अहिंसा का उदाहरण भी दिया जाता है। पर भाषण की समाप्ति होती है ऐसी बातो से कि हमारे यहाँ ऐसे धनुर्धारी थे कि शब्दवेधी बाण मारते थे। 'एक डींग इधर और दूसरी डीग उधर।' वक्ता इतिहास का जितना वर्णन करता है, उतना ही आध्यात्मिकता का भी अवश्य करता है। यह सब वह धाक जमाने के लिए करता है। वह कहता है कि हमारा मेघनाद तो पाशुपतास्त्र, वाय्वस्त्र, अग्न्यस्त्र, सब छोड़ता था, आपका एटम तो अब आया है। हमारे बाप-दादा ने जो किया, वह करने की किसीकी ताकत नहीं है। पर अब ? वह कहता है कि मणिकर्णिका के घाट के सिवा स्थान नही।

यहाँ की जनता के हृदय मे, सुविद्य पडित के हृदय मे भी यह अन्तर्विरोध है। उसकी यह 'स्प्लिट' (विभक्त) पर्सनॅल्टिी है। इसलिए दोनो तरफ उसका आकर्षण होता है। नये-से-नये यत्र का आविष्कार होता है, तो कहता है कि हमारे यहाँ हमारे पूर्वज ऐसा आविष्कार कर चुके थे, यह कोई नयी चीज नही है। नतीजा यह होता है कि मुड-मुड़कर देखने मे ही वह रास्ता भूल जाता है। एक भाई मुगलसराय जाता है, मगर मुड-मुडकर काशी की ओर देखता है और कहता है कि यहाँ से काशी का दृश्य कितना सुन्दर लगता है ! इतिहास और परम्परा मे हमारी प्रगति पुच्छ की तरफ होती है, मुँह की तरफ नही। जिस तरफ प्रगति होनी चाहिए, उस तरफ नहीं होती।

काम टालने की प्रवृत्ति

इसके आकर्षण का एक और कारण है। वह यह कि पूँजीवाद और सामन्तशाही के युग के बाद मनुष्य मे इधर एक कुसस्कार आ गया है। मनुष्य का अधिक-से-अधिक काम उसका गुलाम करे, यह उसकी इच्छा रहती है। जैसे बर्तन मॉजने की मेरी बारी है, लोकेन्द्र कहता है कि 'रहने दीजिये, मैं कर दूँगा।' मैं यही सोचता था कि तू कहेगा, मगर अब तक तूने नही कहा। मै तेरी ऑख के इशारे की ही राह देख रहा था। पहले से ही ऐसा चाहता था !

यूनान और दूसरे देशो मे दोहरी नागरिकता थी। एक नागरिकता मालिक की, दूसरी नागरिकता गुलाम की। उसका आरोप अब हम कम्युनिस्टो पर कर रहे हैं—कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिस्ट, मुसलिम और गैर-मुसलिम। हिन्दुओ की सिर्फ दोहरी नागरिकता ही नहीं है, अनेकमुखी है। अगर कहना हो, तो सवर्ण नागरिकता और अवर्ण नागरिकता कह सकते हैं। सवर्ण नागरिक थे, अवर्ण नागरिक नही थे। वे सारे के सारे बहिष्कृत थे।

पहले मशक्कत का जितना काम था, वह गुलाम से कराते थे। बाद में वह पशुओं से कराया और पशुओं से जो न हुआ, वह स्त्रियों से कराया। भगवद्गीता में स्त्री, शूद्र और पशु, तीनों को एक कोटि में रखा है। शंकराचार्य ने भी वैसा ही कहा है। पशु या स्त्री से मशक्कत का काम करा लो। कौन-सा काम स्त्री से करायेंगे, कौन-सा पशु से करायेंगे, कौन-सा काम गुलाम से करायेंगे? तो इसमें दो तरह के काम होंगे : जिनमें दिमाग की जरूरत न हो और जिनको करने में इज्जत न हो। अप्रतिष्ठित और अकुशल काम हम स्त्रियों और पशुओं से कराते हैं। अब हम कहते हैं कि ये सारे काम हम यंत्रों से करायेंगे, यह एक आकर्षण है। दूसरा आकर्षण दिमाग की झंझट खतम होने का है।

एक महीने शिविर में रहकर लोकेन्द्र घर पहुँचता है। घर पहुँचते ही लोकेन्द्र से उसके भाई कहते हैं : 'अच्छा हुआ तू आ गया, तेरी ही राह देखता था। यहाँ तेरे लिए कुछ काम रखा है, जो तुझे करना है।' लोकेन्द्र कहता है : 'दिमाग का काम तो मैं करके ही आया हूँ। मेरे दिमाग को कोई तकलीफ न हो, खाने-पीने दो, सोचने का काम भाई साहब करें।' अब भाई साहब न करें तो कौन करे? तो यंत्र करे।

मनुष्य दिमाग के काम में भी प्रतिहस्तक, एजेण्ट चाहता है। वह चाहता है कि कोई मेरे बदले दिमाग का काम करे। चाहता है कि दिमाग से भी कम-से-कम काम लेना पड़े। दिमागी मेहनत से भी वह बचना चाहता है। आधा दिमाग यंत्र को सौंप देता है और आधा दिमाग विशेषज्ञ को दे देता है। अब ये दो हो गये और उसके दिमाग को छुट्टी मिल गयी।

संकल्प था कि यंत्र की सक्षमता बढ़ेगी, वैसे ही मनुष्य की कुशलता बढ़ेगी। मगर यह नहीं होता। विचार करने का आधा काम यंत्र को और आधा काम विशेषज्ञों को सौंपा, तो दिमाग की कोई आवश्यकता ही नहीं रही। 'रेलिगेशन ऑफ फंक्शन' होता चलता है। काम दूसरे पर टाला जाता है।

मैंने कहा था कि मनुष्य की अद्वितीयता बनी रहनी चाहिए। अद्वितीयता केवल शरीर की नहीं, उसके दिमाग की भी बनी रहे। अब यहाँ समन्वय कहाँ आता है? मशक्कत चाहे छोड़ दीजिये, कष्ट चाहे छोड दीजिये, लेकिन श्रम, व्यायाम की आवश्यकता है। आँख देखना छोड़ें, कान सुनना छोड़ें, तो उनकी शक्ति का विकास नहीं होता। उनकी शक्ति का विकास होना चाहिए। मनुष्य के दिमाग के लिए भी व्यायाम चाहिए।

उपकरण में व्यक्तित्व

यह चीज कृत्रिमता की तरफ ले जाती है। अत मे जिस तरह मनुष्य के खान-पान मे, पोशाक मे, उद्योग मे अभिरुचि प्रकट होती है, वैसे ही उसके उपकरण मे भी मनुष्य की अभिरुचि व्यक्त होती है। सबके फाउण्टेनपेन मेज पर रखे है। पहचानने की बात तो अलग रही, लेकिन एक कहता है कि यह फाउण्टेनपेन लोकेन्द्र का है। क्यो ? क्योकि दिखने मे भद्दा है ! यह सुन्दर पेन किसका है ? तो कहते है कि होगा किसी दूसरे का। मनुष्य जो उपकरण चुनता है, उसमे भी उसका व्यक्तित्व प्रकट होता है। यह है—व्यक्तित्व के साथ मनुष्य के उपकरण का अनुबन्ध। हमारी इन्द्रिय हमारे शरीर का हिस्सा है, तो हमारा उपकरण भी हमारे शरीर का हिस्सा होना चाहिए। तब सहजता आती है।

एक आदमी पटे का हाथ दिखला रहा है, ऐसा लचीला है, मानो हाथ ही घुमा रहा है। हाथ और पटे में फर्क न रहा। तलवार ऐसी शोभा दे रही है, जैसे हाथ का एक हिस्सा हो। फाउण्टेनपेन ऐसा चल रहा है कि मानो वह छठी उॅगली हो। उपकरण करण का अंग बनना चाहिए। करण याने इद्रिय। औजार इन्सान की उॅगलियो का, हाथ का, शरीर का अग बनना चाहिए। तब वह 'पर्सॅनॅलिटी' के साथ घुल-मिल जाता है।

कोई कहता है, जरा अपना फाउण्टेनपेन दे दीजिये। आप कहते है कि 'आपका इस्तेमाल करने का तरीका ऐसा है कि बाद मे वह बेकार हो जायगा।' भाईजी से मै पूछता हूॅ कि 'यह घड़ी कब की है ?' तो कहते है : 'दादा के जमाने की है।' 'अब तक चली ?' 'दूसरे को छूने ही नही देता हूॅ।' उपकरण मे मनुष्य के व्यक्तित्व का प्रकाश, उसकी आभा प्रकट होती है। मनुष्य के उपकरण के साथ शरीर का साधर्म्य होना चाहिए। तब व्यक्तित्व का विकास होगा, नही तो नही होगा।

साम्यीकरण और विशेषत्व

उपकरण उपकरण रहे और मैं मै रहूॅ, तो ये दो चीजे अलग-अलग रह जाती है। एक तरफ 'स्टैण्डर्डाइजेशन' है और दूसरी तरफ 'स्पेशलाइजेशन' है। 'स्टैण्डर्डाइजेशन' उपभोग के स्तर पर बढ़ रहा है, 'स्पेशलाइजेशन' 'सर्विस' और उत्पादन के स्तर पर। 'सर्विस' का मतलब है व्यवस्था। व्यवस्था और उत्पादन के स्तर पर विशेषज्ञता बढ़ रही है और स्टैण्डर्डाइजेशन उपभोग के स्तर पर बढ रहा है। इससे मनुष्य का व्यक्तित्व खो जायगा।

एक व्यक्तिमत्व है, दूसरा विशेषत्व। 'इण्डिव्हिज्युआलिटी' को हम 'व्यक्तित्व' कहेंगे और 'पर्सनॅलिटी' को 'व्यक्तिमत्व'। हर व्यक्ति अपने मे अद्वितीय है, अपने मे विभूति है। हरएक की एक विशिष्ट प्रतिभा है, उसे में 'जीनियस' कहता हूँ। आपका स्टैण्डर्डाइजेशन इस स्तर पर नहीं आना चाहिए।

'स्टैण्डर्डाइजेशन' का आकर्षण क्यों है? उसका पहला कारण दुर्भिक्ष है। वैभव की, प्रचुरता की, आकांक्षा है। उसका परिश्रम निरर्थक परिश्रम है, इसलिए आराम की आकांक्षा है। आज का किसान पशु की तरह, गुलाम की तरह, यंत्र की तरह काम करता है। इसलिए वह काम से छुटकारा चाहता है। इस कारण आज हमारे देश में सुविद्य पडितों की, सामान्य मनुष्य की भी दोहरी 'पर्सनॅलिटी' है। हमारी मॉग है कि 'स्टैण्डर्डाइजेशन' मनुष्य की सामान्यता का हो, 'स्पेशलाइजेशन' उसकी विशेषताओं का हो।

उत्पादन मे उपकरणों का संयोजन मनुष्य के व्यक्तित्व के अनुरूप होना चाहिए। संख्या चाहिए, तो भी स्टैण्डर्डाइजेशन एक हद तक, अभाव की पूर्ति तक, दुर्भिक्ष का निवारण होने तक हो। इसके आगे जब आप अति विपुलता की तरफ जाते हैं, तो भी हम विपुलता का विरोध नहीं करते। एक ही चीज कहते हैं कि मनुष्य की विशेषताओं का परिपोष होना चाहिए। उपकरण और उसकी इंद्रियॉ, दोनो मे साधर्म्य होना चाहिए। अपने-आप यह मर्यादा आती है।

हम कहते है कि उत्पादन की पद्धति मे मनुष्य की अभिरुचि व्यक्त होनी चाहिए। उपकरणो मे अभिरुचि होनी चाहिए। अभिरुचि में उसकी वृत्ति और सभ्यता प्रकट होगी। इसके बाद हम कहते है कि कष्ट चाहे निकाल लीजिये, लेकिन परिश्रम चाहिए, व्यायाम चाहिए। नहीं तो मनुष्य की इंद्रियॉ क्षीण हो जायॅगी। ऑख देखना छोड दे, तो जड़ हो जाय, पत्थर या कौड़ी बन जाय। कौडी और ऑख मे क्या फर्क है? ऑख देखती है, कौड़ी देखती नहीं।

यहॉ के मनुष्य के व्यक्तित्व में आध्यात्मिकता का गर्व और वैभव की आकांक्षा है। अभिमान आध्यात्मिकता का है, लेकिन सारी-की-सारी परिस्थिति मे वैभव की आकांक्षा है। एक तरफ ईश्वर है और दूसरी तरफ धन-कुबेर। 'भगवान् और कुबेर दोनों की उपासना एक साथ नहीं हो सकती', ईसा ने कहा है। हमारे देश मे आज इस अन्तर्विरोध के कारण मनुष्य का दोहरा व्यक्तित्व दिखाई पड रहा है।

२९-१-'६०

प्रात

मानस बदलना आवश्यक : ६ :

अभी हमारे विचार का मुख्य केन्द्र है : सघर्ष और अन्तर्विरोध। यह सघर्ष और अन्तर्विरोध दूर करना, उसे मिटाना, उसका निवारण करना क्राति का मुख्य क्रियात्मक अग है। हम उसकी प्रक्रिया का विचार कर रहे है। प्रक्रिया का अर्थ है पद्धति और मार्ग।

हम सोच रहे है कि सहजीवन मे मनुष्य के व्यक्तित्व का संरक्षण कैसे हो? हम देख रहे है कि एक तरफ तो यह आकाक्षा है कि टकसाली सिक्के की तरह सबका रहन-सहन एक-सा हो, और दूसरी तरफ यह आवश्यकता है कि हर-एक के अपने-अपने विशेष गुण और कौशल का भी विकास हो। पहली चीज हम यह चाहते है कि सबको एक तरह का जीवन मिले। सबका जीवन-मान एक प्रकार का हो। हम सबको स्टैण्डर्ड जीवन देना चाहते है। जहॉ तक मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताऍ है, उनका सामान्य स्तर सबको मिले। सब एक सतह पर आ जायॅ। पर यह जीवन स्थिर नही, गतिशील हो। उसकी प्रगति सामान्यता से उत्कृष्टता की तरफ हो। हम सबको समान बनाना चाहते है, लेकिन उसके समान, जो सबसे उत्कृष्ट है। ऊपर की तरफ हमे जाना है, नीचे की तरफ नहीं।

दूसरी चीज यह है कि हर व्यक्ति अपने मे अद्वितीय है और हर व्यक्ति मे विशेषता है। यह उसकी 'जीनियस'—विशेष प्रतिभा है। राष्ट्रवादी कहेगा कि मनुष्यो के समुदायो का भी एक व्यक्तित्व होता है, जिसे उनकी 'नेशनॅलिटी', राष्ट्रीय विशेषता, राष्ट्रीय स्वत्व कहते हैं।

व्यक्तित्व और राष्ट्रीयता

मेजिनी इटली मे राष्ट्र-धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। इसने 'ड्यूटीज ऑफ मैन' किताब लिखी। 'मानवीय कर्तव्य' नाम से उसका अनुवाद हुआ है। इस विषय पर इससे पहले टॉमस पेन की किताब निकली थी : 'दी राइट्स ऑफ मैन'। टॉमस पेन ने सबसे पहले 'कॉमन सेन्स' (साधारण सयॉपा) किताब लिखी थी। यह 'कॉमन सेन्स' पुस्तक अमेरिका की क्रान्ति की प्रेरक पुस्तक है।

इसके साथ-साथ उन्होंने दूसरी किताबें भी लिखीं : 'राइट्स ऑफ मैन' और 'दी एज ऑफ रीजन'। ये पुस्तकें एक भिन्न प्रवाह की हैं। समाजवाद से कुछ भिन्न प्रवाह इसमें है। समाजवाद में साधारण मनुष्य के अधिकारों का एक प्रवाह चल ही रहा था, लेकिन राजनैतिक क्षेत्र में साधारण मनुष्य के अधिकारों का प्रवाह चला। इन प्रवाहों को लेकर टॉमस पेन उस जमाने का क्रान्तिकारी प्रवक्ता बना।

इटली में मेजिनी राष्ट्रीयता का मंत्र-द्रष्टा बना। उसने एक सूत्र बनाया : 'नेशनेलिटी इज दी इण्डिविज्युआलिटी ऑफ ए पीपुल'। हर राष्ट्र का व्यक्तित्व उसकी राष्ट्रीयता है। यहाँ 'इण्डिविज्युआलिटी' का क्या अर्थ है? 'सेपरेट एक्जिस्टेन्स', पृथक् अस्तित्व। हमारे देश में श्री अरविन्द के पहले राष्ट्रीयता के दार्शनिक प्रवक्ताओं में दो मुख्य थे—विपिन पाल और ब्रह्मबान्धव उपाध्याय। राष्ट्रीयता पर विपिन पाल ने पुस्तकें लिखीं, जिनमें एक पुस्तक 'दी सोल ऑफ इण्डिया' है। इसके कई वर्ष बाद कलकत्ते के हाईकोर्ट में एक अंग्रेज चीफ जस्टिस सर जॉन उडरफ आया, उसने काली-पूजा, शक्ति-पूजा, तंत्र-विज्ञान पर किताबें लिखीं। उसने 'इज इण्डिया सिविलाइज्ड' नाम की एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी, जो हमारे काम की है। उसकी दूसरी पुस्तक है : 'दी सीड ऑव् रेस'। यानी हमारे वंश का बीज। हमारे भारतवर्ष की मानवता का, हमारी राष्ट्रीयता का बीज क्या है? इस प्रकार राष्ट्रों की विभूति का भी एक दर्शन संसार में प्रवृत्त हुआ। परन्तु आज हमारे लिए वह विषय प्रासंगिक नहीं है।

विशेषता का विकास

यहाँ हम मनुष्य के व्यक्तित्व के संरक्षण की बात सोच रहे हैं, केवल पृथक् अस्तित्व की नहीं। हर आदमी के लिए मकान, कपड़ा और भोजन की व्यवस्था समान होगी, पर हर आदमी की विशेषता है उसका व्यक्तिमत्त्व। हर मनुष्य में कुछ ऐसी बातें हैं, जो दूसरे में नहीं। यह जो दूसरे से अलग करनेवाली चीज होती है, वह है विशेष गुण-धर्म। हर व्यक्ति में जो विशेष गुण-धर्म है, उसीको 'व्यक्तिमत्त्व' कहते हैं।

हम कहते हैं कि हर मनुष्य की सामान्यता का अनुभव होना चाहिए, साथ-साथ हर मनुष्य की विशेषता का विकास होना चाहिए। हम 'स्टैण्डर्डाइजेशन' और 'सेक्युलराइजेशन' का समन्वय करना चाहते हैं। भौतिक, प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति तक समानता हो। इससे विशेषज्ञ का नहीं, सामान्य व्यक्ति का विशिष्टीकरण हो। विशेषज्ञ का 'विशिष्टीकरण' अलग चीज है और व्यक्ति का

अलग चीज। विशेषज्ञ की आवश्यकता होगी, लेकिन साथ-साथ सामान्य व्यक्ति की विशेषता का भी विकास आवश्यक है।

उपकरणों की व्यवस्था

उपकरणो की व्यवस्था मे विवेक होना चाहिए। हर मनुष्य की प्राथमिक भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए संयोजन चाहिए, समझौता नहीं। 'समझौते' का मतलब है, येन केन प्रकारेण भौतिक आवश्यकता की पूर्ति। 'येन केन प्रकारेण' जब हम कहते है, तो किसी मर्यादा का विशेष आग्रह नही। दुर्भिक्ष मे कोई मूल्य नहीं पनप सकता। दुर्भिक्ष मे मूल्य जड ही नही पकडता, वह मुरझा जाता है, जल जाता है। तो दुर्भिक्ष के मामले मे हम समझौता नहीं चाहते। दुर्भिक्ष के निवारण में सबका निरपेक्ष सहयोग होना चाहिए। भूख मिटानी है, लेकिन हरएक अपनी-अपनी तरकीब लिये बैठा है। हर आदमी कहता है कि अगर मेरी तरकीब से भूख न मिटेगी, तो भले ही न मिटे। आग तो बुझानी है, लेकिन मेरी युक्ति से बुझे, तभी बुझानी है। ऐसा विवाद हो जाता है और मकान जल जाता है! इसलिए उत्कटता चाहिए। आग बुझानी है, तो जिस तरह बुझे, उस तरह बुझानी है। लड़के का बुखार मिटाना है, तो फिर होमियोपैथी हो, नेचरोपैथी हो, एलोपैथी हो या कोई भी 'पैथी' हो; लेकिन मिटना चाहिए। इन सब 'पैथियो' मे अगर 'सिम्पैथी' (सहानभूति) न हुई, तो सब पैथियाँ बेकार है।

रोग-निवारण की तरह सकट-निवारण के क्षेत्र मे सबका समान भूमिका से सहयोग होना चाहिए। सामान्य संकट का निवारण सामुदायिक पुरुषार्थ से होना चाहिए। यहाँ हम कोई पद्धति लेकर नही जाते। हम कहते हैं कि जिसका संकट मिटाना है, उसे साबित रखिये। दादा के मकान मे आग लगती है। मकान को आपने बचाया और दादा को जलने दिया! आप कहेंगे कि हम तो मकान बचाने के लिए आये थे, दादा को बचाना हमारा 'काम' नही था। मैं कहता हूँ कि विवेक इतना ही रखिये कि जिसका संकट-निवारण करना है, वह साबित रहे।

साबित रखने की चीज है—व्यक्तिमत्व, मानवीय विशेषता। हम मानव-केन्द्रित व्यवस्था पर विचार कर रहे हैं। मानव-केन्द्रित से हमारा मतलब है: मानवता-केन्द्रित। हर मानवीय विशेषता समाज-जीवन की पोषक होनी चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य तो अपने आनन्द के लिए होता है। तो उसे छापते क्यो हो? चित्र अपने आनन्द के लिए बनाते हो, तो घर में क्यो

नहीं रखते ? हमारे चित्त से तुम्हारे साहित्य का क्यों सम्बन्ध आता है और तुम्हारे चित्र का हमारी आँख से क्यों सम्बन्ध आता है ?

मनुष्य का कोई गुण असामाजिक नहीं हो सकता। गुण या चारित्र्य का आरम्भ समाज से ही होता है। मनुष्य मे कोई ऐसी विशेषता नहीं, जो असामाजिक हो। मनुष्य मे जो विशेषता प्रकट होगी, वह हमेशा समाज से प्रकट होगी और समाज को आगे ले जायगी। जो समाज मे से प्रकट नहीं होगी, उसका कभी आपको ज्ञान भी नहीं होगा।

ग्रे कहता है कि देहात के आदमी न जाने कितने बडे-बड़े रहे होगे। इनमें कोई क्रामवेल रहा होगा, कोई मिल्टन रहा होगा। हमे इसका पता नहीं है। ऐसे बहुत-से फूल जंगल में खिलते है, जिनका पता हमें नहीं चलता। जिनका पता चलता है, उनका पता समाज मे ही चलता है। इसलिए यदि व्यक्तित्व का परिपोष होगा तो समाज मे ही होगा। परिपोष व्यक्तित्व मे होगा, तो यहाँ होगा।

साधना-केन्द्र बना, तो शंकररावजी ने कहा कि "जहाँ तक भौतिक जीवन का सम्बन्ध है, वहाँ तक सहकार्य होगा। जहाँ तक व्यक्तिगत जीवन का सम्बन्ध है, तो हर व्यक्ति के लिए वह स्वतत्र, अलग-अलग होगा!" इसे 'स्वतन्त्रता की समस्या' कहते है। यन्त्रविद्या से हम क्या माँगते है? उपकरण ऐसे हो, जिनमें मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता हो।

कलात्मकता और अभिरुचि

हमारी दूसरी माँग यह है कि उपकरण ऐसा हो, जिसमे व्यक्ति की कलात्मकता और अभिरुचि का विकास हो। एक को हम गुणात्मक कहेंगे और दूसरे को आकारात्मक कहेंगे। समाजवाद और साम्यवाद ने हमे क्या सिखाया? पहले क्रान्ति परिमाणात्मक होती है, बाद मे गुणात्मक। उनका यह बडा सिद्धान्त है। दूसरा बड़ा सिद्धान्त यह है कि परिमाण व्यापक होता है, तो गुण मे बदल जाता है। इन सिद्धान्तों को उन्होंने 'डॉगमों' बना रखा। 'डॉगमों' से मतलब है कि ऐसा सिद्धान्त, जिसके बारे में मनुष्य फिर से सोचता नहीं है। यह वास्तविकता नहीं है। मार्क्स का विज्ञान बहुत वास्तविक नहीं है, क्योंकि विज्ञान मे रोज प्रगति हो रही है। इसमे बहुत बहस करने की कोई आवश्यकता नहीं।

परिमाणात्मक को गुणात्मक में बदलने के लिए मनुष्य के व्यक्तित्व का सरक्षण होना चाहिए और इसके अनुरूप उपकरण होने चाहिए। हर व्यक्ति

की विशेषता के अनुरूप उपकरण उसे मिलने चाहिए। टकसाली प्रक्रिया को हमने एक हद तक मंजूर किया। हमने उसकी मर्यादाएँ बतलायी कि सेना मे तैयार वर्दी मिलती है, क्योकि सबका शरीर करीब-करीब एक आकार का होता है। जूते भी वहाँ एक नाप के होते हैं। क्योकि पैर भी सबके करीब-करीब एक आकार के होते है। जूता बहुत आरामप्रद तब होता है, जब वह आपके पैर का बना हो। आपके लिए ही चीज बनती है, तो वह आपके अनुरूप होनी चाहिए। यह बात तो उपभोग की चीजो के लिए है। अब उपकरण को लेगे। फाउण्टेनपेन और सितार का उदाहरण दिया जा चुका है। आप चरखा कात रहे है और भाईजी इधर-उधर घूम रहे हैं। आपने भाईजी से पूछा 'क्यो भाई, क्यों घूम रहे हो?' वे कहते है कि 'मै अपना चरखा ढूँढ रहा हूँ।' आप कहते हैं कि 'जरूरत हो तो मेरे चरखे से कात लीजिये।' वे कहते है : "अपने चरखे पर मेरा हाथ सध गया है, दूसरे चरखे पर हाथ सधा नही है।" औजार मे और इन्सान मे, मनुष्य के करण और उपकरण मे 'अगअगी' सम्बन्ध होना चाहिए। वह हमारे शरीर का हिस्सा बनना चाहिए। शरीर का हिस्सा बनने पर सहज कुशलता आती है।

पहाड़ चढने मे जूता उतारना पड़े, दौड़ने मे उतारना पड़े, तो जूता एक-दम ठीक नहीं है। विनोबा से पूछेगे कि आपके पास सबसे अच्छी चीज क्या है, तो वे कहेगे कि हमारा जूता है, क्योंकि इसको पहनकर बगैर तकलीफ के मै दस मील चल सकता हूँ। वह मेरे पैर की शक्ति बढाता है। यहाँ पैर की शक्ति मे बढ़ोतरी हुई। उपकरण का दूसरा पहलू आ गया। उपकरण हमारे शरीर का अग ही बने, इतना ही काफी नहीं; बल्कि उस अग की शक्ति को बढाये, यह भी जरूरी है। उपकरण की विशेषता केवल कला के क्षेत्र तक सीमित थी। हमने कहा कि उत्पादन के क्षेत्र मे भी कलात्मकता आनी चाहिए। नही तो क्या होगा? बड़े-से-बडा पडित भी असस्कृत रह जायगा। डॉ० जॉन्सन अपने जमाने के बहुत बडे विद्वान् थे। विद्वच्छिरोमणि थे। एक दफा उन्हे सगीत की एक बैठक मे बैठा दिया। जब वे उठने लगे तो किसीने पूछा कि 'कैसा लगा?' तो उन्होंने कहा कि "इट इज द लीस्ट डिसएग्रिएबल ऑफ ऑल नॉइजेज।" 'दूसरे कोलाहल की अपेक्षा यह कम कर्णकटु है।' यह डॉ० जॉनसन का हाल था। और शिक्षणशास्त्री कहते है कि जिसे सगीत मे रुचि नही है, वह असंस्कृत है।

मतलब यह कि साधारण मनुष्य मे कला की अभिरुचि पैदा होनी चाहिए और वह उसके उद्योग मे प्रकट होनी चाहिए। मान लीजिये कि आपने मुझे

और एक लड़की को तराशने के लिए देख दिया। मैंने तो छिलके के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, जब कि उस लड़की ने चाकू हटाये बिना एक ही छिलका उतारा, तो इसे 'सिफत' कहते हैं। इसमें शोभनीयता और कला दोनों है। टेक्नॉलॉजी में इस शोभनीयता और कला का संरक्षण होना चाहिए। नहीं तो हमेशा एक मूलभूत संघर्ष रह जायगा। उत्पादन की भूमिका पर मनुष्य केवल उत्पादन का चिन्तन करेगा और उससे अलग होने ही संस्कृति का विचार करेगा। हमें दोनों में सामंजस्य करना चाहिए।

वैभव-लोलुपता और आराम-प्रियता

आधुनिक यंत्र-व्यवस्था में दो तरह के आदमी हैं। एक वे हैं, जो अब तक गुलाम, पशु, स्त्री से काम लेते रहे और अब यंत्र से काम लेना चाहते हैं। वे अपना दिमाग भी नहीं चलाना चाहते। आज मनुष्य अपने व्यवसाय को टाल रहा है। वह कहता है कि कुछ काम यंत्र को दीजिये और कुछ विशेषज्ञ को। तो यंत्र को भौतिक काम दिये और विशेषज्ञ को दिमागी काम। इस तरह वह स्वयं प्रयोजन-हीन बन गया। यह मनुष्य का स्वभाव नहीं, कुसंस्कार है। पूँजीवाद के कारण आया हुआ कुसंस्कार है। जैसे अंग्रेजों के राज्य से आया हुआ कुसंस्कार बहुतों को लगा है कि वे शुद्ध हिन्दी या शुद्ध मातृभाषा में बोल नहीं सकते। सवेरे छह बजे बेरा चाय पिलाता है, तो बिस्तर में ही चाय पीने की आदत हो जाती है। परिस्थिति से जो कुसंस्कार बनते हैं, उनसे वैभव-लोलुपता और विश्राम-प्रियता आ जाती है। परन्तु वैभव-लोलुपता और विश्राम-प्रियता मनुष्य का स्वभाव नहीं है।

हम देखते हैं कि दो जगह दो संघर्ष आये। पश्चिम के देशों में मानसिक, दिमागी संघर्ष आया, हमारे देश में यांत्रिक। वहाँ मानसिक स्तर पर संघर्ष आया, हमारे यहाँ उत्पादन की पद्धति के स्तर पर। यों अलग-अलग सतह पर विरोध और संघर्ष पैदा हो गया है। लेकिन यह मनुष्य का स्वभाव नहीं।

आप लोग इस शिविर में आये। कृष्णराजभाई अगर आप लोगों को यह लिखते कि यहाँ आते समय थाली, कटोरा, लोटा, गिलास तो आप लाइये ही, साथ-साथ रोटी बनाने के बर्तन और झाड़ू भी लेते आइये; ठंड के दिन हैं, इसलिए बिस्तर भी काफी लेते आइये, तो यह कोई बेजा बात नहीं होती। तो भी आप कहते कि यह शिविर अच्छा रहा, जो हमें गदहा बनाता है और सवार भी।

दूसरी चिट्ठी करणभाई लिखते हैं। वे लिखते हैं कि आपको बिस्तर लाने

की जरूरत नही। यहाॅ गाधी-आश्रम है, वहाॅ से हजारो कम्बल हम दे देगे। चाय पीने के प्याले भी यहाॅ मौजूद है। चम्मच, थाली, कटोरी आदि यहाॅ सब मौजूद हैं। पलग, चौकी, गद्दी भी मौजूद है। आपको करना क्या है? सिर्फ सोना है। इस दूसरी व्यवस्था मे आपको ज्यादा आराम होगा या नही?

परिग्रह मानव का स्वभाव नहीं

अमीर इतना सामान ढोता है, तो क्या यह उसका स्वभाव है? सामान ढोना, परिग्रह करना मनुष्य का कुसंस्कार है। परिग्रह मनुष्य का स्वभाव नहीं है। "एक्वीजीशन फॉर पजेशन।" 'एक्वीजीशन' का अर्थ है प्राप्त करना, अर्जन करना, यहाॅ वह कमाने के अर्थ मे नही है, प्राप्त करने के अर्थ मे है। मराठी और गुजराती मे इसके लिए अच्छा शब्द है, 'सम्पादन करना'। वस्तु को सम्पादन करना 'योग' कहलाता है। 'पजेशन' का अर्थ है 'क्षेम'। तो 'एक्वीजीशन फॉर पजेशन' का अर्थ 'योग-क्षेम' हुआ। वस्तु को जुटाना और वस्तु को रखना। ये दोनो बाते आदमी का स्वभाव नहीं है। मनुष्य को सॅभालने का शौक नही है। चीज को ढोये और सॅभाले, यह उसका स्वभाव नही।

टॉनी ने अंग्रेजी मे एक किताब लिखी है: 'एक्विजिटिव्ह सोसाइटी'। ऐसा समाज, जिसमें वस्तु के उपार्जन और संग्रह का शौक है। मनुष्य को उपार्जन का शौक नही है। मनुष्य की प्रेरणा निर्माण की प्रेरणा है, उपार्जन की नही। उपार्जन की प्रेरणा मनुष्य मे संस्कार है, वह उसका मूल स्वभाव नही। हिन्दी मे उसे 'उपादान' भी कहते है। उपादान करना याने चीजो को जुटाना, संग्रह करना। उसके साथ-साथ परिग्रह भी आता है। परिग्रह मनुष्य का स्वभाव नही है। मनुष्य उपभोग करना चाहता है, लेकिन परिग्रह करना नहीं चाहता। वह चाय पीना चाहता है, चाय का सामान ढोना नहीं चाहता।

गोविन्दराव और उसका एक साथी, दोनो सिंहगढ़ पर चढ़ते है। वे सोचते है कि साथ मे जो सामान है, उसमे से क्या-क्या कम करे?

गोविन्दराव कहता है कि "ओढ़ने-बिछाने का सामान तू ले और खाने का मै लेता हूॅ।"

वह पूछता है कि "क्यो भाई, ऐसा क्यो?"

गोविन्दराव कहता है कि "मेरा यह सामान लगातार कम होता जायगा, तेरा चोटी तक रहेगा।"

जो बोझ उपभोग के साथ क्षीण होता चला जाता है, वह मनुष्य को प्रिय

लगता है। उपभोग के साथ जो बोझ बढ़ता है, वह प्रिय नहीं लगता। इसलिए परिग्रह मनुष्य का स्वभाव नहीं।

लोग कहते हैं कि मालकियत की प्रेरणा नहीं होगी, तो लोग काम कहाँ से करेंगे? प्रेरणा कहाँ से आयेगी? हमारा कहना है कि काम की प्रेरणा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वह दब गयी है, ढँक गयी है। काम की प्रेरणा खोजने की आवश्यकता नहीं है। सिर्फ कुसंस्कार मिटाना है। कृष्ण-राजजी की छोटी लड़की से 'कूदो-कूदो' नहीं कहना पड़ता। 'चुप बैठो', 'चुप बैठो' कहना पड़ता है!

तो, हमने देखा कि आराम या निठल्लापन मनुष्य का स्वभाव नहीं है। पर यंत्र-व्यवस्था का आकर्षण किस चीज में है? उसका एक आकर्षण तो है प्रचुरता का, दूसरा है आराम का। आराम का आकर्षण भी प्रतिक्रिया है। जैसे हमारे यहाँ गरीबी, मोहताजी और बेकारी के कारण यंत्रों का आकर्षण है, वैसे ही पश्चिम में भी यंत्रों का आकर्षण अब तक प्रतिक्रियात्मक ही है। जिन वर्गों को बहुत श्रम करना पड़ा, उनका सपना क्या था? यही कि हम आराम करेंगे। नौकरी में निवृत्त होंगे, तो क्या करेंगे? पचीस साल तक नौकरी की, अब आराम करेंगे।

क्या आराम करने के दिन अर्थी पर जाने के दिन हैं? आराम मनुष्य का स्वभाव, उसकी मूल प्रेरणा नहीं है। मनुष्य के स्वभाव में मूल प्रेरणा काम की है। जैसे चलने की, दौड़ने की प्रेरणा। ये प्रेरणाएँ उसके शरीर की मूलभूत प्रेरणाएँ हैं। पर इनका उपयोग उसे करना पड़ता है आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, न कि विशेषता के विकास के लिए। सार्वजनिक उत्पादन के लिए प्रेरणा कहाँ से आती है? वह कहीं से नहीं आती। वह तो मनुष्य में मौजूद ही है। वह कहीं से आती, तो चली भी जाती, पर ऐसा है नहीं। वह उसका स्वरूप है।

पूँजीवाद के दो आधार

दूसरी तरफ देखिये। गरीब गरीबी की मुसीबत क्यों सहता है? क्या जवाब है इसका? यही कि रात चाहे जितनी काली हो, उसका अन्त आता ही है। हर गरीब को आशा है कि वह अमीर बन सकता है। जो अमीर हैं, वे बने हुए हैं। अमीर पैदा थोड़े ही होते हैं। जिनकी कोख से वे पैदा हुए हैं, वे भी बने हुए हैं। अगर रंगीय व्यास अमीर बन गया, तो भट्टाचार्य कहता है कि मैं क्यों नहीं? एक मनुष्य ने जो किया, वह दूसरा मनुष्य कर सकता है, यह

आशा है। अमीर अमीरी क्यों ढोता है? उसे गरीब बनने का डर है। हर अमीर को यह खतरा है कि कल कहीं वह गरीब न हो जाय; क्योंकि उसने अमीरों को गरीब बनते हुए देखा है। गरीब को उम्मीद है कि मैं अमीर बन सकता हूँ। यहाँ एक को डर है, तो दूसरे को उम्मीद। ये पूँजीवाद के आधार हैं। दो खम्भों पर पूँजीवाद खड़ा है : एक खम्भा है अमीर का डर और दूसरा खम्भा है गरीब की उम्मीद।

जिस तरह शस्त्र का एक मानस, युद्ध का एक मानस, मशीन का एक मानस है, उसी तरह अमीर का और गरीब का भी एक-एक मानस है। मनो-नियंत्रण और मस्तिष्क-प्रक्षालन के सिलसिले में पहले इसकी चर्चा आयी थी। पश्चिम में गांधी के सत्याग्रह की बहुत किताबें निकली हैं। वे कहते हैं कि समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया केवल आर्थिक और सामाजिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि मानसिक भी है। मानस-शास्त्र के स्तर पर भी इस समस्या का मुकाबला करना होगा। समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया केवल आर्थिक, राजकीय प्रक्रिया नहीं; मानस-शास्त्र की भी प्रक्रिया है।

गरीब का मन और अमीर का मन ऐसा बना है। इसके लिए परिस्थिति को बदलने की आवश्यकता है। जो कुसंस्कार केवल परिस्थिति से हैं, उसे बदलने की आवश्यकता है। किसीको बुखार आता है। मैं पूछता हूँ कि बुखार क्यों आया? तो कहते हैं कि धूल है, पानी खराब है। तब हम कहते हैं कि "इनको यहाँ से सेवापुरी हटाओ।" इस तरह परिस्थिति को बदल देते हैं।

बीमारी परिस्थिति से पैदा हुई, तो परिस्थिति को ही बदल दिया। लेकिन परिस्थिति से सब कुछ नहीं बनता। हमने सन् १९२०-२१ में कॉलेज छोड़ा। कॉलेज तो छोड़ा, पर अब किया क्या जाय? अध्ययन किया जाय, ऐसा सोचकर हम राज्यशास्त्र की एक किताब खरीदने गये। टॉमस बकल की किताब थी : 'हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन'। उसमें लिखा था कि जिस देश की जैसी आबोहवा होती है, वैसा आदमी बनता है। इटली में कैसी आबोहवा है? 'अगर दस सिपाही होंगे, तो दसों कप्तान होंगे'। हर सिपाही कप्तान था। जिनके साथ मैं बैठता था, उनसे पूछा कि भारत की आबोहवा कैसी है? तो उन्होंने कहा कि "यहाँ दस सिपाही और ग्यारह कप्तान हैं।" मैंने दूसरा सवाल पूछा कि "यहाँ स्वराज्य कब आयेगा?" तो उन्होंने कहा : "आबोहवा नहीं बदलेगी, तब तक नहीं आयेगा।"

गनीमत यही है कि परिस्थिति के प्रभाव की भी एक मर्यादा है। यह मर्यादा न होती, तो क्रान्ति सम्भव न होती। प्रतिक्रिया से क्रान्ति नहीं होती।

ये दोनों दो परिस्थितियों की प्रतिक्रियाएँ हैं। एक पश्चिम के लोगों की और दूसरी हमारी, जो नंगे, भूखे और बेकार हैं। नंगे, भूखे और बेकार लोग कहते हैं कि पहले हमें अमेरिका जैसा बनना है, फिर देखेंगे। बाद में अध्यात्म आयेगा।

मैं जब कॉलेज छोडनेवाला था, तब अपनी बूआ से मैंने बात की। उन्होंने कहा कि "कॉलेज क्यों छोडना चाहते हो?" मैंने कहा: "महात्माजी के पीछे जाना है।" वे बहुत बुद्धिमान् थीं। उन्होंने कहा कि "गांधीजी तो पहले बॅरिस्टर बने, फिर महात्मा बने। तू पहले अपनी पढ़ाई पूरी कर, फिर महात्मा के पीछे जाना।"

यहाँ का आदमी क्या सोचता है? पहले अमेरिका जैसा सम्पन्न बनूँ, बाद में अध्यात्म आयेगा। यह उसका मनोविज्ञान है। पहले शस्त्र में अमेरिका और रूस की बराबरी होगी, बाद में अहिंसा आयेगी। पहले उनका वैभव आयेगा, बाद में संयम आयेगा। ये दोनों प्रतिक्रियाएँ ही हैं।

परिस्थिति और प्रतिक्रिया

परिस्थिति के बदल देने से प्रतिक्रियाओं का निवारण एक हद तक हो सकता है। इसलिए परिस्थिति को बदलना आवश्यक होगा। लेकिन उसे बदलने में ऐसे तरीके से काम न लें कि दूसरी प्रतिक्रिया पैदा हो। नहीं तो प्रतिक्रिया की परम्परा चल पड़ेगी। अनन्त प्रतिक्रियाएँ होंगी, जिनका अन्त नहीं आयेगा। परिस्थिति है यह माना, उसे बदलना है यह भी माना, लेकिन परिस्थिति को बदलने से दूसरी प्रतिक्रिया पैदा होगी तो क्या होगा? फिर वही दुष्ट चक्र चलता रहेगा। इस चक्र को नहीं चलने देना है। हमारा लक्ष्य है कि समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया ऐसी हो, जिसमें से दूसरी प्रतिक्रिया पैदा न हो। क्रान्ति की भाषा में कहें, तो ऐसी प्रक्रिया हो कि जिससे प्रति-क्रान्ति पैदा न हो, जिसका कम्युनिस्टों को डर है।

दो प्रतिक्रियाएँ हैं। एक अमीर की और दूसरी गरीब की। एक पश्चिम की और दूसरी पूर्व की। वहाँ का आदमी आरामतलब, विश्रामप्रिय हो गया है। विश्रामप्रिय का मतलब बिस्तर पर लेटना नहीं। वहाँ का आदमी फुटबॉल खेलेगा, इंग्लिश चैनल तैरेगा, पहाड़ पर चढ़ेगा। पश्चिम के और यहाँ के आदमी की यह एक पहचान है।

मैं जब छोटा था, तो एक टूर्नामेंट देखने गया था। मेरे दो चाचा टूर्नामेंट में व्यवस्था करने के लिए शामिल हुए थे। एक डॉक्टर थे और दूसरे वकील।

डॉक्टर ने कोट-पैण्ट पहना था, वकील ने मराठी पोशाक पहनी थी। कुछ काम हुआ तो डॉक्टर दौड़े। दूसरी बार कुछ काम हुआ तो वकील दौडने लगे। सब हँसने लगे। यहाँ का आदमी दौडता है, तो सब हँसते है। वहाँ का चर्चिल भी दौडे, तो कोई नही हँसेगा। कोई लडकी साइकिल पर जाती है, तो कहते है कि यह तो 'मेम साहब' है। हमारे यहाँ की लड़की साइकिल पर कैसे जा सकती है ? दोनो के रुख मे फर्क है।

आरामतलब का मतलब यह है कि मनुष्य उस परिश्रम से बचना चाहता है, जो दूसरो के लिए करना पडता है। वह काम नही चाहता, खेल चाहता है। काम दूसरो के लिए करना पडता है, उससे उसे नफरत हो गयी है। यह प्रतिक्रिया है।

हमारे साथ ब्राह्मणेतर लडके पढते थे। मै ब्राह्मणेतर-आन्दोलन मे हिस्सा लेता था। मै कहता था कि यह ब्राह्मणेतर-आन्दोलन आवश्यक है। मेरे भाषण से ब्राह्मणेतर लड़के खुश हुए। मेरे एक साथी ने उठकर कहा कि "यह मेरा दोस्त है। इसने जो भाषण किया, उसकी मुझे कद्र है। लेकिन क्या करूँ ? मेरे मन मे जो जलन है, वह इसके मन मे नही हो सकती; क्योकि मेरी माँ को इसकी माँ के जूठे बर्तन माँजने पड़े है। यह मेरे जूठे बर्तन माँजता है, तो शौक से माँजता है। लेकिन मै इसके जूठे बर्तन नही माँजूँगा; क्योकि मेरी माँ ने इसकी माँ के बर्तन माँजे है।" यह प्रतिक्रिया है।

ऐसी प्रतिक्रिया गरीब-अमीर के मन मे है। यह मानस है। इस मानस पर आक्रमण करना है, तो करो। शिक्षण से, विचार से, प्रचार से इस मानस को बदलना है।

मनुष्य स्वभाव से श्रमनिष्ठ है, इसके लिए बाह्य प्रेरणा नहीं चाहिए। शिक्षण, विचार-प्रचार की आवश्यकता इसलिए है कि कुसस्कार मिटे। बाद मे 'प्रेरणा' खोजनी नहीं पडेगी। 'प्रेरणा' स्वाभाविक है।

२९-१-'६०

सायं

कर्म-स्वातन्त्र्य की विकृति

इस देश के सामान्य मनुष्यों और विशिष्ट मनुष्यों के व्यक्तित्व में जो एक विरोध है, उसका विचार हमने किया। आकांक्षा वैभव की है और दर्शन, तत्त्वज्ञान सारा का सारा अध्यात्म का है। नतीजा यह है कि व्यवहार और धर्म दोनों अध्यात्म से कुछ अलग पड़ गये हैं।

अब हम देखें कि व्यवहार और धर्म में कैसे विरोध आता है? सारे धर्मों में अच्छे कामों का क्या फल बतलाया गया है? कहते हैं कि क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे, उस हाथ ले! कलजुग नहीं, करजुग है यह! अच्छे काम करोगे तो शान्ति, स्वास्थ्य, सुख और संपत्ति मिलेगी। आशीर्वाद भी यही देते हैं शान्तिः, पुष्टिः तुष्टिश्चास्तु। शान्ति, सुख और स्वास्थ्य मिले।

धर्म के सब फल भौतिक

ये सारे-के-सारे फल भौतिक हैं या आध्यात्मिक? ये सब भौतिक हैं, शारीरिक हैं। धर्म ने सदाचार और धर्माचरण के जितने फल बतलाये हैं, सबके सब भौतिक हैं। आरोग्य भी शरीर का, स्वास्थ्य भी शरीर का, फिर यह आरोग्य किसलिए? दीर्घायु के लिए। हम जब किसीका अभीष्ट-चिन्तन करते हैं, तो क्या करते हैं? यही कि उसे आरोग्य मिले और दीर्घायु मिले। आरोग्य किसके साथ होता है? शरीर के साथ। जीवेम शरदः शतम्। ऋषियों ने प्रार्थना की कि सौ शरद् ऋतुएं हमारे जीवन में आयें। पश्येम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्। अन्त में कहा, अदीनाः स्याम शरदः शतम्। यानी दीनता न हो, दैन्यता न हो। सौ साल तक जीयें, पर साथ-साथ दीनता न हो, दैन्यता न हो। जिजीविषेत् शतं समाः। 'शतम् समाः' याने सौ साल। शत वर्ष का जीवन हमारा इष्ट हो। शत वर्ष तक आप जीयेंगे। आप सौ साल तक जीयें, तो आपको आरोग्य का पालन करना होगा। आप अगर आरोग्य के नियमों का पालन करेंगे, तो फल क्या होगा? आपका शरीर ज्यादा दिन टहरेगा। धर्म के जितने भी फल हैं, वे भले हों या बुरे, सबके सब शरीर से सम्बन्ध रखते हैं।

बीमार क्यों हुए, पूछा जाय तो कहेंगे कि कुछ पाप किया होगा, कुछ

अपराध किये होंगे ! लोकेन्द्र कहता है कि मैं जब डिब्बे में चढ रहा था, तो एक भूखे ने रोटियाँ माँगी, मैंने नही दी, तो डिब्बे मे चढते-चढ़ते मेरा पाँव फिसल गया। रोटियाँ भी गयी और चोट भी लगी ! तो, यह फल किसको मिला ? आत्मा को मिला क्या ? सदाचरण का और धर्म-पालन का फल शारीरिक सुख और दुख बतलाया गया है। इसलिए मनुष्य को जरा, व्याधि और मृत्यु, इन तीनो का भय है। बुढापा, बीमारी और मौत का सबध तो शरीर से ही है।

दुःख से शिक्षण

हम कहते हैं कि यह दुःख हमे शिक्षण देने के लिए आया है। भगवान् ने दुःख इसलिए भेजा है कि हम उससे नसीहत ले, शिक्षण ले, सबक सीखे। यह ईसामसीह का कोडा है। ईश्वर का भेजा हुआ यह दड हमे जाग्रत करने के लिए है। "तूने अपराध किया, तो तू बीमार हुआ। अपराध न करता, तो तू बीमार न होता।" गाधी बीमार पड़ने पर कहते थे कि हमारे आचरण मे अशुद्धि रह गयी, इसलिए हम बीमार हुए। विनोबा भी यही कहते हैं। उनका एक सिद्धान्त और भी है। बुढापे मे शक्तियाँ शिथिल नही, परिपक्व होनी चाहिए। बुढ़ापा फल का सूखना नहीं है, फल का पकना है। जवानी उसका गदराना हुआ, बुढापा उसका पकना। हमारी सारी प्राकृतिक शक्तियो का परिपाक होना चाहिए। बुढ़ापे मे उसके बदले अपक्षय होता है। धीरे-धीरे शक्ति क्षीण होने लगती है। इसका क्या जवाब है ? तो कहेगे कि बाल्यावस्था और तारुण्य का दुरुपयोग किया गया, इसीलिए बुढापे मे क्षीण होते है। दुरुपयोग न करते, तो बुढ़ापे मे क्षीण न होते। बुढापे मे शक्तियाँ पक्व होनी चाहिए। उस परिपक्वता मे सौम्यता होगी। लेकिन शक्ति आपकी परिपक्व होनी चाहिए, किसी भी तरह से क्षीण नहीं होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि सदाचरण और धर्माचरण शरीर से सबध रखता है। दड और पारितोषिक भी शरीर से सम्बन्ध रखता है। अच्छे काम के लिए इनाम है और बुरे काम के लिए सजा। उनका भी शरीर से सम्बन्ध होता है।

भय और लोभ की प्रेरणाएँ

नरक के नकशे दिखाये जाते हैं। उसमे कही किसीको तलते है तो किसीको आरी से चीरते हैं। पर चीरते किसको है ? शरीर को ही न ? आत्मा को तो नहीं न ? वहाँ उन्हे तलने के लिए और काटने के लिए दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। ये हमे यह दिखलाते है कि परलोक मे क्या होगा ? इसी

तरह इस लोक में यदि एक तरफ चोर का चित्र होगा तो दूसरी तरफ जेलखाने का; एक तरफ दान का चित्र होगा, तो दूसरी तरफ सभा में मालाएँ पहनायी जायँगी।

यह वस्तु बुनियादी चीज है। व्यावहारिक और धार्मिक क्षेत्र में भय और लोभ, ये दो प्रेरणाएँ काम करती हैं। ये दोनों प्रेरणाएँ शरीर से सम्बन्ध रखती हैं। इसीलिए मनुष्य से कहते हैं कि मृत्यु के लिए तैयार रहो, दुःख के लिए तैयार रहो। दुःख के लिए क्यों तैयार रहें? तो कहते हैं कि दुःख तुम्हारे कल्याण के लिए भगवान् भेजते हैं, इसमें से शिक्षण मिलता है। बुढ़ापे के लिए कहते हैं कि वह जीवन का परिपाक है, वहाँ जिन्दगी सूखती नहीं, पकती है।

जब मृत्यु आती है, तो मनुष्य कहता है कि अरे, यह मृत्यु नहीं, यह तो तेरा मित्र है, जीवन-संगीत है, काव्य है, हमारा सबसे बड़ा उपकारकर्ता है, उद्धारकर्ता है। लेकिन क्या शरीर से अलग होना उद्धार है? क्या शरीर छूट जाने में उद्धार है? द्वन्द्व कहाँ आता है? धर्म एक तरफ हमें शारीरिक सुख का लोभ और शारीरिक दुःख का भय दिखलाता है तो दूसरी तरफ शरीर-द्रोह पैदा करता है। हम अपने शरीर को उम्रभर दुश्मन समझते हैं। विनोबा जैसा संत कहेगा कि यह शरीर तो गदहा है, उसे खिलाना पड़ेगा। साधु-संत कहेंगे : लाश है; इसमें क्या रखा है? कोई तीसरा कहेगा कि यह तो अमंगल है, मल-मूत्र से भरा हुआ है! क्या रखा है इसमें?

तो इस तरह शरीर के प्रति एक जुगुप्सा, एक शरीर-द्रोह पैदा होता है, जो आध्यात्मिकता नहीं है। लोग कहते हैं कि पत्थर को पूजने में आध्यात्मिकता नहीं है, तो फोड़ने में भी तो नहीं है। जो पूजता है, वह फोड़ता नहीं है। जो फोड़ता है, वह पूजता नहीं है। पर पहाड़ क्यों नहीं फोड़ता? क्योंकि वह पहाड़ और मूर्ति में फर्क करता है। इस तरह शरीर-द्रोह औंधी शारीरिकता है, विपरीत शारीरिकता है। शारीरिकता को उलटा कर दिया, शरीर-द्रोह कर दिया और नाम उसका 'आध्यात्मिकता' रख दिया। शरीर के बारे में घृणा, तुच्छता, तिरस्कार की भावना रखना मनुष्य के लिए धार्मिकता का एक फैशन है।

शरीर अगर इतना अपवित्र, अमंगल, अभद्र है, तो सवाल उठेगा कि दूसरे के शरीर की हिफाजत हम क्यों करें? जहाँ शरीर-द्रोह होगा, वहाँ अहिंसा के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। फिर आप किसीको क्या सिखलायेंगे? अपने शरीर को अधम मानो और दूसरे का शरीर श्रेष्ठ मानो। लेकिन इससे भी तो शारीरिकता ही आयेगी। हम अहिंसा की बात करते हैं। उसमें आध्यात्मिकता की शक्ति भले हो. लेकिन उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो शरीर-संरक्षण से

है। दूसरे के शरीर को मगलायतन मानना होगा। उसे मागल्य का, सभ्यता का, भगवान् का निवास-स्थान मानना होगा। पहले दूसरे के शरीर को मानो, बाद मे अपने शरीर को मानो। लेकिन शरीर को भगवान् का, मागल्य का निवास-स्थान मानो।

हमारा शरीर भद्र है, पवित्र है, मगल है; साथ ही दूसरे का शरीर भी। इस सजीव शरीर को हम मागल्य का निवास-स्थान मानेगे, तब ऑल्बर्ट स्वीटजर के शब्दो मे 'रेवरेन्स फॉर लाइफ'—जीवमात्र के लिए आदर उत्पन्न होगा।

शरीर के प्रति आदर

ऑल्बर्ट स्वीटजर इस युग की सबसे महान् विभूति मानी जाती है। वे छह-सात गुणो से सपन्न है। वे बड़े सगीतज्ञ है, बडे डॉक्टर है, बहुत बड़े धर्मज्ञ हैं, बहुत बड़े साहित्यिक भी है और बहुत बडे मेकेनिक, कारीगर भी है। एक तरह से हरफनमौला है। प्राचीन युग मे भी ऐसा एक व्यक्ति हो गया है, जिसका नाम है लिओनार्डो डी विन्सी। सन् १४५२ से लेकर १५१९ के दरमियान वे हुए। उस समय की वे एक अपूर्व विभूति थे। कलाकार, चित्रकार, शिल्पी, वैज्ञानिक, इंजीनियर, सगीतज्ञ, कवि, दार्शनिक और रहस्यवादी थे। इनके बारे मे कहा जाता है कि उनका मन गणितज्ञ का था, उँगलियाँ कुशल यत्रज्ञ की थी और आत्मा कलाकार की थी।

ऑल्बर्ट स्वीटजर सबसे बडे मानव-सेवक माने जाते है। सारी दुनिया पर गाधी के बाद इन्हीकी पकड है। दुनिया के कुछ हिस्सो पर तो गाधी से भी ज्यादा पकड़ है। अफ्रीका के जगलो मे रहकर सेवा करते है। एक दफा उन्हे नोबेल पुरस्कार मिला और एक दफा शान्ति-पुरस्कार। उन्होने 'इडियन थॉट' (भारतीय विचार) पर एक किताब लिखी है, जिसमे गाधी की थोडी-बहुत आलोचना आती है।

ऑल्बर्ट स्वीटजर का मत्र है, 'रेवरेन्स फॉर लाइफ' अर्थात् जीवमात्र के लिए प्रतिष्ठा, आदर। जीव के लिए आदर का क्या मतलब हुआ? इसका यह तो मतलब हो नही सकता कि आपके शरीर को छीन लेगे और आपके जीव को बचायेगे। 'रेवरेन्स फॉर लाइफ' का अन्तिम अर्थ यह हुआ कि मनुष्य-मात्र के शरीर को, उसके विग्रह को हम पवित्र मानेगे। इसे हम मानवता की 'सगुण उपासना' कहते है। अब यह सिद्धान्त नही रह जाती। मानवमात्र समान हैं, यह भावना निर्गुण उपासना है। यह भावना नही, कल्पना है। भावना तब कहलाती है, जब प्रत्यय स्पर्श होता है। आप कहते हैं कि हम सभी मनुष्यो को

समान मानते हैं। आपने बौद्धिक स्तर पर ऐसा माना है। प्रेम विचार की हद तक सीमित नहीं रहना चाहिए। सारे मनुष्य समान हैं, यह तो विचार ही हुआ न? हमने बुद्धि से माना, लेकिन हृदय में इसका प्रत्यय नहीं होता।

'रिवरेन्स फॉर लाइफ' 'जीवनिष्ठा' का मतलब यह है कि मनुष्यमात्र का शरीर पवित्र है। कानून ने भी यह माना है कि मनुष्य का कतल नहीं कर सकते। पापी, अपराधी, दुष्ट और नेष्ट—ऐसे सभी मनुष्य, जो कभी दुरुस्त नहीं हो सकते हैं, उनको भी मार नहीं सकते। हम किसीका वध, किसीकी हत्या नहीं कर सकते। मतलब यह कि कानून ने मनुष्यमात्र के शरीर को पवित्र माना है।

मृत्यु का काव्य

अब देखिये, धर्म क्या कहता है? धर्म यह सिखाता है कि शरीर अपवित्र है और इस शरीर से मुक्त होने में कल्याण है। इसलिए मनुष्य मृत्यु का काव्य बनाता है, बुढापे और दुःख का गीत गाता है। यह तो ठीक है। यह बुराई में भी अच्छाई के दर्शन करता है।

एक नर्स थी। उसे इस बात का दुःख था कि उसे इतनी ठंड लगती है, फिर भी उसके पास मोजे नहीं हैं। वह भुनभुना रही थी, इतने में एक रोगिणी आयी। वह उसे देखने गयी, तो देखा कि उस बेचारी के टखने के नीचे पैर ही नहीं है! वह कहने लगी कि "इससे तो मैं अच्छी हूँ। मेरे मोजे नहीं हैं, पैर तो हैं न! इस बेचारी के तो पैर ही नहीं हैं!"

मनुष्य अपने से दुःखी मनुष्य को देखकर दुःख में संतोष मानता है। वह अधिक सुखी को देखकर ईर्ष्या करता है। हम कहते हैं कि अपने से दुःखी की तरफ देखो, सुखी की तरफ न देखो। नहीं तो दोनों में प्रतिक्रियाएँ होंगी। अपने से दुःखी को देखकर अपने दुःख में मनुष्य संतोष मानेगा और अपने से सुखी को देखकर ईर्ष्या करेगा। दोनों से जब मुक्त होगा, तभी वह तटस्थ होगा।

अपने मन को समझाने के लिए, दुःख को भी सुसह्य बनाने के लिए मनुष्य अधिक दुःखी को देखता है। वह कहता है कि मेरे पास ठंडक से बचने के लिए एक कम्बल तो है, पर वह बेचारा तो नंगा पड़ा हुआ है। इस तरह वह अपने मन को समझाता है। ये दोनों प्रतिक्रियाएँ हैं। यह मनुष्य की सहज अवस्था नहीं, एक संस्कार है। चारों तरफ दुःख देख रहे हैं, उसमें से एक संस्कार पैदा हुआ है, उसे सुसह्य बना दिया। इसी प्रकार मृत्यु को भी सुसह्य

बनाया। मनुष्य जानता है कि मृत्यु के विषय में उसकी विवशता है, तो वह सोचता है कि क्यो न मृत्यु को हाथ मे ले लूँ। मृत्यु स्वायत्त हो, मनोवांछित हो।

कोई कहता है कि हम तो सिर पर कफन बाँधकर निकले है। जिसके सिर पर कफन है, उसके लिए यह भूमि श्मशान-भूमि है और जीवन-यात्रा श्मशान-यात्रा है। मृत्यु के विषय मे यह जो विवशता है, उसे जीतने के लिए मनुष्य मृत्यु को स्वायत्त बनाना चाहता है। वह कहता है कि "मै अपनी मर्जी से मरूँगा।" 'मजबूरी' को मिटाकर उसकी जगह 'मरजी' रख दी। मनुष्य कहता है कि "मृत्यु को जीतूँगा। शहीद होकर मरना चाहूँगा।" शरीर को बचा नही सकते थे, तो उसे उत्सर्ग कर दिया। फिर उसके काव्य होगे : 'उन्होने तो अपने शरीर की आहुति दे दी, वे हुतात्मा हो गये!'

शरीर की आहुति का महत्त्व क्यो है? दूसरे के शरीर को बचाने के लिए। मनुष्य अपने शरीर की आहुति किसलिए देता है, ताकि संसार मे जीवन की प्रतिष्ठा बढ़े और अन्त मे जीव और जीवधारियो की प्रतिष्ठा बढ़े। यह भौतिकता नहीं है, यह पारलौकिकता भी नही है, यह मानवता है। यह आध्यात्मिकता है या नही, यह मुझे पता नही। यह मनुष्यता है कि हम सबके शरीर को पवित्र मानते है। आत्मज्ञान हमे है या नही, दूसरे को है या नहीं, पता नहीं। लेकिन चाहे कोई स्थितप्रज्ञ हो, महान् साधु हो या हीन अपराधी हो, सबके शरीर को हम पवित्र मानते हैं। यह मानवता है।

हमारा सारा सयोजन मानव-केन्द्रित होगा। द्वंद्व से शुरू किया, समन्वय तक हम आ गये। समन्वय आया मानवता के संरक्षण के लिए और जीवन के संरक्षण के लिए। अन्त में जीवन की प्रतिष्ठा बढाने के लिए जान भी दे देते हैं। जीवन की प्रतिष्ठा का नाम है शरीरमात्र की, जीवमात्र की प्रतिष्ठा। मानवता की सगुण उपासना होगी, केवल निर्गुण उपासना से नही चलेगा। मानवता का बौद्धिक दर्शन पाण्डित्य मे खो जायगा। इसलिए हम कहते हैं मानवता की सगुण उपासना होनी चाहिए, नहीं तो अहिंसा और सेवा के लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा।

हम ट्रेन मे बैठे है, दरवाजे पर भिखारी आता है। कहता है : "एक पैसा दे दीजिये, बाबू साहब!" "क्या होगा एक पैसा देने से?" कहता है : "आपका बेटा जीयेगा, बरक्कत होगी, तरक्की होगी!" बाबू लोगो को वह 'नौकर' ही मान बैठता है, इसलिए कहता है कि "तनख्वाह भी बढेगी!" ऐसी दुआएँ वह देता है।

दूसरा आदमी आता है। वह ठंड से ठिठुर रहा है, आप ओवरकोट पहने हुए बैठे हैं। आप उससे कहते हैं कि "आप ठिठुर रहे हैं, ऊनी कपडा नहीं पहनते ?" वह कहता है . "अरे बाबूजी ! ऐसे भाग्य कहाँ ? आप भाग्यवान् हैं, क्योंकि आपके पास कपडे हैं। हम अभागे हैं।" "आपके पास कपड़े क्यों नहीं है ?" तो वह कहता है कि "पूर्वजन्म मे बाबूजी कुछ कुकर्म किया होगा।"

गरीब इसलिए कि उस जन्म मे पाप किया होगा, अमीर इसलिए कि उस जन्म मे पुण्य किया होगा! अब गरीब कहता है कि "तुम अगर पुण्य नहीं करोगे, तो अगले जन्म मे गरीब हो जाओगे। अगर हमे दान नहीं दोगे, तो अगले जन्म मे गरीब होगे। हम अगर इस जन्म मे पुण्य करेंगे, तो अगले जन्म में अमीर होंगे।"

अब देखिये यह धार्मिक प्रेरणा ! यह प्रेरणा कहाँ से आती है ? यह हमे मानव-विमुख बना देती है।

असल मे कर्म का सिद्धान्त क्या था ? वह था मानव को जिम्मेवार बनाने का। पर कर्म के सिद्धान्त का उपयोग क्या हुआ ? कर्म के सिद्धान्त को मनुष्य ने मानव-विमुख बना दिया।

हम लोग यहाँ बैठे है। मान लीजिये कि मैंने किसी संस्था के दस हजार रुपये गबन कर लिये और किसी स्त्री के साथ मेरा अनैतिक सम्बन्ध हो गया, इसका मुझे दण्ड दिया गया। दंड में मुझ पर बेत पड़ रहे है। देखनेवाले कहेंगे कि 'बुरा काम किया, इसलिए ऐसा होना ही चाहिए। अपने कर्मों का फल भुगत रहा है।'

इसमें से हृदय-हीनता पैदा होती है। गाधी ने इसलिए कहा था कि मेरा धर्म न्याय नहीं, करुणा है। शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट ऑफ व्हेनिस' मे पोर्शिया कहती है कि "दी क्वॉलिटी ऑफ मरसी इज नॉट स्ट्रैण्ड"। करुणा की भावना कहीं ठिठकती नहीं है, कहीं हिचकती नहीं है। करुणा अगर कहीं हिचकती है, ठिठकती है, तो वह करुणा नहीं रह जाती।

न्याय सारासार-विचार में, भले-बुरे के विचार मे ठिठकता है, झिझकता है। करुणा ठिठकती नहीं। इसलिए पोर्शिया कहती है . "इट ड्रापेथ लॉइक दी जेण्टल रेन"। ऊपर से वह इस तरह बरसती है, जिस तरह भगवान् की वर्षा बरसती है। वह भिगोती है, लेकिन उसके स्पर्श मे कठोरता नहीं है। जलप्रपात या जल की धार भिगोती है और चोट भी करती है।

इसलिए गांधी कहता है कि मेरा धर्म न्याय नहीं है, करुणा है। न्याय विवेक करता है, करुणा विवेक नहीं करती। बारिश की तरह आती है। किसीके

कर्म का न्याय करेंगे, तो धर्म कहेगा कि यह दुःख तो कर्म का फल है। न्याय हृदयहीन है, इसलिए न्याय को करुणा के अनुपान की आवश्यकता है।

कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य

हम देखे कि अन्तर्विरोध कहाँ आता है ? दुनिया मे गरीब कहते है कि 'बुरे कर्म से हम गरीब हुए, आपने अच्छे कर्म किये थे, सो आप अमीर हुए। अपने बुरे कर्म से हम बीमार हुए। अपने बुरे कर्म से हम अन्धे हुए।'

कर्म-सिद्धान्त का मुख्य अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने भले-बुरे काम के लिए जिम्मेवार बने। एक तरफ सजा है, दूसरी तरफ इनाम। दड और पारितोषिक अपने मे महत्त्व नहीं रखते। इसलिए हमारा कहना है कि मनुष्य अपने काम के लिए अपने को जिम्मेवार माने। पशु अपने काम के लिए जिम्मेवार नही है। बच्चा, जर्जरित मनुष्य, पागल अपने काम के लिए जिम्मे-वार नही है। जो मनुष्य पशुओ की सतह पर है, वह अपने काम के लिए जिम्मेवार नहीं है। गैरजिम्मेवार मनुष्य मानवता का अधिकारी भी नही है।

मानवता मनुष्य की जिम्मेवारी है। हमारा समाज मानवता-केन्द्रित होगा। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दु ख-सुख से प्रभावित होता है, तो इसका मत-लब यह है कि वह मनुष्यमात्र के शरीर को पवित्र मानता है। यह मानवता का एक लक्षण है।

हम कहते हैं कि मनुष्यमात्र अवध्य है। यह एक नियम हुआ। लेकिन इतने से मनुष्यमात्र के शरीर के लिए पवित्रता की धारणा नही बनती। मनुष्य अवध्य है, यह एक सामाजिक व्यवस्था हो गयी। मनुष्य की हत्या नहीं की जाती, यही बौद्धिक विवेक, न्याय है। परन्तु मनुष्यमात्र का वध करने की प्रेरणा ही मन में नही है, यह करुणा है। पुत्र जिस तरह मन से भी माँ-बाप का वध नहीं करना चाहता, उसी तरह एक मनुष्य दूसरे किसी मनुष्य की हत्या करना नही चाहता। यह करुणा है। हमने इसे मानव की सगुण उपासना का नाम दिया। निर्गुण उपासना विचार तक पहुँचती है। समाज-व्यवस्था मे इससे मानवता चरितार्थ नही होती। सगुण उपासक पत्थर फोड़ता है, मूर्ति नही फोड़ता। सुनार के यहाँ कसौटी का पत्थर पडा है। मैं ऐसा एक पत्थर पटक देता हूँ। उसके टुकड़े-टुकडे हो जाते हैं। भाईजी कहते है कि 'अरेरे ! वह तो शालिग्राम था।' विष्णवे नमः विष्णवे नमः ! मैं हाथ जोडने लगता हूँ और कहता हूँ कि हमें पता नही था, नहीं तो न पटकता।

इस तरह मैं जब मनुष्यमात्र के शरीर को पवित्र मान लेता हूँ, तो मानवता का सगुण उपासक बनता हूँ।

शरीर-द्रोह का कुपरिणाम

शरीर-द्रोह अध्यात्म नहीं है। मनुष्यमात्र का शरीर पवित्र है, भगवान् का आयतन है, मांगल्य का निकेतन है। शरीर-द्रोह अपने में धर्म नहीं है। क्यों? शरीर द्रोह, शरीर की जुगुप्सा, शरीर की निन्दा अगर धर्म होता, तो दूसरे के शरीर बचाने को कभी कर्तव्य नहीं कह सकते थे। शारीरिकता अधर्म है, शरीर की पवित्रता अधर्म नहीं है। यह भौतिकता नहीं है, यह शारीरिकता भी नहीं है। मानवता की सगुण उपासना है। मनुष्य की अपने काम की जिम्मेवारी उसकी मानवता है, यह सद्गुण है।

कृष्णमूर्ति ने कहा है कि जिसका विकास करना पडता है, वह सद्गुण नहीं है। सद्गुण कौन-सा है? अपनी जिन्दगी की जिम्मेवारी का नाम सद्गुण है। अपने भले-बुरे काम के लिए जो जिम्मेवारी है, उसका नाम सद्गुण है। जिम्मेवार कौन नहीं है? पशु, बालक, अपंग, अतिवृद्ध, पागल अपने काम के लिए जिम्मेवार नहीं हैं। पुराणों में स्त्री को भी जिम्मेवार नहीं माना है। इसका परिणाम क्या हुआ? सारी समाज-रचना और संस्कृति पर इसका क्या असर हुआ? जो जिम्मेवार नहीं है, वह रक्षणीय होता है।

आप ट्रेन में कुत्ते को लेकर बैठे हैं।

'इसकी जंजीर क्यों हाथ में लेकर बैठे हैं?' पूछने पर आप कहते हैं कि 'यह कुत्ता चलती गाडी से कूद न पडे, इसलिए।'

'उसे क्या अपनी जान का डर नहीं है?'

'जान का डर तो है, पर समझ नहीं है, जिम्मेवार नहीं है।'

माँ बच्चे को लेकर ट्रेन में बैठती है, तो उसे सँभालती है; क्योंकि बच्चा जिम्मेवार नहीं है। बुड्ढा बाप ट्रेन से उतर रहा है, त्रिपुरारि हाथ पकडता है। क्यों? वे अपने शरीर को सँभाल नहीं सकते।

तो, जो जिम्मेवार नहीं, उसे सँभालना पडता है। इसलिए इस देश में पशु के रक्षण का महत्त्व माना गया, मनुष्य के रक्षण का नहीं। इस देश में भूत-दया है, पशु-दया है; लेकिन मानवता का ठिकाना नहीं! दूसरे देश के धर्म में मानवता अधिक है। इसका कारण यह है कि हमने मनुष्य को जिम्मेवार माना है।

ईसा ने क्या माना ? ईसा ने सबके पापो का प्रायश्चित्त किया। ईसा यज्ञ का, बलिदान का वह बकरा है, जिसकी बलि ने सारे बकरों को बचाया बाइबिल उसका वर्णन करती है कि "उसने दूसरे को बचाया, परन्तु वह अपने-आपको नही बचा सका"। छप्पर हमको बचाता है, पर वह अपने को नही बचाता। यहाँ ईसा सबकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता है। यह मनुष्य की शान के खिलाफ है। इसमे मनुष्य को प्रतिष्ठा नहीं है।

मनुष्य की प्रतिष्ठा किस चीज मे है ? मेरे काम के लिए भगवान् भी जिम्मेवार नही है। इस देश का तत्त्व-ज्ञान यह है कि अपने काम का जिम्मेवार मै हूँ। मै जो कर्म करता हूँ, ईश्वर उसका सिर्फ फल देता है। याने ईश्वर का ईश्वरत्व भी मर्यादित कर दिया। कर्म में मनुष्य की स्वतन्त्रता है।

वह ईश्वर से भी बडा सम्राट् हुआ, जो कहता है कि तुम्हारे भले-बुरे कामो का जिम्मा मेरा है। 'जिम्मेवारी टालना' है यह। हम अपने स्वत्व का, अपनी भूमिका का त्याग कर रहे हैं। कुछ यन्त्र के हाथ सौप दिया है, कुछ विशेषज्ञ के हाथ सौंप दिया है, कुछ धर्म को सौप दिया है, तो कुछ राज्य को सौंप दिया है—कुछ ईश्वर को सौप दिया है, तो कुछ सीजर को।

कर्म-स्वातंत्र्य की विकृति

यहाँ करुणा और भूत-दया, दोनो मे सामजस्य नही है। यहाँ गाय की पूजा होती है और उसे पीटा भी जाता है। पशु के साथ जितनी क्रूरता यहाँ होती है, उतनी पश्चिम मे नहीं होती। मनुष्य जिम्मेवार समझा गया है, लेकिन मनुष्य के साथ व्यवहार मे मनुष्य क्रूरता दिखाता है।

कर्म का सिद्धान्त मनुष्य की जिम्मेवारी का सिद्धान्त है, इसलिए उसके लिए पशु रक्षणीय है। जो रक्षणीय है, उनके लिए अनुकपा है। पशु के लिए अनुकपा है, लेकिन मनुष्य के लिए अनुकंपा नही। न्याय की भावना ने करुणा की भावना को खा लिया है। इसलिए जब अहिसा का नाम लेते है, तब बौद्ध, जैन और ईसाई-धर्म सामने आते है, इसलाम और हिन्दू-धर्म का नाम नहीं आता।

अहिंसा हिन्दुओं और मुसलमानों की नहीं मानी गयी। ईसाइयो की, जैनियो की और बौद्धो की मानी गयी। दोनों की दो भूमिकाएँ हैं। ईसाई-धर्म में करुणा मानव के लिए है और जैन और बौद्ध-धर्म मे पशु के लिए।

'गीत-गोविन्द' में बुद्ध का वर्णन है : "सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्, केशव-धृत-बुद्धशरीर, जय जगदीश हरे" पशु-घात देखा, तो हे बुद्ध, तेरा हृदय

सदय हो गया। केशव ने बुद्ध का शरीर धारण किया। इसलिए किया कि पशु की हत्या देखकर द्रवित हो गये। आज क्या होता है? जैन और बौद्ध पशु की हत्या देखकर द्रवित होते हैं, मनुष्य की हत्या देखकर नहीं! यह अन्तर्विरोध है।

सर्व-धर्म-समभाव मे मानवता का प्रत्यय आना चाहिए। ईसाई-धर्म मे करुणा मनुष्य के लिए है। दु:खियो के दु:ख दूर करना उनका मुख्य उद्देश्य है। इसलिए ईसाई-मिशनरियों के दवाखाने सबसे अच्छे है। जैनियों में बीमार को दवा देना धर्म नहीं माना जाता। कुछ कहते है कि दवा देने से भोग मे रुकावट करते है। दवा देकर उनका उतना कर्म क्षीण नहीं होने देते! यह कर्म स्वातन्त्र्य की विकृति है।

हमें किस परिणाम पर पहुँचना था? अर्थ-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था ऐसी हो, जिसमें मनुष्य का कर्म-स्वातन्त्र्य बना रहे, मनुष्य की जिम्मेवारी संस्था या राज्य न ले, मनुष्य आत्मनिर्भर रहे। आत्मनिर्भर का मतलब है: परस्पर की निर्भरता। मनुष्य एक-दूसरे पर निर्भर रहे, किसी संस्था, राज्य या अवान्तर शक्तियों पर निर्भर न रहे—यह मूलभूत स्वतन्त्रता है।

आपका आर्थिक संयोजन, आपकी राज्य-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि मनुष्य की जिम्मेवारी अवान्तर शक्ति पर न जाय, यहाँ तक कि भगवान् तक भी न जाय। ईश्वर मेरे काम के लिए जिम्मेवार न हो। तुकाराम कहते हैं कि 'हमारा काम खोटा है, हम अपने कर्मों के फल भुगत रहे है।' यह ईश्वर की तटस्थता है। ईश्वर अगर तटस्थ न हो, तो ईश्वर का ईश्वरत्व समाप्त हो जाय। भगवान् जिस तरह तटस्थ है, वैसे ही हमें भी तटस्थ होना चाहिए। तटस्थता सहृदयतापूर्ण हो, करुणायुक्त हो।

पोर्शिया कहती है कि "जस्टिस टेम्पर्ड विथ मरसी" करुणा का अनुपान न्याय के लिए हो। जैसे कड़ुई गोली को शहद से देते हैं, वैसे ही न्याय के लिए करुणा का अनुपान होना चाहिए। इसलिए गांधी ने अपने 'अनासक्तियोग' मे कहा कि मेरा धर्म करुणा है, न्याय नहीं है। न्याय तो भगवान् जाने, मैं तो करुणा को जानता हूँ। करुणा विवेक नहीं करती, ठिठकती नहीं, उमड़ पड़ती है।

सद्गुणों में सामंजस्य

दो सद्गुणों की लड़ाई नहीं हो सकती। सद्गुण एक-दूसरे से जुड़े हुए है। एक सद्गुण के आचरण मे से दूसरे सारे सद्गुण पैदा होने चाहिए। विषय

जैसे एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए है, वैसे ही सद्‌गुण भी एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए है।

विषय एक-दूसरे के साथ कैसे जुड़े हुए है ? मान लीजिये, लोकेन्द्र ने ऑख से जलेबी देखी, पर जीभ मे पानी आ गया। जीभका तो कोई सम्बन्ध नही था, फिर उसमे पानी क्यो आ गया ? ऑख मे पानी क्यो नहीं आया ? फिर एकनाथ कहता है कि 'वह तो गरम-गरम है।' स्पर्श के बिना यह कैसे मालूम हुआ ? केवल एक इन्द्रिय देख रही है, पर सारी इन्द्रियो का इसमे सहयोग है। नाक कहती है कि सोंधी-सोधी गध आती है। जितनी ज्ञानेन्द्रियॉ है, एक भोग मे सम्मिलित होती है। ऐसा नहीं होता, तो शरीर मे सामजस्य न रहता। एक इन्द्रिय के उपभोग मे सारी इद्रियॉ सहयोग करती है। इसी तरह एक गुण जहॉ जाता है, वहॉ सारे गुण जाते हैं। गुणो मे विरोध नही हो सकता। इसलिए वे सब प्रेम में घुल-मिल जाते हैं, एकरूप हो जाते हैं। उनमे विरोध की कल्पना करना गलत है। यह केवल शुष्क बुद्धिवाद है। ऐसे बुद्धिवाद की झझट मे हमे नहीं पडना चाहिए। ❀

२०-१-'६०

मानव-संस्कार और व्यवसाय : ८ :

अन्तर्विरोधों पर हम विचार कर रहे हैं। हमने कहा था कि मनुष्य अपने में आलस्य-प्रिय नहीं है। आलस्य मनुष्य का स्वभाव नहीं है। मनुष्य के कामो पर जब हम विचार करते हैं, तो देखते हैं कि कुछ काम ऐसे हैं, जिनके विषय मे सस्कार से ही अरुचि प्राप्त है। यह अरुचि केवल सस्कार-जन्य है और इस कारण है कि समाज में ये काम अप्रतिष्ठित माने गये हैं। पशुओं के, गुलामो के और स्त्रियों के कुछ काम अप्रतिष्ठित माने गये है। लेकिन कुछ काम ऐसे हैं, जो अपने में अरुचिकर है। जैसे · कसाई का काम, भंगी का काम। ये काम अपने में अरुचिकर हैं, फिर भी आवश्यक है। कारीगरी के काम, खिलौने बनाने के काम भी समाज में अप्रतिष्ठित हैं। बाबूगिरी के सामने कारीगरी और यन्त्र-कुशलता का महत्त्व नहीं माना जाता। सभी प्रकार का उत्पादक परिश्रम अप्रतिष्ठित है। इस सम्बन्ध में कुछ अलग तरह से सोचना होगा।

तीन प्रकार के काम

तो कुछ आवश्यक अरुचिकर काम हुए, कुछ अनावश्यक अरुचिकर काम हुए। तीसरे कुछ काम ऐसे हैं, जो अकुशल काम है, जिनमें कष्ट भी अधिक है और कौशल भी कम। मनुष्य के मन मे कौशल की प्रतिष्ठा ज्यादा है, कष्ट की प्रतिष्ठा कम है। कष्ट का महत्त्व समाज में कहाँ है? केवल वहाँ जहाँ कष्ट मे अद्भुतता हो। अद्भुतता से मतलब है, मनुष्य को चकित करनेवाला काम। जैसे, हनुमान्‌जी ने पहाड उठा लिया या समुद्र को कूदकर फॉद गये, भीमसेन ने हाथी उठा लिया, सैण्डो ने ३०० पौण्ड का वजन उठा लिया। इस तरह के अद्भुत कष्ट के काम, जिन्हें आप 'फीट' कहते है, उनकी प्रतिष्ठा है। लेकिन जिनमे कौशल भी न हो और अद्भुतता भी न हो, उनकी प्रतिष्ठा नहीं।

इसलिए मनुष्य अपने आर्थिक और औद्योगिक सयोजन में ऐसा चाहते है कि कष्ट कम होता जाय और कौशल बढ़ता जाय। यह प्रगति तो है, परन्तु एक बात का ध्यान रहे कि मनुष्य को शरीर-धारणा के लिए थोडे कष्ट की आवश्यकता है। जिस परिश्रम मे रुचि नहीं होती, उसे 'कष्ट' कहते है। रुचि

होती है, उसे कष्ट नहीं कहते। कष्ट मे थोडी-बहुत तकलीफ है। ऐसा परिश्रम, जो मनुष्य नही चाहता, उसकी आवश्यकता शरीर-धारणा के लिए है।

भोजन मे सिर्फ मलाई नही चलती, 'रफेज' (खुजला) की भी जरूरत है। 'रफेज' का मतलब ऐसा अन्न, जिसमे परिमाण ज्यादा है, लेकिन सत्त्व कम है। सब्जी, चोकर की आवश्यकता है। नही तो चोकर की गोलियॉ खानी पडती है। सब्जी मे भी केवल रस पी ले तो काफी नहीं है, कुछ 'रफेज' की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार मनुष्य के उद्योग मे भी थोडा 'रफेज' चाहिए, जिसे हम कष्टदायक परिश्रम कहते है। जैसे हवा-पानी की जरूरत है, वैसे 'रफेज' की भी जरूरत है। इस तरह का 'रफेज' अगर काम मे नही, तो व्यायाम मे दाखिल करना होगा और व्यायाम मे दाखिल करेगे, तो अवान्तर प्रेरणाऍ उसके लिए खोजनी होगी।

आपको कहना होगा कि बैठके लगाओ। बैठके लगाना कोई कला नही है और कोई अद्‌भुतता भी नही है। हॉ, कोई आदमी एक लाख बैठके लगाये, तब तो अद्‌भुतता है।

खेल मे मजा है, व्यायाम मे नहीं। खेल मे सहयोग और सहभोग भी है। लेकिन व्यायाम अपने मे—कुश्ती को न मिलायें—तो उसमे क्या है?

आपने किसी आदमी से कहा कि तुम्हे रोज दो फलांग दौडना पड़ेगा। उसे क्या मजा आयेगा? फिर भी उसे दौडना पडेगा। फिर आप उसे ऑलिम्पिक खेलो या टूर्नामेंट के साथ जोड़ देंगे और कहेंगे कि टूर्नामेण्ट मे जो अव्वल आयेगा, तेज दौडेगा, ज्यादा दौडेगा, उसे इनाम मिलेगा। इस तरह की दूसरी प्रेरणाऍ खोजनी पडेगी। मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा के अनुरूप प्रेरणा खोजनी पडेगी।

मनुष्य सामाजिक प्रशसा चाहता है, इसलिए यह प्रेरणा उसके अनुरूप है। व्यायाम को आप सामाजिक प्रेरणा के साथ मिला देते है। इसलिए जिसे सामाजिक प्रशंसा की आवश्यकता प्रतीत होगी, वही करेगा। दड, बैठक, कुश्ती को आप सामाजिक प्रशंसा के साथ जोडते हैं। उद्योग में अगर 'रफेज' नहीं होगा, तो व्यायाम में दाखिल करना पडेगा। पर व्यायाम स्वाभाविक रूप से हरएक को आवश्यक मालूम हो, ऐसा है नही।

परिश्रम और संयोजन

इस तरह उद्योग मे जितना आवश्यक परिश्रम है, वह सयोजन के साथ जोडा जाना चाहिए। अकुशल श्रम को पूरी तरह समाप्त करने के लिए एक

ही साधन है और वह यह कि यंत्रों का उपयोग उसके लिए करें। जैसे पश्चिम में कसाई का काम यंत्र करता है। अब कसाई की जरूरत कम हो रही है। भंगी का काम भी ज्यादातर यंत्र कर लेते हैं। इसमें व्यवस्था की दृष्टि से कोई दोष नहीं है। यह हो जाय, तो हमें कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। परन्तु एक दोष इसमें है। यंत्र मनुष्य में स्वच्छता की भावना का विकास नहीं कर सकता। स्वच्छता पवित्रता है। 'क्लीनलीनेस इज गॉडलीनेस।' यंत्र इस भावना का विकास मनुष्य में नहीं कर सकता। दूसरे, यंत्र जब कसाई का काम करने लगता है, तो वह सहृदयता का विकास नहीं कर सकता।

हमारे यहाँ सज्जन कसाई धर्म-व्याध था। यहाँ मैं कई दफा छोटे-छोटे लड़कों को मुर्गे को उल्टा टाँगकर घसीटते देखता हूँ। मारने से पहले क्रूरता से घसीटकर वे उसे ले जाते हैं। पश्चिम का मनुष्य ऐसा नहीं करता। हमारे यहाँ भूत-दया का इतना विकास हुआ; लेकिन पश्चिम का आदमी बैल और घोड़े को सताता नहीं। जिस पशु को वह खाता है, उसके प्रति घृणा भी वह नहीं करता। मशीन से एक प्रकार की निर्घृणता पैदा होती है। मशीन से संवेदना का अभाव आता है। क्रूर उद्योग में भी एक प्रकार की 'हृदयहीनता' पैदा होती है। इन्सान का दिल पत्थर बन जाता है।

क्रूर उद्योग में भी सहृदयता

जो उद्योग क्रूर समझा जाता है, उसमें भी सहृदयता होती है। कसाई का उद्योग क्रूर माना गया, लेकिन वह हृदयहीन न हो, इसलिए कुछ मर्यादाएँ हैं। मर्यादा यह है कि जिस पशु को वह काटता है, उसे तुरन्त काट डाले। सिख और मुसलमान झटका और हलाल में विश्वास करते हैं। मरे हुए जानवर का मांस नहीं खायेंगे, इसलिए मुसलमान हलाल करते हैं। पशु को थोड़ा-सा जिन्दा रहने देते हैं। वे स्वच्छता और पवित्रता की भावना के लिए बलिदान करते हैं। वे कहते हैं कि ऐसे जानवर को खायेंगे, जिसमें थोड़ी-सी जान बची हो।

किसी जेल में सिख और मुसलमान दोनों हों, वहाँ झगड़ा होगा। एक कहेगा कि हमें झटके का मांस चाहिए, दूसरा कहेगा कि हमें हलाल का चाहिए। जो मुसलमान कसाई होगा, वह भी जानवर से क्रूरता का व्यवहार नहीं करेगा। दोनों में एक दृष्टि रहेगी कि जिसको वह जबह या हलाल करता है, उसके प्रति वह क्रूरता नहीं करता। इसका नतीजा मनुष्य-मनुष्य के आपसी व्यवहार में भी दिखाई देता है।

यत्रणा देना अलग चीज है और मार डालना अलग चीज। यत्रणा देने मे जितनी क्रूरता है, मार डालने मे उतनी क्रूरता नही है। फॉसी दस सेकण्ड मे लगा दी, तो कम क्रूरता है। जो हलाल करता है, उसके लिए भी मर्यादा है कि वह एक-एक अग नही काटता। सारे धर्मों मे अलग-अलग प्रकार की मर्यादाएँ रही है, पशु के प्रति दुर्व्यवहार का निषेध है।

किसी जेलर का जी चाहे कि इस कैदी को रोज एक-एक तमाचा मारना है, तो वह ऐसा नहीं कर सकता। कानून की दृष्टि से भी नहीं कर सकता। जल्लाद मे जो क्रूरता नहीं है, वह सत्तावादी राज्य मे आ गयी। यत्रणा देने-वाला पुलिस मैन जल्लाद से अधिक क्रूर है।

कसाई का उद्योग

मासाहारी की भी एक मर्यादा है। मासाहारी होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि वह क्रूर हो। यह आज तक के रोजगार की परम्परा है। मनुष्य ने आज तक जो क्रूर उद्योग किये, उनमे हाथ का स्पर्श होने के कारण क्रूरता की एक मर्यादा रही। अगर यह काम यत्र करे तो क्या? तो मानवीय सवेदना कम होगी। तो क्या यत्र से इसे न कराया जाय? कराया जाय, लेकिन साथ-साथ शिक्षण और सयोजन मे ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि मनुष्य मे, यहाँ तक कि मास खानेवाले मनुष्य मे भी, निर्घृणता न आये, क्योकि वह स्वय तो नही मारता।

कोई न्यायाधीश फॉसी की सजा नहीं देख सकता और स्वयं फॉसी दे भी नही सकता। उसे यदि स्वय फॉसी देनी और देखनी होगी, तो फॉसी की सजा खतम होगी, क्योकि उसमे जो हृदयहीनता है, उससे हम बचना चाहते हैं।

यात्रिकता का परिणाम मनुष्य की हृदयहीनता मे न हो, यह आवश्यक है। कसाई का रोजगार करना भी एक जाति का काम न हो। हम बिलकुल नहीं चाहते कि यह काम मनुष्य करे। लेकिन साथ-साथ मुझे काटना नही पड़ता, इससे जो निर्घृणता आती है, वह न आये। आज कसाई पशु को काटता है, तो उसकी वेदना हमारे चित्त मे नहीं है। इसका कारण यह है कि क्रूरता का व्यवसाय एक विशिष्ट वर्ग को हमने सौप दिया।

अब वर्ग की जगह यत्र दाखिल करते हैं। यंत्र दाखिल हो, इसमें हमारी कोई शिकायत नहीं है, लेकिन परिणाम यह न हो कि कसाई काटता था, तो हम जिम्मेवार नहीं थे, वैसे ही यत्र काटता है, तो हमारी जिम्मेवारी नही है, क्योकि हमको तो काटना नही पडता। ऐसा नहीं होना चाहिए।

आप पशु को पूरी तरह अन्न के स्तर पर न लायें। आजकल 'पिग फॉर्मिंग (सुअर-पालन) होता है। मेसोपोटेमिया मे फौज के सिपाही घोड़े खाते थे। हमारे नव सैनिक-ब्राह्मण भी—घोडे का मास खाकर आये है। घोड़े का मास खाना अलग चीज है और घोड़े को खाद्य मानना अलग चीज है। ये लोग घोडे का मास खाकर आये है, लेकिन घोडे को खाद्य नहीं मानते। पशुमात्र मेरा खाद्य है, ऐसा कोई धर्म नहीं मानता। मास खानेवाले भी नहीं मानते कि पशुमात्र हमारा खाद्य है, जैसे कि वृक्षमात्र हमारा खाद्य है, ऐसा हम नहीं मानते।

संसार के अधिकाश लोग मासाहारी हैं, पर उनके मन में दयाभाव भी है। ईसा के मन में जो आत्यन्तिक दया थी, वह किसी शाकाहारी के मन मे भी नहीं होगी। फिर भी वे शाकाहारी नहीं थे। पंचानवे फीसदी लोग मास खाते हैं, फिर भी वे निर्दय नहीं हैं। पौधा सूखता देखकर आपको दया आती है, कोई लडका वृक्ष को काटता है, तो भी दया आती है; लेकिन मूली खाते हुए आपको दया नहीं आती। यह सस्कार है। जो मासाहारी है, वे पशु को अपना खाद्य नहीं मानते, उसे रक्षणीय मानते है। कुत्ते को मोटर के नीचे आते देखकर वे उसे बचा लेने की कोशिश करते है। खाने के लिए जितना अनिवार्य है, उतनी हिंसा वे करते है। मास खानेवाले मे भी दया हो सकती है। राम मृगया करते थे, फिर भी वे परम कृपालु थे।

कुछ हिंसा का मनुष्य मे सस्कार हो गया है। उतना उसका स्वभाव हो गया है। उतनी हिंसा उसे क्रूर नहीं बनाती। लेकिन एक दूसरी हिंसा है, जो उसे क्रूर बनाती है। मनुष्य का सामान्य स्वभाव जीव-रक्षण का है। भोजन के लिए जितनी अनिवार्य है, उतनी हिंसा वह करता है। यन्त्रीकरण ऐसा न हो कि मनुष्य को हृदयहीन बनाये। मछली और सूअर दो ही ऐसे प्राणी है, जो भोजन के लिए ज्यादा मात्रा मे रखे जाते है। मनुष्य इन दो प्राणियों का ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग बगैर खतरे के कर सकता है। इसलिए पश्चिम में 'पिग फॉर्मिंग' अधिक हो रहा है।

मनुष्य के आहार मे विवेक होना चाहिए। हमे जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ानी है। जो मास खाते है वे भी सारे पशुओं का नहीं खाते, अपने पालतू प्यारे जानवरों को हरगिज नहीं खाते। जो मनुष्य नरमांस का भक्षण करता है, वह भी अपने बेटे का, बाप का भक्षण नहीं करता। मरने पर वह भले ही बाप को खाये। आखिर इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि यह मिथ्या तर्क है कि जो शाकाहारी है वे भी तो जीवहत्या करते है। 'भावना' नाम की वस्तु

मनुष्य की जीवन-प्रतिष्ठा का आधार है। उसके पीछे भौतिक आधार हो सकता है। तरुण स्त्री-पुरुष का विवाह हो सकता है, लेकिन भाई-बहन का नही हो सकता। इसकी कोई दलील है क्या? ये नियम क्यो बने? जीवन की प्रतिष्ठा कायम रहे, इसलिए मनुष्य आत्मीयता का दायरा बढाता है। आपके अपने जीवन का दायरा आप बढाते है। माँ जिससे आप पैदा हुए, उसके लिए पहला स्थान, पिता के लिए उसके बाद का, जो आपके साथ पैदा हुआ, उसका उसके बाद का और आपका विवाह जिससे होता है, उसका उसके बाद का, इस प्रकार आप दायरा बढाते है। यह आत्मीयता का दायरा है। यह मनुष्य से प्राणियो तक जाना चाहिए।

यह मछली का मास है, इसे खाना है, यह बकरे का मास है, इसे खाना है। यह गाय का मास है, इसे खाना नही है। यो, हम प्राणियो मे ही विवेक करते चले जाते है। मछली सबसे प्राथमिक अवस्था का प्राणी माना गया है। जितनी उत्क्रान्ति हुई है, उसमे वह प्राथमिक माना गया। प्राथमिक अवस्था मे वह जीव मानी जाती है। इसलिए मछली खाते हो तो मनुष्य को खाओ, ऐसा कोई नही कहेगा। यह तर्क सही नही है।

पशु से प्यार

जो मनुष्य मास खाता है, वह पशु से प्यार भी करता है। एक कसाई ने अपने यहाँ एक मेमना पाला। सब बच्चे उस मेमने को बहुत प्यार करते थे। जो कमाई होती थी, उसमे से कुटुम्ब के सब लोग खाते थे और मेमना भी खाता था। एक दिन कमाई न हुई, तो कसाई ने अपने हिस्से मे से मेमने को खिलाया। दूसरा दिन भी ऐसा ही गया। दूसरे दिन माँ के हिस्से में से खिलाया। बच्चो ने भी अपने-अपने हिस्से मे से मेमने को खिलाया, पर किसीको मेमना बेच देने का विचार नही आया। सब अपने-अपने हिस्से में से उसे खिलाते थे। मगर एक दिन नौबत ऐसी आयी कि मेमना बेचना पड़ा।

लेनेवाला दूसरा कसाई उसके घर पर मेमने को लेने के लिए आया। पहले कसाई ने पूछा कि 'क्या दोगे?' तो उसने कहा कि 'बाजार मे तो ढाई रुपये चलते है, मैं पाँच रुपये दे दूँगा।' बेचनेवाले ने कहा कि 'पाँच रुपया भी कम है, क्योंकि यह तो हमारा सबसे प्यारा मेमना है। समय ऐसा न आता, तो हम इसे बेचते भी नही।' दूसरे कसाई ने पैसे दे दिये और वह मेमना लेकर चलने लगा। लेकिन बच्चे मेमने को गले लगाकर फूट-फूटकर रोने लगे और अपने बाप से कहने लगे कि 'हम भूखे रहेगे, इस मेमने को खिलायेगे, आप

इसे बेचिये मत।' यह दृश्य देखकर खरीदनेवाले कसाई की आँख मे भी आँसू आ गये। आँसू पोंछते-पोंछते उसने कहा कि 'तुम ये पैसे भी ले लो और मेमना भी रख लो। मुझे कुछ नहीं चाहिए।' पैसे और मेमना दोनो उसने उसे वापस दे दिये। मेमना को पाकर बच्चे खुश हो गये और वह कसाई भी खुश हो गया।

यह कोई इस देश की बात नहीं है। यह उस देश की बात है, जहाँ लोग मांस भक्षण करते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य मांस-भक्षण करता है, तो भी वह पशु से प्यार करता है।

मनुष्य की आवश्यकताओं के संयोजन मे भी जीवन की प्रतिष्ठा अधिक बढ़नी चाहिए। आवश्यकताओं की परिपूर्ति जिसमे हो, ऐसे संयोजन मे भी जीवन की प्रतिष्ठा बढ़नी चाहिए।

मनुष्य एक तरफ खेती करके वनस्पति को खाता है, लेकिन दूसरी तरफ फूलों के बगीचे भी लगाता है, जहाँ फूल तोड़ने की मुमानियत भी कर देता है। यह परस्पर-विरोधी भावना मनुष्य मे है। अब प्रश्न यह है कि इनमें से किस वृत्ति का विकास हम करना चाहते हैं?

हम ऐसा संयोजन करें कि अकाल की परिस्थिति में भी मनुष्य मनुष्य को न खाये। अकाल मे यह हो सकता है. लेकिन ऐसा न हो। इसका नाम है—संयोजन। जीवन की प्रतिष्ठा अधिक-से-अधिक बढ़े, इस दृष्टि से मैंने कसाई का उदाहरण दिया।

मनुष्य की अन्न-व्यवस्था और स्वच्छता-व्यवस्था, ये दो प्रगति के लक्षण हैं। रेडियो और मोटर जितना प्रगति का लक्षण है, उतना ही प्रगति का लक्षण है मनुष्य का बाथरूम। गांधी की पद्धति के पाखाने को क्रान्ति के रचनात्मक कार्यक्रम का अंग माना गया है। क्यों, आखिर इसमें क्या है?

भंगी-कार्य और आत्मीयता

एक भंगी है और मैं हूँ। मैं यहाँ का पाखाना साफ करने लगता हूँ, तो भंगी का काम करता हूँ। इससे भंगी के साथ मेरा हार्दिक सम्बन्ध कायम होता है। लेकिन मान लीजिये कि एक दिन ऐसा आता है, जब मैं पाखाना साफ नहीं करता, लेकिन ऐसी व्यवस्था करता हूँ कि पाँच-दस साल के बाद किसीको साफ न करना पड़े—भंगी को भी नहीं, मुझे भी नहीं—तो भंगी के साथ मेरा कोई रिश्ता रहेगा? इस क्रान्ति की प्रक्रिया में भंगी का काम करनेवाले से और

मुझमे सम्बन्ध स्थापित होगा ? सोचना यह है कि भगी का काम खतम करने की जो प्रक्रिया है, उसमे भगी के साथ आपकी आत्मीयता कैसे कायम रहेगी ?

यंत्र आयेंगे, तो किसीको काम नही करना पड़ेगा। आज भंगी है, उसके साथ आपका हार्दिक सम्बन्ध कैसे कायम होता है ? केवल 'ट्रेड यूनिअनिज्म' से सम्बन्ध कायम नही होता। सम्बन्ध तब कायम होता है, जब उसका परिश्रम आप खुद करते हैं। इससे अस्पृश्य नहीं रहेंगे, अस्पृश्यता-निवारण होगा। लेकिन मान लीजिये कि एक ब्राह्मण और एक भंगी बाटा-कम्पनी में नौकरी करते है। वह ब्राह्मण उस भगी का सफाई का काम नही करेगा। यत्रीकरण से मनुष्य का हार्दिक सम्बन्ध कायम नही होता। किसी मनुष्य की अक्षमता में मेरा हिस्सा न हो, तो मुझमे और उसमे सम्बन्ध कायम नहीं होता। जब मैं उसके लिए कुछ काम करता हूँ, तब उसका और मेरा सम्बन्ध कायम होता है।

मान लीजिये कि एक कमरे मे मेज पर दस्तरखान बिछा हुआ है, उसमे सबके लिए चाय और दूध के प्याले तैयार है। जवाहरलाल बैठे हैं और क्रुश्चेव भी बैठे है। क्रुश्चेव अपना प्याला उठाकर जवाहरलाल को देते हैं और जवाहरलाल अपना प्याला उठाकर क्रुश्चेव को देते हैं। क्यो ? यह काम भी तो यत्र से हो सकता है, फिर एक-दूसरे को प्याला देने की आवश्यकता क्या है ? पर हार्दिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए ऐसा करना आवश्यक है। सयोजन मे यह गुजाइश होनी चाहिए।

'टेकनिक'—प्रक्रिया कैसी चाहिए ? ऐसी, जिसमे टेकनिक का आग्रह न हो, मनुष्य के साथ सम्बन्ध जोडने का आग्रह हो, नही तो हाथ मे 'टेकनिक' रह जायगी, मनुष्य के साथ सम्बन्ध नही रहेगा। मनुष्य के साथ सम्बन्ध रहे, उसके लिए क्या किया जाय ? अहिंसक प्रक्रिया मे मनुष्य के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। ऐसा न हो, तो ढॉचा ही हमारे हाथ मे रहेगा और मनुष्य के साथ हमारा कोई सम्पर्क नही रहेगा।

सह-पुरुषार्थ

विनोबा ने मैसूर मे कहा था कि तुम सत्य को सँभालो, आग्रह को छोडो। सत्य अपना आग्रह कर लेगा। इसी तरह प्रक्रिया पर हमारा जोर नही है। हमारा जोर मनुष्य पर है। अगर टेकनिक जोर पर होगा, तो वह चुस्त, सख्त, प्रक्रिया बन जाती है और वह मनुष्य को कसती है। इसलिए इस आग्रह से बचाने के लिए मैं कहता हूँ कि क्रान्ति मे सह-पुरुषार्थ होना चाहिए।

मैं भंगी से कहता हूँ कि तेरा काम गंदा है, इसलिए अप्रतिष्ठित हुआ है, तो तेरा काम मैं करूँगा। इस काम के सम्बन्ध से उसकी हीनता को मैं मिटाता हूँ। यह चीज यंत्रीकरण से नहीं आती। यंत्र आयेगा, तो हरिजन हरिजन ही रह जायगा और यंत्र आ जायेंगे। दूसरे देशों में ऐसी परिस्थिति नहीं है, क्योंकि वहाँ ऐसी जात-पाँत नहीं थी। इस क्रान्ति की प्रक्रिया में हमें देखना है कि क्रान्ति तो हो, लेकिन वह करुणा और सहानुभूति की हो।

भंगी का काम यंत्र करे, यह भंगी भी चाहता है; लेकिन ऐसी परिस्थिति कौन लायेगा? परिस्थिति वे लायेंगे, जिनकी भंगी के साथ सहानुभूति है। सहानुभूति का क्या द्योतक है? यह कि उसका काम मैं करूँ। अस्पृश्यता को मिटाने के लिए भंगी के साथ हार्दिक सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। इसलिए जब तक सार्वत्रिक यंत्रीकरण नहीं हुआ है, तब तक एक-दूसरे में काम बँट जाने चाहिए।

संस्कार और व्यवसाय

मनुष्य का संस्कार व्यवसाय के साथ जुड़ना आवश्यक है। व्यवसाय को हमने जाति के साथ जोड़ा है। दूसरे व्यवसायों को छोड़कर मैंने केवल दो चरम सीमावाले व्यवसाय लिये। एक कसाई का लिया, दूसरा भंगी का। इसमें से एक और चीज आयेगी। आपको यदि पाखाना साफ करना पड़े, तो आप हाजमे की फिक्र ज्यादा करेंगे। आपको यह चिन्ता होगी कि कम दफा पाखाना जाना पड़े। मनुष्य के पेटूपन में अन्तर पड़ जायगा। यह मैं दूसरे मूल्य की बात कर रहा हूँ। इसमें आरोग्य की और स्वास्थ्य की दृष्टि है। जो बर्तन आपको माँजना पड़ता है, वह आप गंदा नहीं रहने देंगे, उसे साफ रखने की कोशिश करेंगे। इस तरह मनुष्य की स्वच्छता की भावना का विकास होता है। आपको साफ करना होगा, तो आप गंदगी कम करेंगे। जो कमरा रोज आपको साफ करना होता है, उसमें आप कम-से-कम गंदगी करते हैं। कपड़ा आपको धोना पड़ता है, तो आप जमीन पर बैठने में सावधान रहते हैं। इसमें से मनुष्य का स्वच्छता का संस्कार बनता है।

मनुष्य का संस्कार व्यवसाय से जुड़ना चाहिए। मनुष्य के सांस्कृतिक कर्म का विकास होना चाहिए। सब कुछ मानवता-केन्द्रित होना चाहिए। इस दृष्टि से हमने दो उदाहरण लिये। एक कसाई का और दूसरा भंगी का। एक में तो यंत्रीकरण के सिवा चारा नहीं है। सब कसाई का काम नहीं कर सकते, लेकिन सब लोग भंगी का काम करें, यह कर भी सकते हैं और चाहते भी हैं। यह हम कब

तक चाहते है ? तब तक, जब तक सार्वत्रिक यत्रीकरण नही हो जाता। सार्वत्रिक यत्रीकरण होगा, तब भंगी भी समझेगे कि ये लोग हमारे साथ थे। इसलिए जब यंत्रीकरण होगा, तब हम एक कदम आगे होगे। इसमें मनुष्य का प्रेम प्रकट होता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मे मनुष्य का मनुष्य के लिए स्नेह प्रकट होना चाहिए। केवल श्रम-विभाजन और वस्तु-वितरण की व्यवस्था अलग चीज है और स्नेहमूलक व्यवस्था अलग चीज है।

सबको सब चीजे हासिल है, फिर भी अदल-बदल होता है। जैसे वस्तु की भेट होती है, वैसे कला और श्रम की भी हो सकती है। मेरा रूमाल गिर गया है। मैं असमर्थ नहीं हूँ कि न उठा सकूँ। लेकिन आप दौड़कर आते है और मुझे देते है तो यह इस बात का एक प्रतीक है, कि हम आपकी इज्जत करते है। यह मनुष्य की मनुष्य के लिए इज्जत है, जिसे मानव की 'प्रतिष्ठा' कहते हैं। यह प्रतिष्ठा हमारी क्रान्ति की प्रक्रिया मे प्रकट होनी चाहिए। कसाई के काम की हम पूर्ण समाप्ति चाहते है, भगी के काम की भी। लेकिन इनको मिटाने की प्रक्रिया मे मनुष्य के साथ हार्दिक सम्बन्ध रहे, इस बात की आवश्यकता है।

१-२-'६१

यंत्रीकरण और जीवन-स्पर्श　　: ९ :

यन्त्र के कारण जो अन्तर्विरोध आते है, उन पर विचार करते हुए हम इस मुकाम पर पहुँचे हैं कि हमारे जीवन मे कुछ श्रम ऐसा है, जिसे हम अवांछनीय समझते है, परन्तु वह आवश्यक है। कुछ श्रम ऐसा है, जो अरुचिकर है, फिर भी आवश्यक है। कुछ श्रम ऐसा है, जो जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तो आवश्यक नहीं, पर जीवन-निर्वाह याने स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। ऐसा तीन प्रकार का श्रम है। तीसरे प्रकार के श्रम पर हमने पहले विचार किया। कुछ अरुचिकर श्रम ऐसा है, जिसे हम मशीन से करा सकते हैं, लेकिन कुछ 'रफेज' की आवश्यकता रहेगी। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अरुचिकर श्रम की आवश्यकता रहेगी। व्यायाम रखेंगे, पर उसमे प्रेरणा नहीं आयेगी। इसलिए उत्पादन के साथ अरुचिकर परिश्रम जोड़ना चाहिए। सारा-का-सारा अरुचिकर काम निकाल देंगे, तो व्यायाम का अलग सयोजन करना होगा और कृत्रिम प्रेरणा खोजनी पडेगी और जहाँ तक हो सके, आवश्यकताओं के साथ उसे जोड़ना होगा। आवश्यक श्रम तो कुछ रहनेवाला है, मगर उसे मनुष्य धीरे-धीरे यत्र को सौंप देना चाहता है। इसका नतीजा यह होगा कि परिश्रम और उत्पादन अलग-अलग हो जायँगे। परिश्रम मे से सांस्कृतिक अश निकल जायगा। हम यत्र को जितना परिश्रम सौंपते चलेंगे और अपने लिए जितना परिश्रम रखते चलेंगे, उसमें कोई सामाजिक आशय, नहीं रह जायगा।

उत्पादन का सामाजिक आशय

उत्पादन केवल एक शारीरिक काम नहीं है, उसका सामाजिक आशय भी है। मामूली से मामूली उत्पादन की बात लीजिये। भोजन बनाने का प्रत्यक्ष उद्देश्य माना गया है खाना। खाने के लिए आप अपनी रुचि का भोजन बनायेंगे, लेकिन भोजन का सम्बन्ध जब खिलाने के साथ आता है, तब कौन-सी नयी बात पैदा होती है? जब तक आपको स्वय खाना होता है, तब तक आप अपनी रुचि का अवश्य बनाते हैं, लेकिन उसमें ज्यादा कला की आवश्यकता नहीं होती।

कपडा बनाना है, आपने कहा कि हम वस्त्र-स्वावलबी है। आप देहात मे, जगल मे रहते हैं। वहॉ कपड़ा सीने की जरूरत नही मालूम होती। ओढ़कर बैठ गये। कपड़ा जहॉ दूसरे की ऑख के लिए नहीं होता, वहॉ कला की आवश्यकता नहीं होती। कपडा जब दूसरे की ऑख के लिए होता है, तब कला की आवश्यकता होती है। तब देखते है कि कट अच्छा हो, सिलाई दबदार हो।

मनुष्य के जीवन मे जहॉ सस्कृति का आरम्भ होता है, वहॉ हमेशा दूसरे के साथ सम्बन्ध आता है। उत्पादन अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सास्कृतिक कर्म नहीं है। सास्कृतिक कर्म कब बनता है? जब सबकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए करते हैं। इस तरह श्रम को उत्पादन से अलग करना ठीक नही है। आजकल अलग करने की ऐसी जो इच्छा पैदा हुई है, वह कुसंस्कार है। वह कुसंस्कार पूँजीवाद से आया हुआ है। नही तो ऐसा क्यो होता कि जिस मनुष्य को खेल का उपकरण साफ करने मे आनन्द आता है, उसे भोजन का उपकरण साफ करने मे आनन्द नही आता।

क्या कारण है कि मनुष्य को उसमे आनन्द आये और इसमे न आये? ब्रासो या दूसरा सोल्युशन लेकर वह साइकिल चमका लेता है, इसमे उसे आनन्द आता है। लेकिन भोजन के पीतल के बरतन चमकाने मे उसे आनन्द नहीं आता! इसमे कुसंस्कार है। यह सिवा सस्कार के और कुछ भी नहीं है।

मैं कहता हूँ कि जितना अकुशल परिश्रम आवश्यक है, उसे उत्पादन के साथ मिलाना चाहिए। इसके बाद भी व्यायाम और खेल रहेगा। इसका मतलब यह नहीं है कि व्यायाम और खेल के लिए कोई स्थान नहीं होगा, लेकिन क्या स्थान होगा, इस पर थोडी और गहराई से सोचिये।

बड़ो का काम बच्चो का खेल

बच्चे कौन-सा खेल खेलते हैं? बडो का जो काम है, वह बच्चो का खेल है। एक बच्चा चूल्हा लेकर बैठ जाता है। दूसरा बर्तन लेकर बैठ जाता है। तीसरा लकड़ियॉ लेकर बैठ जाता है। काम को वह खेल मानता है। इसका कारण यह है कि आप पर जबरदस्ती है, उस पर नही है। काम मे जबरदस्ती का अश कम-से-कम हो, ऐसा हम कहते है। जबरदस्ती की जगह मर्जी आनी चाहिए। बच्चे इतने सस्कारों के बाद भी खेल वही खेलते हैं, जो आपका काम है। सारे शिक्षण-शास्त्रियो का प्रयास है कि यह बात शिक्षण मे आये, व्यावहारिक शिक्षण हो।

शिक्षण दो तरह का है: एक तो रोजगारी, दूसरा टेकनिकल। टेकनिकल

से मतलब है, जिसमे विशिष्ट उपकरणों की आवश्यकता है। उपकरण ऐसा होना चाहिए कि मनुष्य कुछ सीखे। मनुष्य जब उद्योग के साथ-साथ उपकरण-कुशलता भी सीखता है, तब वह शिक्षण यथार्थ होता है। उत्पादन मे उद्योग के साथ जो अकुशल परिश्रम जुडा हुआ है, वह मनुष्य को रुचिकर मालूम होना चाहिए। यह अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि हर बच्चा चाहता है कि वह परिश्रम करता रहे। पत्थर भारी है, तो भी उसे उठाने की वह कोशिश करेगा। व्यावहारिक शिक्षण का काम शक्ति बढाने का है। उद्योग से मनुष्य की शारीरिक शक्ति का भी विकास होना चाहिए। शारीरिक शक्ति में दो चीजे आती है। एक शरीर-बल और दूसरी सहनशक्ति। एक है ताकत और दूसरी है कष्ट सहने की शक्ति—सहनशीलता। इसके लिए लोग ड्रिल सिखायेंगे। आपको ड्रिल वगैरह रखना हो तो रखिये, मगर ऐसा काम भी होना चाहिए, जिससे सहनशीलता पैदा हो। इस पर सोचने से 'रफेज' का पूरा खयाल आयेगा।

जीवन में से कला का उद्भव

मनुष्य स्वभाव से आलस्य-प्रिय नहीं है, इतना कहने से काम नही चलेगा। सारा-का-सारा यत्र करेगा, तो क्या होगा? तो मनुष्य को समय मिलेगा। वह उस समय में प्रार्थना करेगा, नाचेगा, दौडेगा, जो इच्छा होगी, करेगा।

इसमें दिक्कत क्या है? दिक्कत यह है कि वह नाचेगा, तो कौन-सा नाच नाचेगा? नाच के लिए 'थीम' (विषय) की जरूरत होती है। असमवाले 'बिहुबिहु' नाचेंगे। गुजरातवाले 'गरबा' नाचेंगे। तो यह 'थीम' कहाँ से आती है? शून्य मे से आयेगी या समाज में से आयेगी? नाच के लिए जिस 'थीम' की, विषय की, जरूरत रहती है, वह विषय जीवन में से आता है।

दो नृत्यों का अन्तर देखिये। किसानों का नृत्य देखिये। कौन-सी 'थीम' होती है उसमें? उनका नाच फसल खेती से सबंध रखता है; उनके जीवन से 'थीम' आती है। गरबा-नृत्य में क्या होता है? उसमें है—गोपी का घडा फोडना, चीर फाडना या विश्वामित्र-मेनका का या शिव-ताण्डव का या भीलनी का या हिरन देखकर सीता का कहना कि उसके पीछे दौडो! आपके सास्कृतिक जीवन से ही 'थीम' आती है। जीवन में से नृत्य का विषय निष्पन्न होता है, इसलिए कला उत्पादन से भिन्न नहीं होती। कला का उत्पादन से सबंध-विच्छेद होगा, तो कला अमानवीय हो जायगी, वह असास्कृतिक हो जायेगी।

सोचना यह है कि आप जिसे सास्कृतिक कार्यक्रम कहते है, उसका विषय कहाँ से आता है? मान लीजिये कि आपने चित्र बनाया। उस चित्र में आप

क्या बनायेंगे ? सकेत क्या होगा ? एक चित्रकार ने शेर पर मनुष्य को बैठाया था। उससे पूछा कि 'ऐसा क्यों किया है ?' तो उसने कहा कि 'यदि शेर इस चित्र को बनाता, तो वह ऐसा बनाता कि वह मनुष्य को खा रहा है।' चित्र मे जो विषय आता है, वह हमारे जीवन में से आता है। कला का भी जीवन के साथ सम्बन्ध है, यह हम भूल जाते है, इसलिए विरोध पैदा होता है। इसलिए आपकी कला जीवन से अभिमुख होनी चाहिए।

सगीत की बात लीजिये। श्रीकृष्ण के चरित्र पर भागवत्, सूरसागर और गीत-गोविन्द भी लिखा गया। तीनो के आशय मे कितना फर्क पड गया ? कविता मे भी फर्क पड गया। भागवत मे अध्यात्म आ गया। गीत-गोविंद मे 'ललित-लवंग-लता-परिशीलन' है। यह वह चीज है, जो सगीत मे, काव्य मे 'थीम' बनती है। साहित्य, संगीत, कला मे विषय की आवश्यकता होती है। यह विषय जीवन से आता है। इसलिए यह कहने का क्या अर्थ है कि यन्त्र से काम लेगे और बचे हुए समय मे आत्म-चिंतन करेगे ? सब काम यन्त्र के हाथ मे दे देंगे, तो फिर चिन्तन खाक करेगे ? असल मे तो यत्र ही न उसका भगवान् हो गया ! इसलिए आवश्यक परिश्रम, कष्टदायक परिश्रम उत्पादन के साथ जोड़ना चाहिए, अनावश्यक निकल जाना चाहिए। इसमें विवेक की आवश्यकता होगी। यह गतिशील कल्पना है। ऐसा भी हो सकता है कि आज जो आवश्यक है, वह कल आवश्यक नही होगा; कल जो आवश्यक होगा, वह परसो नही होगा। लेकिन आवश्यक परिश्रम को उत्पादन मे लेना चाहिए।

कसाई का काम

अब तक हमने तीसरे प्रकार के कार्य पर विचार किया। अब हम दूसरे प्रकार पर विचार करे। अवाछनीय परिश्रम है, लेकिन आवश्यक है। एक विरोध आता है। कसाई का काम ले लीजिये। इसमें एक छिपी हुई सामाजिक मान्यता यह है कि कसाई का काम सभ्य मनुष्य नही करेगा। जो मास खाता है, वह भी कसाई का काम नहीं करेगा। शिकार में जो जानवरो को मारता है, वह भी कसाई का काम नही करेगा। जैसे, लडाई मे काम करनेवाला जल्लाद का काम नहीं करेगा। यों, ये दोनों भूमिकाएँ है हत्या की ही। एक मनुष्य को युद्ध मे मारता है, दूसरा पशु को मारता है। आखिर हत्या तो दोनो में है, पर दोनो मे फर्क है। वह यह कि युद्ध मे अपनी जाने जाने का खतरा है और यहाँ अपनी जान जाने का खतरा नही है। बछडा या मुर्गा तुम्हारी जान नहीं ले सकता। इसलिए युद्ध मे बहादुरी है और हत्या मे बहादुरी

नहीं है। वैसे तो हत्याएँ दोनों है। सिपाही और जल्लाद भी हत्या करते है, पर जल्लाद और सिपाही में अन्तर है। इसी तरह शिकारी और कसाई में अन्तर है। शेर का शिकारी बड़ा शिकारी है। वहाँ अपनी जान का खतरा है। जहाँ अपनी जान का खतरा न हो, वहाँ छिटपुट शिकारी कहा जाता है। हिरन को जो मारता है, वह 'पारधी' कहलाता है। शिकारी और कसाई में यह अन्तर है।

'अवाछनीयता' में सामाजिक मान्यता है और वह यह कि जिस हिंसा मे क्रूरता का अंश अधिक होता है, उसे समाज ने निम्न माना है। इसलिए मांस खानेवाला खुद पशु को नहीं मारता, कसाई से कहता है कि तुम मारो। यह चीज ज्यादा गहराई से सोचने की है। एक सामाजिक मान्यता, जो यह कहती है कि बेगुनाह पशुओं को मारनेवाले की रोजगारी हीन है तो इसका भावरूप पहलू क्या है? उसका भावरूप पहलू यह है कि पशुओं के जीवन के लिए आदर होना चाहिए। मारनेवाले के रोजगार को हम हीन मानते है, क्योंकि पशु को मारना हमने क्रूर कर्म मान लिया है। ऐसा सिर्फ उन लोगो ने ही नहीं माना, जो शाकाहारी हैं; बल्कि उन लोगों ने भी माना है, जो मासाहारी है। इसमें पशुमात्र के लिए आदर-भाव की एक शुभ मान्यता है।

यहाँ अन्तर्विरोध आता है। एक तरफ तो मनुष्य मास खाता है, दूसरी तरफ पशु को मारना गलत मानता है। आज इंग्लैंड की एक कम्युनिटी का पत्र आया है, जिसमें लिखा है, कि हमारा सह-भोजन सब शाकाहारी होता है। इस देश मे हमेशा यह संकेत रहा है। हमारे देश मे जितना सामुदायिक भोजन हुआ, वह सारा-का-सारा शाकाहारी हुआ। कसाई के काम को हीन और अप्रतिष्ठित मानते है, फिर भी मास खानेवाले लोग है। तो यह अन्तर्विरोध आया। कसाई के काम को अप्रतिष्ठित मानते है, पर मांस खाना अप्रतिष्ठित नहीं है।

अरुचिकर श्रम और उत्पादन

यहाँ हम सामाजिक जीवन के कामों पर विचार कर रहे है। यह दूसरा अन्तर्विरोध है। पहले अन्तर्विरोध में हमने देखा कि अरुचिकर, कष्टदायक परिश्रम शरीर के लिए आवश्यक है। हम उसे यन्त्रों को सौंप देते है। यह होगा, तो श्रम के लिए कृत्रिम प्रेरणाएँ खोजनी पड़ेंगी और प्रेरणा से जबरदस्ती पैदा होगी। जबरदस्ती नहीं, तो प्रलोभन देना होगा। या तो लालच दिखाना होगा या डर दिखाना होगा। इन दोनों प्रेरणाओं को सोशलिज्म, कम्युनिज्मवाले

मनुष्य की शान के खिलाफ मानते है। 'रफेज' आवश्यक है। इसलिए अरुचिकर परिश्रम को उत्पादक परिश्रम के साथ जोड़ना चाहिए।

कसाई का काम अवाछनीय माना गया है। सिपाही भी हत्या करता है और जल्लाद भी हत्या करता है। एक मे वीरता है, और दूसरी मे क्रूरता है। कसाई और शिकारी दोनो मे हमने अन्तर देखा। शिकारी के काम मे थोडा बहुत खतरा है। कम-से-कम कौशल तो है ही। कसाई की हत्या मे क्रूरता है। तो हमने क्या किया? मास खाना तो अपनी तरफ लिया, मारना उसको दिया। उसे हीन भी कहा। भाषा मे भी आप कहेगे कि उससे क्या बात करनी, वह तो कसाई है!

जो व्यक्ति मास खाता होगा, वह भी कभी नही कहेगा कि मै क्रूर हूँ। कसाई के काम को निंद्य कर्म माना है। जहॉ पर जीव-हत्या मे क्रूरता अधिक होती है, वहॉ असामाजिकता आ जाती है। पशु-जीवन के प्रति आदर जैसे शाकाहारी में है, वैसे मासाहारी मे है। शाकाहारी मे जितनी दया, करुणा होती है, मासाहारी मे भी उतनी होती है।

इधर जल्लाद है, उधर कसाई है। जल्लाद की सस्था का अन्त हो सकता है, पर कसाई की संस्था का अन्त कैसे हो? इस काम को हमने यन्त्र को सौंप दिया। यह अप्रत्यक्ष हल है। यन्त्र से जो काम होगा, वह अप्रत्यक्ष होगा। जैसे आज क्रूरता कसाई को सौंपकर हम अपनी कोमल भावना को बचा लेते हैं, वैसे यंत्र को सौपकर भी हम अपनी कोमल भावना को बचा लेगे। आज जितना क्रान्तिकारी विचार हो रहा है, वह सब स्थूल भूमिका से हो रहा है। यत्र से काम करनेवाले कहेगे कि औजार बढिया दे दो, साफ-सुथरी जगह दे दो। हम कहेगे, यह तो सब माना। तनख्वाह ज्यादा हो, यह भी ठीक है। लेकिन यह सब करने से हत्या के काम की निंद्यता कम नही होती। सामाजिक निषेध का अत नहीं होता। कम तनख्वाह लेनेवाला शिक्षक ज्यादा तनख्वाह मिलती हो, तो भी कसाई का काम नहीं करता।

इसकी अहिंसक प्रक्रिया क्या होगी? उसका मुख्य आधार मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध होगा। समाज मे जो काम अप्रतिष्ठित या अरुचिकर माने जाते है, उन कामो को करनेवालो के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध कायम करना होगा। यह पहला और जरूरी कदम है। कल कसाई और भगी के मन में आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत होने पर वह कह सकता है कि अब यह घृणित या गन्दा काम मै नही करूँगा। महाराष्ट्र के नव-जाग्रत हरिजनो ने मरे हुए पशुओ को खींचने का काम बन्द कर दिया है। कुछ चमारों ने मरे जान-

वरो को उधेडना बन्द कर दिया है। तो यह काम गोपाल राव वालुनकर और अप्पा पटवर्धन को उठा लेना पड़ा। इन दो महान् सेवकों का एक नया नाता उन अस्पृश्यों के साथ स्थापित हुआ। इस प्रकार मानवीय सम्बन्धों का शुद्धीकरण करते हुए हम यंत्र दाखिल कर सकते है। इसका यह शुभ परिणाम होगा कि मनुष्यों में अपने-अपने व्यक्तिगत और अन्योन्य दायित्व की भावना विकसित होगी। इसे हम अहिंसक प्रक्रिया कह सकते हैं।

यंत्रीकरण किस भूमिका से होता है, इसका समाज-परिवर्तन के लिए बहुत बडा महत्त्व है। एक जमाना था जब मार्क्स ने भी यंत्रीकरण के विस्तार का विरोध किया था। इस देश मे भी 'रॅशनलाइजेशन' का आधुनिक यंत्रीकरण का विरोध कम्यूनिस्ट पार्टी करती हैं। मार्क्स और मार्क्सवादी तो यान्त्रिक प्रगति के समर्थक है। फिर भी विरोध क्यों करते है? कारण स्पष्ट है। जहाॅ यंत्र मनुष्य की हानि करता है, वहाॅ वे उसका विरोध करते है। साराश यह कि यंत्र का उपयोग दोनो पक्षों के हित मे होना चाहिए। कसाई भी कहेगा कि पशुओं का कत्ल करने का काम यंत्र करे, मासभोजी भी यही कहेगा और दोनो का समर्थन निरामिष भोजी करेगा। तीनो मिलकर जब एक ही बात कहेंगे तब यंत्र सांस्कृतिक भूमिका पर आरूढ होकर आयेगा।

यहाॅ हम समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया पर विचार कर रहे है। परिवर्तित समाज मे क्या होगा, यह मैं नहीं कहता। कसाई का काम समाज में अवाछनीय माना गया है, क्योंकि इसमे क्रूरता का अश अधिक है। सास्कृतिक भूमिका से वह अवाछनीय माना गया है। हमारा निवेदन इतना है कि समाज-परिवर्तन ऐसा हो, जिसमें से नया सघर्ष पैदा न हो। इसलिए पद्धति का आग्रह नहीं रखा। पद्धति का आग्रह होगा, तो प्रतिक्रिया पैदा होगी। जिसमें से सघर्ष पैदा होता है, वह प्रक्रिया अवैज्ञानिक है। उसका मतलब यह होगा कि मनुष्य की बुद्धि ठीक काम नहीं कर रही है। इस तरह तो हर उत्तर अपने मे प्रश्न बन जायगा, हर समाधान अपने मे समस्या बनेगा। हर 'वाद' से 'प्रतिवाद' पैदा होगा।

जब पूछा जाता है कि वर्ग नहीं होंगे, तब सघर्ष किसमें होगा? तो निरतर सघर्षवादी कहते हैं कि मनुष्य और प्रकृति में सघर्ष होगा। प्रकृति जड है और मनुष्य चेतन। वर्ग नहीं तो वर्ग-सघर्ष नहीं और वर्ग-संघर्ष नहीं, तो राष्ट्रवाद नहीं और राष्ट्रवाद नहीं, तो युद्ध नहीं और युद्ध नहीं, तो बाद मे सघर्ष प्रकृति और मनुष्य के बीच मे रह जायगा—ऐसी दलील ये लोग करते हैं। हम ऐसे

चक्कर मे न पडे । इसलिए हम ऐसा आदर्श रखते है कि समाज-परिवर्तन ऐसा हो कि फिर कोई सघर्ष पैदा न हो । यह आगे बढ़ा हुआ विचार है, यह वैज्ञानिक विचार है । क्रान्ति सहयोगात्मक होनी चाहिए, संघर्षात्मक नहीं । जितना सघर्ष अनिवार्य होगा, उतना हमारी विवशता के कारण होगा । लेकिन सघर्ष सिद्धात नहीं होगा । सघर्ष बढाने की नहीं, सघर्ष मिटाने की कोशिश होगी । जो लोग संघर्ष को ही क्रान्ति का साधन मानते है, उन्हे सघर्ष को बढाना होगा, उत्कट बनाना होगा, तीव्र बनाना होगा । सघर्ष को निभाना होगा, उसकी गति और तीव्रता को बढ़ाना होगा । लेकिन हम कहते है कि विरोधी को समाप्त करना है ! तो, उसकी प्रक्रिया क्या होगी ? विरोध जहॉ अनिवार्य होगा, वहॉ रहेगा । जहॉ हमारा वश नहीं होगा, वहॉ तक सघर्ष चलेगा । अपने बस तक हम सघर्ष नही चलने देंगे । अहिसा सहयोगात्मक होनी चाहिए । सहयोग कहॉ होगा ? यंत्रीकरण की प्रक्रिया मे वह तो सहयोग करेगा ही जो कसाई है, वह भी सहयोग करेगा जो कसाई नही है । इस तरह सारा प्रयास मानव-केंद्रित होगा ।

क्रान्ति की प्रक्रिया मानव-केंद्रित होनी चाहिए । उदाहरणार्थ, लड़ाई दो तरह की होती है । एक प्रत्यक्ष, दूसरी अप्रत्यक्ष । प्रत्यक्ष लड़ाई का मतलब है—एक तरफ एक वीर, दूसरी तरफ दूसरा वीर । दोनो के हाथों मे तलवारे है और आमने-सामने दो-दो हाथ हो रहे है। यह लड़ाई मानवता के स्तर पर होती है । लेकिन मैं सोया हुआ हूॅ और बिजली के शॉक लगा दिये, तो दस सेकड मे खतम हो जाता हूॅ । इसमे सहार है, इसमे युद्ध नही है । इसमे कोई सास्कृतिक मूल्य नहीं रहता । केवल हत्या है । लाभ जरूर हुआ होगा, लेकिन इसमे वह सास्कृतिक मूल्य नही है, जो आमने-सामने के युद्ध मे था ।

ऑख का लिहाज

बिहार के एक भाई बिहार के चुनाव की बात सुना रहे थे । उन्होने कहा कि हाथ उठाकर चुनाव हुआ, तो वह आदमी जीत गया । बैलेट (गुप्त मतदान) पद्धति से चुनाव होता, तो वह न जीतता । हाथ उठाने मे लिहाज है या तो डर है । जैसे हाथ उठाने मे लिहाज है, वैसे ही आमने-सामने की लड़ाई में ऑख का लिहाज होता है । अप्रत्यक्ष लडाई मे ऐसा नहीं होता । अप्रत्यक्ष लडाई मे मनुष्य प्रत्यक्ष क्रूरता से बचने की मिथ्या चेष्टा मे मनुष्यता से विमुख हो जाता है । आमने-सामने की लडाई में मानवीय स्पर्श रहता है । एक शिकारी शेर का शिकार करने जाता है, लेकिन मारने के बाद कहता है कि

शेर की शान देखी और ऐसा लगा कि इसे क्या मारें ! तो, गया तो था शिकार करने, लेकिन शान देखी तो कहा कि 'क्या मारें ?' परन्तु जब ऊपर से बम फेंक देता है, कौन मर गया, इसका भी उसे पता नहीं होता। एक तरफ से क्रूरता से बचने के भ्रम में रहता है, लेकिन दूसरी तरफ से जीवन के स्पर्श से वंचित हो जाता है।

मेरी चाय की प्याली टेबुल पर अपने-आप आ जाय या मेरी बेटी लाये ? बेटी के लाने में जीवन का स्पर्श है, प्याली के अपने-आप आने में नहीं। मुझसे एक दफा एक मन्त्री ने कहा कि आज इस्तीफा देना ही है। जब वापस आये, तो मैंने पूछा कि क्या किया ? बोले : 'इधर-उधर की बातें करके आया। उनके सामने इस्तीफा न दे सके। अब टेलीफोन से इस्तीफा दे दूँगा या लिखकर भेज दूँगा।' आदमी को जब शर्म होती है, तो वह लिखकर देता है। गांधी ने अपने पिता को भी चिट्ठी लिखी थी। जब शर्म होती है, तब बेटा बाप को भी चिट्ठी लिखकर देता है। लेकिन जब बात होती है तब मनुष्य के साथ स्पर्श होता है। यह जीवन का स्पर्श है। मानवता-केन्द्रित उत्पादन में जीवन का स्पर्श होना चाहिए। पेशेवर नर्स है, मलहम-पट्टी करती है, घाव साफ करती है और आप 'धन्यवाद' कहकर छूट जाते हैं। क्योंकि वह यह सब दाम के लिए करती है। बेटी या बहू कुछ नहीं करती, सिर्फ हाथ ही फेरती है और उसमें आपको अच्छा लगता है। यह जीवन का स्पर्श है। उत्पादन में इसका स्थान होना चाहिए।

जीवन-स्पर्श की आवश्यकता

ऐसा जीवन-स्पर्श कहाँ आता है ? यन्त्रीकरण के पहले कसाई का और मेरा दिल एक-दूसरे के नजदीक आता है। तू काटता है, मैं खाता हूँ; पर मुझसे तू अधिक अधम नहीं है। मैं उसे पापी नहीं कहूँगा। कसाई का काम हीन समझा गया, यह एक संकेत है। इंग्लैंड की जिस सोसाइटी ने लिखा कि समूह भोजन हमारे यहाँ शाकाहारी होता है, उसने भी एक संकेत किया। यह संकेत हमारे देश में बहुत प्राचीन है। दूसरी तरफ दो संकेत हमने रखे। हमने मांसाहारी को निर्दय, हृदयहीन नहीं माना। ईसा, बुद्ध को हमने सहृदय माना। सेंट फ्रांसिस को हमने दयालु माना। कृपालानी, जवाहरलाल हमसे अधिक सहृदय हैं। मांस खानेवाले क्रूर नहीं होते। शाकाहारी जैन और कसाई दोनों नजदीक आने चाहिए। जैन मुनि और कसाई जब नजदीक आयेंगे, तब क्रान्ति की प्रक्रिया धन्य प्रक्रिया होगी। उसका भी हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। क्रान्ति की प्रक्रिया में अन्याय करनेवाले का परिवर्तन होना चाहिए। गैर-कसाई का परिवर्तन होना

चाहिए। कसाई तो मजबूर होकर यह काम करता है। वह जब जानेगा, तब छोड देगा। ऐसा काम वह क्यो करेगा?

अब तीसरे प्रकार का काम आता है। शरीर-धारण के लिए, सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए एक विशेष तरह का परिश्रम आवश्यक है, लेकिन वह परिश्रम अपने में गंदा है, इसलिए अरुचिकर है। जैसे कि भगी का काम। इसका यह मतलब नहीं कि कोई भगी स्वच्छ नही होगा। उनमे भी बहुत-से स्वच्छ, धर्म-शील, दयाशील होगे। लेकिन भगी के काम के लिए होड नही होती। पॉच सौ रुपया तनख्वाह मिले, तो भी होड़ नही होगी, क्योंकि वह काम अपने मे अस्वच्छ, अभद्र माना गया है। तो, जो काम अभद्र माना गया है, उसका भी यत्रीकरण हो। उसे करे तो सब करे, नहीं तो कोई न करे। लेकिन कोई न करे, इसके पहले का कदम क्या होगा? यह काम सब लोग करें। यह जीवन का स्पर्श है। गाधी जब भंगी से कहेगा कि मै तेरा काम करता हूँ, मदिर का पुजारी जब भंगी से कहेगा कि मैं तेरा काम करता हूँ, दशग्रंथी ब्राह्मण जब भंगी से कहेगा कि मैं तेरा काम करता हूँ, पडित और राजा जब भगी से कहेगा कि मै तेरा काम करता हूँ, तब स्पर्श-भावना का विकास होगा। भगी-काम खतम हो जाय, केवल इतना ही काफी नही। यत्रीकरण से भंगी-काम खतम होता है, लेकिन भगी और गैर-भगी एक दूसरे के नजदीक नहीं आते। प्रक्रिया मे एक अवसर ऐसा आना चाहिए कि जब हरएक कहे कि हम तुम्हारे है, तुम हमारे हो। दोनो का हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। यह नही होगा, तो मानव-केंद्रित यत्रीकरण नहीं होगा। केवल सामान्य सयोजन होगा। केवल सामान्य सयोजन करना काफी नहीं है, उसमे जीवन का स्पर्श होना चाहिए। जवाहरलाल मैसूर जाते हैं, तो मैसूर के गवर्नर उनसे कहते हैं कि आप मेरी मोटर मे बैठिये और शोफर से कहते है कि मै मोटर चलाऊँगा, तू दूसरी मोटर मे आ। इसमें स्नेह का स्पर्श है। केवल यत्रीकरण से आप क्या करते हैं? आप काम को टालते है और मनुष्य को निष्क्रिय और हृदयहीन दोनो बनाते है। यहाँ यत्र का विरोध नही है, जीवन का पक्षपात है। जीवन का स्पर्श हर स्तर पर होना चाहिए और वह क्रान्ति की प्रक्रिया मे होना चाहिए।

●

सांस्कृतिक संस्पर्श : १० :

आज हम एक नये अन्तर्विरोध पर विचार करेंगे।

हम राष्ट्र की जो सीमाएँ मानते हैं, उनमें एक राष्ट्र की सीमा में से दूसरे राष्ट्र की सीमा में संस्कृति झरती है। बगल-बगल में सटाकर रखे हुए एक बरतन में से दूसरे बरतन में जैसे पानी झरता है, वैसे संस्कृति झरती है। सवाल यह है कि मनुष्य की ये जो संस्कृतियाँ हैं, उन्हें अलग-अलग रखने की क्या आवश्यकता है? असल में मनुष्य में एक-दूसरे के नजदीक आने की आकांक्षा स्वाभाविक है। यह आकांक्षा कहीं से आयी हुई नहीं है। हम देखते हैं कि जिनका तौर-तरीका, रहन-सहन, खान-पान हमारे जैसा नहीं है, उनके साथ भी संबंध रखने की इच्छा रहती है। कुछ उसमें हिचक रहती है, फिर भी दूसरों के तौर-तरीके, खान-पान, रहन-सहन को हम समझना चाहते हैं, उनके साथ संबंध रखना चाहते हैं। मनुष्य में यह एक स्वाभाविक इच्छा है।

मिस मेयो की 'मदर-इंडिया'

एक तरफ तो यह स्वाभाविक इच्छा है, दूसरी तरफ हमारा अपना जीवन का खास तरीका है। उसमें दूसरे शामिल हों और हमारा तरीका समझें, उसकी तारीफ करें—यह हमारी इच्छा रहती है। ये दो तरह की भावनाएँ हैं। हमारे यहाँ विदेश से कोई यात्री आता है और कहता है कि 'भारतवासियों की रहन-सहन बढ़िया है, उसमें साफ-सुथरापन है', तो हमें खुशी होती है। लेकिन कोई आकर कहने लगे कि 'यहाँ के लोगों की रहन-सहन ठीक नहीं है, उनमें सौंदर्य नहीं है, पवित्रता नहीं है, स्वच्छता नहीं है', तो हम नाराज होते हैं। हमारे बारे में कोई कुछ आलोचना करता है, तो हम उससे कहेंगे कि 'तू कहनेवाला कौन होता है?' कोई पैंतीस साल पहले मिस मेयो नाम की महिला हमारे देश में आयी थी। उसने अमेरिका जाकर यहाँ के जीवन में जो दोष थे, उन पर एक किताब लिखी। उसका नाम रखा : 'मदर-इंडिया'। उसमें हमारी सारी कुप्रथाओं का बहुत खुलकर और कुछ अतिरंजित भाषा में वर्णन था। जहाँ-तहाँ उसने कुछ भड़कीले रंग भर दिये थे। यहाँ के जितने देशभक्त थे, सबने मेयो की टीका की। गांधी ने कहा कि जैसे कोई सफाई-दरोगा अपनी रिपोर्ट देता है, वैसी ही उसकी किताब है। सफाई-दरोगा किसी गाँव में जायगा, तो पाखाने

और नालियाँ देखेगा और उसकी रिपोर्ट करेगा। साथ ही गाधी ने यह भी कहा कि ऐसी किताब मिस मेयो को नहीं लिखनी चाहिए थी। हिंदुस्तान के लोगो मे से किसीको लिखनी चाहिए थी और हिन्दुस्तान के लोगो को पढनी चाहिए थी।

इसी देश का आदमी लिखे और इसी देश का आदमी पढे, इसमे गाधी का क्या संकेत है? इसमे गाधी का सकेत है कि अपनी आलोचना आप करो, अपनी नुक्ताचीनी आप करो। आत्म-परीक्षण करना सस्कृति का, सभ्यता का लक्षण है। आढ्यता, गर्व, अभिमान असस्कृति का लक्षण है, असभ्यता का लक्षण है। भगवद्गीता के सोलहवे अध्याय मे आसुरी सम्पत्ति का वर्णन आता है। आसुरी संपत्ति याने राक्षसो जैसी दुष्ट संस्कृति। दुष्ट सस्कृति याने दूषित सभ्यता। यह सभ्यता सही नही, गलत है। उसमें शऊर, तहजीब या तमीज नहीं है। ऐसे आदमी की पहचान क्या है? भगवद्गीता मे बताया है: **आढ्यः अभिजनवान् अस्मि**। अभिजनवान् का मतलब है कुलीन, बडे खानदान का। आढ्य से मतलब है अक्कड़बाज। मै खानदानी हूँ, कुलीन हूँ। **कः अन्यः अस्ति सदृशः मया?** मेरे समान दुनिया मे कौन है? मेरी टक्कर का दुनिया मे कोई नही है। व्यक्ति के लिए ये सब दोष माने गये और राष्ट्र के लिए ये सब गुण माने गये। यहाँ से नैतिकता के दो पैमाने, दो मानदड, दो निकष आये। सस्कृति के दो मानदड हो गये। व्यक्ति के लिए अभिमान, गर्व, आत्मश्लाघा ये सब दुर्गुण माने गये, लेकिन समूह के लिए, कुल के लिए, राष्ट्र के लिए, गाँव के लिए सारे-के-सारे गुण माने गये है। नतीजा क्या हुआ? एक वैयक्तिक नीति हो गयी और दूसरी सामुदायिक नीति। इस सामुदायिक नीति का नाम आगे चलकर राजनीति हो गया। उसके लिए अग्रेजी मे अरस्तू का शब्द है: 'पॉलिटी'।

विभिन्न प्रकार के अभिमान

आपका राष्ट्रगीत है कि सारी दुनिया मे सबसे श्रेष्ठ देश हमारा है। असम-वाले, महाराष्ट्रवाले, गुजरातवाले अपने-अपने 'देश' का गुणगान करेगे। कोई कहेगा, 'झंडा ऊँचा रहे हमारा!' कोई कहेगा, 'जय जय गरवी गुजरात!' इसी प्रकार हरएक अपने कुल पर अभिमान करता है। अपनी निंदा आप सह लेंगे, परिवार की नहीं सहेगे। अपने कुल का अभिमान रखना चाहिए। जो अभिमान रखता है, वह 'कुल-दीपक' कहलाता है और जो अभिमान नहीं रखता, वह 'कुलागार' कहलाता है। कहा जाता है कि नाहक हमारे घर मे पैदा हुआ,

क्यों न जनमते ही मर गया? लोग रक्त का अभिमान, कुल का अभिमान, राष्ट्र का अभिमान करते हैं। कहते है कि जिसमें ऐसा अभिमान नहीं है, वह मृतक-समान है। 'भारत-भारती' मे आता है :

जिसको न निज धर्म का तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक-समान है॥

मैथिलीशरण ने तो यहाँ तक कहा है कि :

केवल पुरुष ही थे न वे जिन पर निज देश को कुछ गर्व था।
नारियाँ भी थीं हमारी देवियाँ ही सर्वथा॥

आखिर कुलीनता क्या वस्तु है? कुलीनता का मतलब यह है कि हमारा कुल दूसरे के कुल से श्रेष्ठ है। रक्त का अभिमान, कुल का अभिमान कहलाता है। लोकेंद्र और एकनाथ की लड़ाई हो जाय, तो लोकेंद्र एकनाथ से कहेगा कि हमने भी अपनी माँ का दूध पिया है। मतलब कि मेरी माँ के दूध की तासीर तेरी माँ से अच्छी है। हम कहते है कि इन रगों मे राम और कृष्ण का खून दौड़ रहा है। इन सब अभिमानों ने हमारे जीवन और भावनाओं पर ऐसी पकड़ जमायी है कि सारे जीवन को जकड लिया है और उसे शुष्क बना दिया है। अन्त मे जाकर कुलाभिमान, रक्ताभिमान हुआ और रक्ताभिमान से वर्णाभिमान जुड़ा हुआ है। 'वर्ण' का एक अर्थ है रंग।

गोरे आदमी की जिम्मेदारी

आज सारे अफ्रीका मे एक शब्द, चल रहा है : 'एपारथिड!' इसका मतलब है, एक तरफ काले आदमी और दूसरी तरफ गोरे आदमी,—इन दोनों की मुठभेड़। शुरू शुरू मे गोरे लोगों ने एक बड़ा भ्रमोत्पादक शब्द चलाया था—'व्हाइट मेन्स बर्डन', 'गोरे आदमी की जिम्मेदारी'। गोल्डस्मिथ ने 'ट्रेवलेर' नाम की छोटी-सी कविता लिखी है। उसमें अंग्रेजो का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे समस्त महामानवता के स्वामी है। इन्सानों के मालिक है। असभ्य जनता तक ईश्वर का सदेश पहुँचाना, विज्ञान के आविष्कार पहुँचाना, उदात्त शिक्षण पहुँचाना, यह गोरे आदमी का काम है। जीवन की सुविधाएँ लेकर जाना उनकी जिम्मेदारी थी। उनका साम्राज्य अवश्य था, लेकिन पहले वे क्या करते थे? पहले वे बाजार खोजने आये थे। राज करने नहीं आये थे। लेकिन इतने से केवल उनकी पकड़ नहीं रहती। इसलिए पहले वे ईश्वर का सदेश लेकर आये। दूसरे विज्ञान का आविष्कार लेकर आये, तीसरे शिक्षण लेकर

आये और चौथे जीवन की सुविधाएँ लेकर आये। यह चौथी चीज ऐसी थी, जिसके लिए सबको आकर्षण था। यह तो ठीक था कि तराजू के पीछे-पीछे तख्त चला, लेकिन इन चार चीजो ने साथ-साथ उसके चार पायो का काम किया।

सामुदायिक अभिमान मे से मनुष्य-मनुष्य मे मूलभूत भेद पड जाता है—एक हीन और एक श्रेष्ठ, एक ऊँचा और एक नीचा! जिसके खून मे मिलावट हो, जिसका रक्त संमिश्र हो, उसे 'असली' नहीं कहते। कहते है, तू असली कहाँ है, तेरे खून मे मिलावट है। हिटलर ने कहा था कि हमारा रक्त शुद्ध है। जितने नाजी हैं, उनका रक्त शुद्ध है। पवित्र ब्राह्मण कहता है कि मेरा रक्त शुद्ध है। इस तरह रक्त और वर्ण का अभिमान पैदा होता है, जिसे कुल का अभिमान भी कहते है। क्रान्तिकारी के मन मे माता-पिता के लिए प्रेम हो, पर अपने कुल का अभिमान नहीं होना चाहिए। कुलाभिमान कोई वस्तु नही है। इसी प्रकार देशाभिमान भी कोई वस्तु नहीं है। वैसे ही अतर्राष्ट्रीयता जैसी भी कोई वस्तु नहीं है। खालिस इन्सानियत है, विशुद्ध मानवता है। राष्ट्र और व्यक्ति ऐसे दो पैमाने नहीं होने चाहिए। व्यक्ति मे कुलीनता का लक्षण विनयशीलता हो, नम्रता हो। कुलीन वह है, जो विनयशील हो। अगर व्यक्ति के लिए यह सद्‌गुण हो, तो राष्ट्र के लिए भी यह सद्‌गुण माना जाना चाहिए और समूह के लिए भी। तो, सास्कृतिक सस्पर्श मे से हम सास्कृतिक आक्रमण निकाल दें। सास्कृतिक आक्रमण को उसमे स्थान नहीं है।

संस्कृति का लक्षण : विनयशीलता

एक-दूसरे से मिलने की आकाक्षा स्वाभाविक है, लेकिन रुकावट अतिक्रमण मे आती है। यह बिलकुल स्वाभाविक आकाक्षा है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न सस्कृति-वालो के नजदीक जाना चाहता है। लेकिन आशंका यह होती है कि कही एक संस्कृति का दूसरी पर आक्रमण न हो। इसलिए सारी संस्कृति का मुख्य लक्षण विनयशीलता हो। सामुदायिक संस्कृति का भी लक्षण विनयशीलता हो। राष्ट्रप्रेम और सामुदायिक स्वतन्त्रता की भावना एक अलग चीज है। वह व्यक्ति मे भी हो और समूह मे भी—यह सद्‌गुण है। लेकिन राष्ट्रवाद मे विनयशीलता नहीं है। जिसे हम 'राष्ट्रवाद' कहते है, वह राष्ट्र का अभिमान है। इस अभिमान से आक्रमण होता है। हम आक्रमण नही चाहते केवल स्वराज्य चाहते है। लेकिन जिसने हमारी स्वतंत्रता का अपहरण किया, वह आक्रमणकारी राष्ट्रवादी देश था। जैसे धर्म से उन्माद पैदा होता है, वैसे आक्रमणकारी राष्ट्रवाद से भी

उन्माद पैदा होता है। रवि ठाकुर यूरोप गये, तो उन्होंने राष्ट्रवाद के विरुद्ध आवाज उठायी। यहाँ के लोगों के लिए उन्होंने स्वदेशी का समर्थन किया, लेकिन यूरोप में जाते ही राष्ट्रवाद का धिक्कार किया।

राष्ट्रवाद मनुष्यों के एक-दूसरे के साथ मिलने में रुकावट करता है। जो राष्ट्र गुलाम हो जाते हैं, उनकी राष्ट्रीयता क्षीण हो जाती है, लेकिन जो लोग राष्ट्रवादी होते हैं, उनमें उन्माद रहता है। यों जगह-जगह दो भिन्न प्रवाह चल रहे हैं, फिर भी मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति यही है कि वह दूसरे मनुष्य से मिलना चाहता है। गुजरात में महाराष्ट्र का आदमी आकर ठहरता है, महाराष्ट्र में गुजरात का आदमी आकर ठहरता है: लेकिन जब इन दो प्रान्तों का झगड़ा होता है, तब दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। जोधपुर और जयपुर के आदमी एक-दूसरे के घर ठहरते हैं, लेकिन हाईकोर्ट का झगड़ा आता है, तो दोनों बँट जाते हैं।

व्यक्तित्व के दो टुकड़े

इस तरह दो स्तर हुए—सार्वजनिक जीवन और निजी जीवन, कौटुंबिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन। इनके लिए हमने दो अलग-अलग पैमाने मान लिये हैं। इसका यह नतीजा है कि मनुष्य का व्यक्तित्व भी साबित न रहा। व्यक्तित्व के दो टुकड़े हो गये। व्यक्तित्व विच्छिन्न हो गया। दो अलग-अलग सत्ताएँ मान ली गयीं कि यह सार्वजनिक जीवन का क्षेत्र है, यह व्यक्तिगत जीवन का क्षेत्र है। सार्वजनिक जीवन में असत्य आचरण कर सकते हैं, हिंसा कर सकते हैं, चोरी कर सकते हैं, भीख माँग सकते हैं, सूदखोरी कर सकते हैं, मुकदमेबाजी कर सकते हैं। ये सब बातें सार्वजनिक जीवन में शिष्ट-मान्य हैं। लेकिन व्यक्तिगत जीवन में ये सब दुर्गुण हैं। इस तरह हमने जीवन के दो हिस्से कर डाले और इसमें दो पैमाने हो गये।

सांस्कृतिक विशेषता

फिर भी विज्ञान की गति ऐसी है कि सांस्कृतिक संस्पर्श शुरू हो गया है। यह युग ही 'कल्चरल ऑसमॉसिस' का है। संस्कृतियाँ एक-दूसरे में झरती हैं। मनुष्य के संपर्क को विज्ञान रोक नहीं सका, बल्कि उसने उसे बढ़ा दिया। इसलिए एक देश के सांस्कृतिक रिवाज दूसरे देश में पहुँचते हैं। एक देश के तौर-तरीके दूसरे देश में पहुँचते हैं। सड़कें, मकान, पोशाकें एक-सी हो गयी हैं। परसों अखबार में रूस के अध्यक्ष का चित्र आया था और आज जर्मनी के

राजदूत का चित्र आया है। जर्मनी के राजदूत और रूस के अध्यक्ष, दोनो पोशाक से अलग-अलग नहीं पहचाने जाते। यहाँ जो लामा आये थे, उनकी पोशाक अलग थी, लेकिन उनके साथ यहाँ जो दुभापिया आया था, उसकी पोशाक मे और यहाँ बैठे हुए अफसरो की पोशाक मे अन्तर नही था। ऐसी एक तरह से जागतिक मनोवृत्ति विज्ञान के साथ आ रही है। इसका विरोध करने की आवश्यकता नही है। हम अपनी राष्ट्रीय पोशाक पहनें या कोट-पतलून पहने, उसमे क्या है? देहली मे हमारे एक मित्र सेक्रेटरिएट मे है। वे कुर्सी-मेज के विरोधी है। अपने कमरे मे एक नीची मेज के सामने दरी पर बैठकर काम करते है। अंग्रेजों की जीवन-पद्धति ने हम पर जो आक्रमण किया था, उसकी यह प्रतिक्रिया है। असल मे धोती-साडी के अलावा इस देश की पोशाक क्या थी यह कहना कठिन है। शिवाजी महाराज घर मे धोती पहनते होंगे। पर उनकी और औरंगजेब की दरबारी पोशाक मे खास कुछ अन्तर नहीं रहा होगा। इस सारे देश की एक खास पोशाक थी, यह कहना सभव नहीं है। नाटक मे भी बंगाल का हरिश्चंद्र बगाली होता है और पजाब में तारा-मती सलवार पहनकर आती है। कुछ अभिमान प्रतिक्रिया मे से पैदा होते है। यह संस्कृति नही है। हमने कुछ गलत चीजो को सस्कृति मान लिया है। सास्कृतिक संस्पर्श में थोडा-बहुत 'स्टैण्डर्डाइजेशन' होगा। सवाल है तौर-तरीकों मे, रहन-सहन मे, मकानो मे स्टैण्डर्डाइजेशन होगा, तो क्या सस्कृतियाँ नष्ट हो जायँगी? नही, वे नष्ट नहीं होगी। हर सस्कृति की अपनी एक विशेषता है, उसका सरक्षण होना चाहिए।

यह विशेषता क्या है? 'विशेपता' उसे कहते है, जो किसी भी पैमाने से, सर्वमान्य सांस्कृतिक पैमाने से, दोपपूर्ण न मानी जाय। यह एक सोचने का विषय है। एक उदाहरण लीजिये, अगल-बगल मे दो देश है। मुहम्मद अली पाकिस्तान का प्रधानमंत्री है, जवाहरलाल यहाँ का। जवाहरलाल ने एक ही शादी की, मुहम्मद अली ने चार शादियाँ की। दोनो अपने-अपने राष्ट्र के प्रधानमंत्री है। आप कहेंगे कि उनके धर्म मे चार स्त्रियाँ की जाती है, इसलिए यह जायज है। जवाहरलाल दुबारा शादी कर सकते थे, लेकिन वे एक से अधिक पत्नियाँ नहीं रख सकते थे। इस तरह दो पैमाने लगाये। एक पुरुप का चार स्त्रियों के साथ शादी करना सास्कृतिक पैमाने से गलत है, इस बात को पाकिस्तान या किसी दूसरे देश का मुसलमान स्वीकार भले ही न करे, लेकिन हम इसको उनकी विशेषता मानने को तैयार नहीं है। यह उनकी विशेषता नही है। हमारे देश मे दहेज लिया जाता है। स्त्री और पुरुप, मनुष्य के नाते दोनों

समान है। दोनों की समानता के नाते यह दहेज-प्रथा संस्कृति के खिलाफ है। इसलिए यह हमारी विशेषता नहीं मानी जायगी। हम इसे मिटाना चाहेंगे।

सांस्कृतिक संकेत

सांस्कृतिक लेन-देन में हर संस्कृति की विशेषता का संरक्षण होगा। इस प्रकार सारी दुनिया में सांस्कृतिक समानता होगी। उन बातों का हम संरक्षण नहीं करेंगे, आदान-प्रदान नहीं करेंगे, जो सार्वभौम सांस्कृतिक दृष्टि से दोष-पूर्ण है। ऐसी जो बात होगी, उसको न लेंगे, न देंगे। जाति-भेद न हम दूसरों को देंगे, न अपने यहाँ रखेंगे। मांस और मद्य की प्रतिष्ठा पश्चिम से हमारे देश में आयी। हमारे देश में ९५ फी सदी लोग मांस खाते थे, आज भी खाते हैं। हजारों आदमी शराब पीते थे, यहाँ तक कि कई हमारी देवियाँ शराब पीती थीं। ब्राह्मणों की सन्ध्या में गायत्री का जो आवाहन होता है, उसमें भी मांस-शोणित-भक्षणे—'मांस खानेवाली और रक्त पीनेवाली' देवी का वर्णन है। यह सब होते हुए भी मद्य और मांस की प्रतिष्ठा सामाजिक जीवन में नहीं है।

बंगाल में हर सोहागिन मछली खाती है। 'ना' कहेगी तो कहेंगे : 'क्या विधवा हो गयी है?' विधवा मछली नहीं खाती। ठाकुर माँ का चौका पवित्र है, ठाकुर माँ के चौके में मछली नहीं जाती। उस चौके की पवित्रता की क्या निशानी है? वहाँ मछली नहीं जाती। पवित्र बंगाली ब्राह्मण रविवार के दिन मछली नहीं खाता। चमार ने छत्तीसगढ़ में जाकर माला पहनी, तो कहता है कि हम मांस छूते नहीं, 'सतनामी' हो गये हैं। महाराष्ट्र में 'वारकरी' (पंढरपुर नित्य जानेवाला) मांस छोड़ता है। मद्य और मांस के त्याग को इस देश में सदाचार का लक्षण माना गया है। ये सांस्कृतिक संकेत हैं।

आठ कनौजिया, नौ चूल्हे

उन्नाव के आठ ब्राह्मण आये। कहा कि 'भोजन करेंगे, लेकिन हमारे लिए नौ चूल्हे करा दीजिये।' 'क्यों भाई, नौ चूल्हे क्यों कराने पड़ेंगे?' तो बोले : 'यह मुझसे बढ़कर है, मैं उससे बढ़कर हूँ। हम दोनों एक-दूसरे से श्रेष्ठ हैं। इसलिए आग भी एक-दूसरे के चूल्हे में से नहीं ले सकते। नवाँ चूल्हा अलग हो, तो उसमें से आग ले सकते हैं।' 'आठ कनौजिया, नौ चूल्हे!' एक तरफ जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मांस-भोजन-निवृत्ति का संकेत है और दूसरी तरफ मनुष्यों में दूरीभाव आ गया है। एक सांस्कृतिक गुण के साथ महान सांस्कृतिक दोष आ गया है, जिसने आपको दूसरे मनुष्य के संसर्ग से अलग

कर दिया। इसलिए समाज-क्रान्ति में अब ऐसा होना चाहिए कि एक तरफ तो शाकाहार का विकास हो और दूसरी तरफ सह-भोजन का। पंक्तिभेद को मिटाकर हमें सह-भोजन कायम करना है। नहीं तो हम जो सांस्कृतिक संस्पर्श बढ़ाना चाहते हैं, वह नहीं बढ़ेगा। विज्ञान ने आज ऐसी परिस्थिति पैदा की है कि इसमें मनुष्य का विवेक और स्नेह प्रवृत्त हो। हम किसी संस्कृति के दोषों का संवर्धन नहीं करना चाहते।

पशु की रक्षा के लिए मनुष्य की हत्या

पंजाब का एक किस्सा है। वहाँ के नेता कहने लगे : 'किसी तरह हमारा 'हरियाना' अलग कर दीजिये।' 'क्यों ?' तो बोले : 'जलधरवाले आमिष-भोजी हैं। उनके शरीर की गंध आती है।' मतलब क्या हुआ ? पशु-दया से मानवीय जुगुप्सा पैदा हुई। बर्ट्रेण्ड रसेल ने बीसों साल पहले एक किताब लिखी : 'व्हिच वे टु पीस ?' ('शान्ति का रास्ता कौन-सा है ?')। उसमें एक उदाहरण दिया है कि दो टापुओं के लोग एक-दूसरे के पड़ोस में रहते थे। एक टापूवाले मांसाहारी थे और दूसरे शाकाहारी। शाकाहारी को मांसाहारी की गंध आती थी। 'कैसे हैं ये क्रूर, दुष्ट लोग !' एक दिन प्रस्ताव हुआ कि इन्हें दुरुस्त किया जाय। पहले तो मनाया कि भाई मान जाओ, यह मांसाहार छोड़ दो। मनाने पर भी माने नहीं, तो शाकाहारियों ने हमला किया। मांसाहारियों को उन्होंने हरा दिया और उनका कत्ल किया। पूछा : 'क्यों भाई, क्यों काटते हो ?' बोले : 'तुम जानवरों को क्यों मारते हो ? तुम जानवरों को मारते हो, तो हम तुम्हें मारते हैं। पशु रक्षणीय है। पशु को बचाने के लिए मानव को मारना होगा।' गांधी के सामने यही प्रश्न था कि गाय को बचाने के लिए क्या मनुष्य को मारना चाहिए ? सोचने की बात है कि कहाँ से आयी होगी ऐसी वाहियात चीजें ? यह कैसे हुआ होगा कि पशु को बचाने के लिए मनुष्य को मारें ? उन टापूवालों ने पशु को बचाने के लिए मनुष्यों को मारा। कई लाशें उस टापू पर पड़ी थीं। उन्होंने सोचा कि इतना मांस बेकार जायगा। यह मांस बेकार न जाय, इसलिए इसे खा जाना चाहिए।

अविवेक का त्याग आवश्यक

मनुष्य में इस तरह से अविवेक आ जाता है। शाकाहार के अभिमानी कहा करते थे कि जो मांसाहारी हैं, उनमें मानवता की कमी है। ऐसा नहीं, बल्कि हो सकता है कि कोई मांसाहारी व्यक्ति गांधी से भी अधिक दयावान् हो।

दीनबन्धु एण्ड्रयूज बचपन में मांसाहारी रहे होंगे, फिर भी वे दयालु थे। अगर कोई जैन डिक्टेटर हो जायगा, तो वह क्या हुक्म देगा ? वह कहेगा कि कोई मांस नहीं खा सकेगा, पशुओं का कत्ल नहीं होगा। अंबरीष, रुक्मांगद और प्रियाल एकनिष्ठ एकादशी का व्रत रखनेवाले राजा थे। एकादशी आते ही ढिंढोरा पीटा जाता था कि न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं हरेर्दिनम्। आज कोई भोजन नहीं करेगा। हमारे एक रिश्तेदार चतुर्थी का व्रत रखते थे, तो उस दिन घोड़े को भी दाना नहीं खिलाते थे। सनातनियों का राज्य हो जाय, तो ऐसा आदेश जारी हो सकता है कि कोई हरिजन विश्वनाथ के मंदिर में नहीं जा सकता। एकादशी के दिन हड़ताल हो। इस तरह हम एक चौखटा बना देते हैं और उस चौखटे में सबको बंद करना चाहते हैं।

दोषों का संरक्षण न करें

हम मानते हैं कि संस्कृति का प्रधान लक्षण विनय हो। आप अगर यह मानेंगे कि मांसाहारी हमसे निकृष्ट हैं और हम उत्तम हैं, तो मांस-निवृत्ति से हमें जीवन की जो प्रतिष्ठा कायम करनी है, उसके बदले मनुष्य की अप्रतिष्ठा का दोष आयेगा। पशु-जीवन की प्रतिष्ठा के साथ-साथ मनुष्य जीवन की अप्रतिष्ठा का दोष आता है, तो सांस्कृतिक हानि होती है। आज के इस सांस्कृतिक संस्पर्श के जमाने में यह बहुत सोचने-समझने की चीज है। ऐसी कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिनका हमारे देश में संरक्षण होगा, ऐसे कौन से दोष हैं, जिनका संरक्षण नहीं होगा, इसका विवेक होना चाहिए। दोषों का संरक्षण नहीं करना चाहिए और उनको मिटाने में दूसरे की आवश्यक मदद लेनी चाहिए।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये। हमारे यहाँ सती की प्रथा थी। राजा राम-मोहन राय ने सती की प्रथा के खिलाफ आवाज उठायी। वे आधुनिक भारत के पैगंबर कहे जाते हैं। अंग्रेजी शिक्षण के लिए मेकॉले जिम्मेवार हैं, लेकिन उससे कहीं अधिक जिम्मेदार राजा राममोहन राय थे। सन् १८३२ में रानी विक्टोरिया के पास वे गये और कहा कि हमारे देश के लोगों को अंग्रेजी सिखानी चाहिए। उन्होंने वेद और कुरान का अध्ययन किया, बाइबिल भी पढ़ी। पहला देशी बंगाली अखबार श्री रामकृष्ण मिशनरियों की सहायता से प्रकाशित किया। ये राजा राममोहन राय सती के खिलाफ थे। उस समय दो मुख्य प्रश्न थे—सती और विधवा-विवाह। बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह का आंदोलन उठाया, उधर महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानडे ने। राजा राममोहन राय ने सती के खिलाफ आवाज उठायी। उस वक्त के

सनातनियो और देशभक्तो ने इसका विरोध किया और वह इस आधार पर किया कि विदेशी सरकार को हमारे जीवन मे, हमारे धर्म के मामले में, हस्तक्षेप करने का अधिकार नही है।

वैसे ही आगे चलकर जब 'एज आव्ह कन्सेंट (समति की आयु) का बिल बम्बई की असेम्बली मे आया, तो तिलक ने उसका विरोध किया। 'एज ऑव्ह कन्सेंट' का मतलब यह है कि लडकी की शादी होने के बाद लडकी और उसके पति का सबंध किस उम्र मे हो, ऐसी कौन-सी उम्र मानी जाय, जिसमे शरीर-संबंध मे लड़की की सम्मति जायज मानी जाय ? रानडे आदिने प्रस्ताव किया कि लड़की चौदह साल की होनी चाहिए। लोकमान्य ने यह कहकर विरोध किया कि विदेशी सरकार को हमारे घरो मे हस्तक्षेप नही करने देना चाहिए।

इस प्रकार कभी-कभी प्रतिक्रिया के कारण हम सास्कृतिक दोष का भी समर्थन कर लेते है। इसमे से कुछ अभिमान का पोषण होता है। अजमेर के हरविलास सारडा ने एक किताब लिखी : 'हिंदू सुपीरिऑरिटी' ('हिन्दुओं की श्रेष्ठता')। उसमे अस्पृश्यता, जातिभेद, बाल-विवाह का समर्थन किया था। वैसे ही महाराष्ट्र मे भी 'हिंदू-धर्म आणि सुधारणा' पुस्तक मे लिखा गया कि हिंदू-धर्म मे सुधार की आवश्यकता नही है। वहाँ विधवा के वपन से लेकर ब्राह्मणो के गोमय खाने तक का समर्थन किया गया। इस तरह एक राष्ट्रीय दुरभिमान पैदा हो जाता है, तो 'शोविनिज्म' आ जाता है। 'शोविनिज्म' का मतलब है—हमारा जो कुछ है वही सही है, तुम्हारा गलत है। सास्कृतिक सस्पर्श के लिए होना यह चाहिए कि हम अपने दोषो को मिटाने के लिए दूसरों का सहयोग लें। इससे हमारी ताकत कम नहीं होगी, उल्टे बढेगी। हमें यह डर न हो कि उससे ताकत कम होगी। जिन सास्कृतिक प्रथाओ को सर्वमान्य सास्कृतिक सिद्धान्त की कसौटी पर कस सकते हैं, उनका सरक्षण होना चाहिए। हम जो हमारी विशेषता है, उसका प्रदान करे और दूसरो की विशेषताओ का आदान करें।

सांस्कृतिक भूमिका पर एकता

सास्कृतिक सस्पर्श की भूमिका पर मनुष्य एक हो जायँगे। इसमे से जागतिक, मानवीय सस्कृति का विकास होता है। अगर इस सास्कृतिक भूमिका पर मनुष्य एक हो जायँगे, तो राज्यो की सीमाएँ अधिक दिनो तक नहीं ठहरेंगी। अनेक व्यक्ति अपने जीवन में इन सीमाओ को पार कर चुके है। यह सिलसिला

बराबर जारी रहना चाहिए। हमारे पडोस में मिसेस बी शिवराव है। वे यूरोप की हैं। राष्ट्रीयता की बिना पर हम कहते रहेंगे कि पूरब-पश्चिम एक नहीं हैं, लेकिन शिवराव के घर मे तो पूर्व-पश्चिम एक है। सुभाषबाबू की पत्नी भी जर्मनी की थी। इस तरह जिन्हे आप राजनीतिक सीमाएँ कहते है, सांस्कृतिक संसर्ग उन्हे छेदता है। राजनैतिक सीमाओं को मनुष्य का हृदय पार करता चला जाता है। स्वाभाविक प्रेरणा सारी सास्कृतिक सीमाओं को तोड़ती चली जाती है। उस प्रेरणा को बढाने की आवश्यकता है।

२-२-'६१

समाज-रचना का बना-बनाया ढाँचा : ११ :

व्यक्ति के विषय मे अब तक हमने सोचा। अब हम समाज-रचना के विषय मे थोड़ा विचार करे। कपडा छापने के लिए ठप्पे बना लिए जाते है। इन ठप्पो से सारे-के-सारे कपड़े एक तर्ज के होते है। जो लोग एक ठप्पे का आदमी, एक ठप्पे की चीजे बनाना चाहते है, उन लोगों को सास्कृतिक क्षेत्र मे अक्सर 'ठप्पेबाज' कहा जाता है। लेकिन आज हम देख रहे है कि सारी दुनिया का एक सास्कृतिक ढॉचा बन रहा है।

शहर और पास की बस्तियॉ

एस्पेरेण्टो आर्कीटेक्चर, सब जगह चल रहा है। सारी दुनिया मे जितनी अच्छी इमारते बनती है, वे फेरोकाक्रीट की बनती है। यहॉ तो नही, लेकिन आपको दूसरी जगह अगर छत बनानी हो, तो बने-बनाये फेरोकाक्रीट के टुकड़े लायेंगे और लगा देगे। सारी दुनिया मे एक-सी ही इमारते बन रही हैं। इसका नतीजा यह होता है कि एक शहर और दूसरे शहर मे कोई बहुत ज्यादा फर्क नहीं रहता। ट्राफिक के लिए रोज नयी युक्तियॉ निकालते है और नये मसले पैदा होते हैं। इसलिए बहुत बडे शहर को फैलाते है। इससे दो तरह की सस्कृतियॉ पैदा होती है। बड़े-बडे शहर जहॉ होते है, वहॉ छोटे-छोटे 'इक्सटेंशन' करते है। बड़े शहर को कुछ जगह 'रिबन आउट' करते है, फैला देते हैं और कुछ जगह 'सबर्ब्स' उपनगर बना देते हैं। इन सबर्ब्स (उपनगरो) मे रहनेवाले आदमी अर्बन, नागरिक नही होते, सबर्बन, उपनागरिक होते हैं। 'सबर्ब्स' मे रहनेवाला शहर मे काम करता है। सबर्ब्स बहुत बडे न हुए, तो म्युनिसिपैलिटी कहॉ होगी ? शहर में म्युनिसिपैलिटी, बाजार और दफ्तर होता है। मनुष्य सिर्फ रहता है सबर्ब्स मे। शहर मे रहनेवालों से उसका नागरिकता का सीधा नाता नहीं होता। 'सबर्ब' मे रहने से नागरिकता का ह्रास होता है। इस तरह वह किसीके साथ सबध नहीं रखता। वह नोमैड है, खानाबदोश है। यहॉ के लोग न इधर के होते है, न उधर के। बडे-बडे शहरो के साथ छोटी-छोटी बस्तियॉ बस रही है। ये बस्तियॉ या तो अपने मे पूर्ण है या कुछ शहरो का हिस्सा होती हैं। तो, शहरो के साथ निकट सबध नही आता। दोनो तरफ आदमी की कोई

आस्था नहीं रहती। मनुष्य कहता है कि १२ घंटे में बम्बई रहता हूँ और १२ घंटे गोरेगाँव में।

इस तरह नागरिकता का, नागरिक भावना का विकास नहीं हो पाता। आधुनिक शहरी जीवन में तीन चीजें अनिवार्य हो गयी हैं—मोटर, बाथरूम और रेडियो। अगर सबके पास मोटरें हो गयीं, तो मनुष्य उन्हें खड़ी कहाँ करे, यह सवाल है। 'पार्किंग' और ट्राफिक का सवाल टेढ़ा हो जाता है। कहते हैं कि अमेरिका में हर तीसरे आदमी के पास मोटर होगी। वह मोटर में बैठकर आयेगा। एक के पीछे एक पार्क करेंगे। मेरी मोटर मेरी दुकान के सामने है, लेकिन बदरीभाई को मोटर पार्क करके एक मील चलकर आना पड़ेगा। तो, उस मोटर से उनका लाभ क्या रहा ?

रेडियो में एक तरह से एक खिचड़ी-सी रहेगी, जिसे 'मुश' कहते हैं। 'मुश' का मतलब है—मकई की लप्सी। बहुत-सी चीजें एक में घोंट देते हैं। रेडियो की इस खिचड़ी का जीभ से नहीं, श्रवण से संबंध रहता है। रेडियो में अब जो चीजें आयेंगी, वे सबके लिए एक सी ही आयेंगी। हो सकता है कि आप सिलोन लगा लें और और कोई दूसरा, लेकिन आयेगा सबके लिए एक। यह सब 'डेकफिल' के तरीके से आयेगा। मतलब यह है कि एक आदमी नाटक करता है और दूसरा आदमी पीछे से 'प्रोम्पटिंग' कर (बता) रहा है। अगर बतलाने वाला कुछ वाहियात चीज कहे, तो वह भी कह देगा। बाद में उसके ध्यान में आयेगा कि मैंने क्या कहा। इस तरह पीछे बैठकर कुछ व्यक्ति निर्णय करते हैं। रेडियो में औसत अक्ल का आदमी यह तय करता है, विनोबा या जवाहर-लालजी जैसा नहीं। मामूली बरेलू अक्ल जिसकी है, वह आपको संस्कृति परसता है। औसत अक्ल का आदमी उस पर नियन्त्रण रखता है। विनोबा ने कई बार कहा है कि औसत अक्ल का आदमी आता है, तो मोटी अक्ल की मामूली फिलासॉफी चलती है। यह जो नियंत्रण होता है, वह सार्वदेशिक संस्कृति का रूप लेता है।

कला का अब अधिक-से-अधिक उपयोग सरकारी व्यापारी इश्तहारों के लिए होगा। कला जब विज्ञापन के लिए हो जाती है, तब वह बाजारू हो जाती है। बाद में वह स्थिति आती है कि लोग कहने लगते हैं कि हमें सांस्कृतिक कार्यों के लिए फुरसत नहीं है। कोई कहे कि यह किताब स्टेशन पर मिलती है। आप पूछें कि 'कितने पन्ने हैं ?' 'पाँच सौ पन्ने होंगे।' 'तो इसे कौन पढ़ेगा ?' 'तो फिर कैसी किताब पढ़ेंगे ?' 'किताब ऐसी होनी चाहिए, जो रोचक भी हो और छोटी भी।' 'क्यों ?' 'हम ट्रेन में चल रहे हैं, जरा 'लाइट रीडिंग' (हल्की

चीज) चाहते हैं। गंभीर चीज पढ़ना नही चाहते।' कोई भी भौतिक, नैतिक या आध्यात्मिक प्रश्न हो, मनुष्य चाहता है कि हमे बने-बनाये उत्तर मिले, कुछ उत्तर यंत्र देगा, कुछ यत्रविज्ञ देगा और कुछ उत्तर बाबा बैरागी देगे। उत्तर तुरत चाहिए। समस्या को समझने की फुरसत नही है। विश्वनाथ के मदिर मे जाते है। पंडे से कहते है कि रुद्र का अभिषेक कर दो। पडे ने कहा : 'कर देगे, ११ रुपये दीजिये।' ग्यारह रुपये दिये और चद मिनटो मे काम हुआ। क्या अब कोई किसीका पूरा नाम लेता है ? यूनो, यूनेस्को, यू० एन० ओ० ऐसा ही कहते है। कौन लबा नाम बोलेगा ? इसी तरह आदमियो के नाम भी सक्षेप मे कह देते हैं। जैसे, सी० आर०, जे पी०।

बना-बनाया जवाब चाहिए

हर चीज को हमने दूसरो पर सौंप दिया है। हम हर चीज का बना-बनाया जवाब चाहते है। या तो विशेषज्ञ जवाब दे या यत्र दे। हमसे किसी प्रश्न का जवाब पूछा जाय, उसका बना-बनाया उत्तर मिले। हम समझे, यह भी अपेक्षा न रखी जाय। आजकल जगह-जगह 'जनरल नॉलेज' की किताबे मिलती हैं। 'पब्लिक सर्विस कमीशन' से मिलने के लिए दो लडके अहमदाबाद से आ रहे है। वे पूछते है कि सजीव रेड्डी और गोपाल रेड्डी मे क्या फर्क है ? जनरल नॉलेज की किताब मे से उनको सारी दुनिया का ज्ञान मिलता है। इस तरह जैसे 'प्री-फेब्रीकेटेड' मकान होते हैं, वैसे ही जवाब भी होते है। जैसे यह पुल बना है, उसी तरह से सडक भी बना दी। इस तरह हम क्या चाहते हैं ? 'प्री-फेब्रीकेटेड' उत्तर भी चाहते है। यह सवाल आया, तो इस खाने मे से जवाब निकाल लिया।

खादी भडार और कपडे की बडी-बडी दूकानों मे कपडे पहनकर एक स्त्री और एक पुरुष खड़े है—लकडी के या मोम के बने हुए। एक पुरुष होता है अप-टु-डेट पोशाकवाला, दूसरी 'पिन-अप' स्त्री होती है। बताया जाता है कि साडी ऐसी होनी चाहिए, ब्लाउज ऐसा होना चाहिए। मोम के ऐसे पुतले का नाम है 'मॅनीकीन'। इस तरह बहुत-से आदमी 'स्टीरिओटाइप्ट' 'मॅनीकीन' 'एक छाप के पुतले' बन जाते है।

'स्टैण्डर्डाइजेशन' की चर्चा मे हमने कहा था कि बाहरी पोशाक मे 'स्टैण्डर्डाइजेशन' आ जाय, तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन अब तो रेडियो मे एक तरह के गाने बजते है। यो पृष्ठभूमि की बनी-बनायी सस्कृति मिलती है। पृष्ठभूमिवाले लोग कौन है ? एक तो है सत्तावाले और दूसरे व्यापारवाले।

कम्युनिस्ट देश मे सत्तावाले होते हैं और 'गैर कम्युनिस्ट' देश में व्यापारवाले। मेरा चित्र लोकप्रिय होना चाहिए। 'कम्युनिस्ट' देश मे सिनेमावाले कहते हैं कि मनुष्य किस ढॉचे का हो, यह हम सिनेमा मे दिखायेंगे। इसे 'प्रोपेगेण्डा' (प्रचार) कहते है। हमारे मन मे एक पैटर्न है। एक आदमी का चित्र बना लिया है। उस चित्र को लोगों के सामने हम रखना चाहते हैं।

प्रचार और विज्ञापन

व्यापारवाला कहता है कि हमे ज्यादा-से-ज्यादा ग्राहक जिससे मिलेंगे, उस तरह की कला हम लोगों के सामने रखेंगे। इसलिए मैंने दो चीजे आपके सामने रखी है। एक सत्ता का 'प्रोपेगेण्डा' है और दूसरा 'एड्वर्टीजमेण्ट' है। 'प्रोपेगेण्डा' (प्रचार) और 'एड्वर्टीजमेण्ट' (विज्ञापन) ने मिलकर संस्कृति की पृष्ठभूमिका भार सँभाल लिया। जिसे हमने बॅकफिल्ड कल्चर कहा है। 'विनाका टुथपेस्ट' के गीत चलते हैं, तब चौराहे पर भीड लग जाती है। मैंने अपनी तीन साल की पोती से पूछा कि क्या सुन रही हो? बोली : 'विनाका'। 'मै तो जानता नहीं कि विनाका क्या है?' तो उस लड़की ने कहा : 'उसमे गीत आते है। पहले गीत आते है और बाद में 'विनाका लीजिये' ऐसा आता है।' लोकेन्द्र का चित्र आया। वह कारखाने में खूब काम करके आता है और नहाने जाता है। जिस साबुन से नहाते हैं, उसका विज्ञापन दिखाते है और अंत मे कहते है कि 'लक्स' साबुन खरीदिये। व्यापार और सत्तावाले ऐसा करते है। वे सारे सांस्कृतिक साधनों को, अपने विचारो को बेचने या मढ़ने का साधन बनाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। लेकिन अब लोगों को आदत हो गयी है कि तुरत उत्तर चाहिए। सारी चीज बनी-बनायी चाहिए।

विशेषता का विकास वांछनीय

हम कहते है कि थोडा-बहुत 'स्टैण्डर्डाइजेशन' चले। लेकिन जिस परिस्थिति मे मकान बनता है, उस परिस्थिति के साथ उसका अनुबंध होना चाहिए। परिस्थिति का मतलब है—सृष्टि की परिस्थिति। मकान ऐसा हो, जो उस वातावरण का हिस्सा मालूम पड़े। एक हद तक ऐसा होता है कि पहाड मे मकान अलग तरह के होते है, समुद्र-तट पर मकान अलग तरह के होते है। जहाँ गर्मी-सर्दी होती है, वहाँ अलग तरह के होते है। थोडा-सा तो वातावरण पर निर्भर होता है, लेकिन होना चाहिए इससे अधिक। मकान बनाने मे

राजस्थान मे रेत का अधिक उपयोग होना चाहिए और पहाड पर पत्थर का। नैसर्गिक परिस्थिति के अनुरूप मकान होने चाहिए। जैसलमेर मे आप जाइये, वहाँ आपको पीले पत्थर के मकान दिखाई देगे। जोधपुर मे लाल पत्थर के और जयपुर जायँगे, तो अलग ही दिखाई देगे। वहाँ के वातावरण के साथ इसका सवंध है।

पर, इसके वदले आज क्या हो रहा है? सीमेण्ट-कांक्रीट सव जगह है, तो जैसलमेर मे भी सीमेण्ट-कांक्रीट आ जायगा। परन्तु 'स्टैण्डर्डाइजेशन' और विशेषता दोनो का संयोग होना चाहिए। वाहर से देखने का जो रूप हो, वह ऐसा होना चाहिए कि परिस्थिति और परपरा के अनुकूल हो। देखते ही आपके ध्यान मे आ जाय। जगदीश वसु की लेबोरेटरी देखते है, तो भीतर के कमरे वैसे ही है, पर उसका वाह्य स्वरूप सॉची के स्तूप जैसा है। उस कला मे विशेषता है। यह नहीं कि हमारे यहाँ देहाती मकानो मे दरवाजे नही होते थे, तो हमारे मकान मे भी दरवाजे न हो; देहाती मकानों में अँधेरा होता था, तो हमारे मकानो मे भी अँधेरा ही हो। ऐसा नहीं। फिर भी आज हम देख रहे हैं कि दिल्ली मे पार्लमेण्ट हाउस ऐसा वना है कि दिन मे भी चिराग लगाने पडे, कारण इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट में चिराग जलाने पड़ते है। मंदिर मे अँधेरा रखना पडता है और फिर दर्शनार्थी से चार आने लेकर खडे हुए विष्णु की मूर्ति के दर्शन दीया लेकर कराते है। अँधेरे मे गाभीर्य है, ऐसा मानते है, तो ठीक है। लेकिन स्थापत्य मे विवेक की आवश्यकता है। आर्किटेक्चर मे कुछ-कुछ 'स्टैण्डर्डाइजेशन' हो, तो अवश्य हो। 'स्टैण्डर्डाइजेशन' जितना आवश्यक है, उतना ही यह भी आवश्यक है कि हर जगह की जो कुछ विशेषता है, उसका सरक्षण हो।

अंतर्राष्ट्रीयता की वृद्धि

अव इसके आगे समूह मे 'स्टैण्डर्डाइजेशन' बढ़ा। सार्वदेशिक भावना आयी। इसमे से अतर्राष्ट्रीयतावाद बढा। दुनिया मे इतना अंतर्राष्ट्रीयतावाद आज से पहले कभी नही था। सपने थे कि सारी पृथ्वी का पर्यटन हो। विक्रम राजा ने सारी पृथ्वी का पर्यटन किया। ह्वेनसांग चीन से आया। प्रवासी व्यापारी आते और जाते थे। प्रवासी तीर्थयात्री होते थे। लेकिन जिसे हम अतर्राष्ट्रीय भावना कहते है, वह दुनिया मे कम-से-कम इतनी मात्रा मे पहले नही थी। यह अन्तर्विरोध है। एक तरफ अंतर्राष्ट्रीयतावाद इतना कभी नही वढा था और दूसरी तरफ एक-दूसरे का इतना डर और एक-दूसरे के लिए इतना

अविश्वास कभी नहीं था। इधर राष्ट्र-राष्ट्र में अविश्वास और भय है, उधर अंतर्राष्ट्रीयतावाद का जोश है, जज्बा है, उमंग है। सिर्फ विनोबा ही नहीं, अब तो कई राजनैतिक व्यक्ति भी कहते हैं कि एक देश से दूसरे देश में जाने के लिए 'पासपोर्ट' और 'वीसा' नहीं होना चाहिए।

एक बड़े होशियार अंग्रेज ने हमसे पूछा कि क्या पाकिस्तान और भारत के बीच पासपोर्ट और वीसा नहीं होना चाहिए? हमने कहा कि 'नहीं, यह तो रहना चाहिए, नहीं तो मुसलमान आयेंगे। यह तो ठीक नहीं होगा।' इस पर उस अंग्रेज ने कहा 'कि हम भी तो यही कहते हैं कि रूस के लोग आयेंगे, तो ठीक नहीं होगा।' एक तरफ अंतर्राष्ट्रीयता की आकांक्षा है और दूसरी तरफ इस तरह की रुकावट है।

यह रुकावट कहाँ से आती है? यह रुकावट आदर्शवादी पद्धति के वाद-विवाद में से आती है। इन आदर्शों में क्या दरअसल बहुत बड़ा अन्तर है? असल में दोनों के विचारों के प्रयोग की पद्धति में अन्तर है। दोनों की प्रतिज्ञाओं में अन्तर नहीं है। अमेरिका, इंग्लैंड, पश्चिम जर्मनी, फ्रान्स, स्केण्डीनेविया आदि जितने पश्चिमी राष्ट्र कहलाते हैं, उनका कहना है कि हम स्वतन्त्रता, समानता चाहते हैं। कम्युनिस्ट देशों का कहना है कि हम भी वही चाहते हैं, लेकिन तुम्हारे यहाँ जो स्वतन्त्रता, समानता है, वह नकली है, असली नहीं है। असली स्वतन्त्रता और असली समानता होनी चाहिए। तुम्हारे यहाँ औपचारिक है। तुमने कह दिया कानून से सब समान हैं। यह प्रत्यक्ष नहीं। हमारे यहाँ प्रत्यक्ष है। दोनों दो तरह की पद्धतियों से काम लेते हैं, ऐसा कहा जाता है। लेकिन अंत में क्या होता है? रूस का आदमी कहता है कि कहीं ऐसा न हो कि पूँजीवादी विचार रूस में प्रवेश कर जाय। इसलिए रूस को पूँजीवाद से बचाना चाहिए। अमेरिका कहेगा कि कहीं ऐसा न हो कि कम्युनिस्ट हमारे देश में आ जायँ। इसलिए कम्युनिज्म से अमेरिका को बचाना चाहिए। तो तीन परदे आ गये। एक लोहे का परदा रूस का है। वह ऐसा है, जिसके भीतर कोई झाँक न सके। चीनवाले का बाँस का परदा है, जिसमें से थोड़ा-थोड़ा झाँक सकते हैं। तीसरा परदा अमेरिका का है। वह प्लास्टिक का परदा है। आप देख सकते हैं, लेकिन कुछ ले नहीं सकते।

आदर्शों का युद्ध

आज लोकशाही के संरक्षण के लिए लोकशाही राष्ट्र जिन उपायों से काम ले रहे हैं, उन उपायों में और कम्युनिस्ट राज्य के उपायों में केवल मात्रा का

अन्तर है, प्रकार का अंतर नहीं है। लोकतंत्रवादी राष्ट्र भी उन्ही उपायो से काम ले रहे हैं, जिनसे तानाशाही राष्ट्रो को लेना पड़ा। इसलिए हम कहते है कि इन दो गिरोहो का कोहासे मे युद्ध हो रहा है। दोनो के तरीके इतने नजदीक आ गये हैं कि अन्तर बहुत कम रहा है। अमेरिका मे प्राइवेट अखबार चल सकते है, कम्युनिस्ट देश मे नहीं चला सकते। लेकिन अमेरिका के अखबारों पर धनिको की सत्ता है और संकट के समय राज्य का नियत्रण भी कडा होता है। हमारे देश मे सार्वजनिक सभा की स्वतत्रता है, लेकिन १४४ धारा हफ्ते मे तीन बार लगायी जाती है। यहाँ सभा का स्वातन्त्र्य नही है। पूछिये ऐसा क्यो? तो कहेगे, लोकशाही को बचाने के लिए। इसका यह मतलब नही कि दोनो मे अन्तर नहीं है। यहाँ के प्रधानमंत्री को आप पार्लमेण्ट मे 'मूर्ख' कह सकते है, यह किसी तानाशाही राष्ट्र मे नहीं होगा। लेकिन मूलभूत स्वतत्रता को सीमित, मर्यादित करना पड़ा है।

मार्क्स के जमाने के कुछ विचारो और परिस्थिति का हमने ज्यो-का-त्यो सरक्षण किया। उन्नीसवीं सदी मे जैसी परिस्थिति थी, कुछ अश मे वह आज भी है। हम मानते हैं कि दो क्षेत्रो मे दो वर्ग आमने-सामने खडे है, आर्थिक क्षेत्र मे 'प्रोलेटेरियत' और 'बुर्जुआ', मालिक और मजदूर। राजनीति के क्षेत्र मे 'लेफ्टिस्ट' (वामपंथी) और 'राइटिस्ट' (दक्षिणपंथी) है। सन् १७८९ मे फ्रान्स मे जो राज्यक्रान्ति हुई, उसके साथ ये 'लेफ्टिस्ट' और 'राइटिस्ट' शब्द आये। तब से ये चल रहे है। दो वर्ग अपने-अपने पैतरो में खडे हैं। उस वक्त भी खडे थे, आज भी खड़े है। उन्नीसवीं शताब्दी मे यूरोप मे मनुष्यों और समुदायों मे जो भेद थे, उस वक्त उनकी संस्कृति थी, उसका हम आज आयात कर रहे है। दो आदमी दो तरह की बाते कहते है। कृष्णमूर्ति कहते हैं कि स्मृति न रखो। विनोबा कहते है कि इतिहास का बोझ न ढोओ। 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' की कहानी में लिखा है कि जब मनुष्य स्वर्ग की तरफ आरोहण करता है, तब सारी सम्पत्ति फेंकता जाता है। मनुष्यो को जो इतिहास बॉधता है, और अलग करता है, वह वास्तविक भले ही हो, लेकिन जो वास्तविक स्थिति बीत गयी है, वह क्यो हमे बॉधे? बीती हुई वस्तुस्थिति मनुष्यों को क्यो बॉधती है? इसलिए इतिहास का भी बोझ होता है। यूरोप का वह बोझ आज हम ढो रहे हैं। असल मे आज पूँजीवादी राष्ट्रों का रुख समाजवाद की तरफ है। वे लोग-कल्याणवाद की ओर आ गये है। दवा, मकान, खाना, कपड़ा, शिक्षण सबको मिलना चाहिए। म्युनिसिपल समाजवाद तक तो सब आ ही गये हैं। नागरिक समाजवाद की ओर तो सारे-के-सारे राष्ट्र आ ही गये है।

सभी का रुख समाजवाद की दिशा में है। तो रुख भी समाजवाद की दिशा मे है और जिन साधनों का उपयोग करते हैं, उन साधनों मे भी कम्युनिज्म के साधनो से बहुत ज्यादा अन्तर नही है। मात्रा का थोड़ा-सा अन्तर है। प्रकार का अन्तर नही रह गया है। ऐसी परिस्थिति में यह कुहासे की लडाई चल रही है। किन्तु आज बीसवी शताब्दी में सारी परिस्थितियॉ पहले से बहुत ज्यादा गतिशील हो गयी हैं—पहले ५० साल मे जो बात होती थी, वह आज ५ साल मे होती है। मानवीय व्यवहार पर इसका परिणाम होता है। पहले की वस्तुस्थिति ठोस थी, जो आज पिघल गयी है। ऐसी परिस्थिति मे हम उस परिस्थिति के झगडे सारे-के-सारे ज्यो-के त्यो ला रहे है। पूँजीवादी या कम्युनिस्ट राष्ट्र, दोनो बात तो एक ही करते हैं कि हम स्वतंत्रता, समानता चाहते है, पर दोनो इसके लिए ढॉचे अलग-अलग बना रहे है। एक कहता है कि मेरे ढॉचे से होगा, दूसरा कहता है कि मेरे ढॉचे से होगा। दो ढॉचो के युद्ध में मनुष्य बीच मे फॅसा है। ये दो प्रबल शत्रु है एक-दूसरे के। हम यह नहीं चाहते कि उनकी पृष्ठभूमि मे सारी संस्कृति बने।

आस्थाओ और रुचियो में परिवर्तन

आज मनुष्य की आस्थाऍ और रुचियॉ बदल रही हैं। वह सकटमोचन के पास जायगा, तो कहेगा कि मेरा बेटा बीमार है, वह अच्छा हो जाय। अगर भाई की परीक्षा हो, तो कहेगा कि मेरा भाई परीक्षा मे पास हो जाय। लेकिन आज स्वर्ग के लिए कोई वहॉ नही जाता। पहले लोगों मे परलोक के लिए दिलचस्पी थी। पुनर्जन्म के लिए दिलचस्पी थी। पहले मजदूर कहता था कि मालिक ने बहुत ज्यादा तकलीफ दी, तो अगले जन्म मे देख लूँगा। पर अब वह क्या करता और कहता है? 'ट्रेड यूनियन' बनाता है और कहता है 'ठीक है, दुरुस्त कर दूँगा!' अब वह अगले जन्म की बात नहीं सोचता। यों हम देखते हैं कि परलोक से मनुष्य इहलोक मे आ गया। दुनियाभर मे यह रुख बदल रहा है। विद्यार्थी अब पुरानी बातों को नहीं मानता। साधारण छात्र भी किसी मूल्य के लिए आस्था नहीं रखता। पहले का धर्म पारलौकिक था और वह पुनर्जन्म से संबंध रखता था। आज सबका रुख बदल गया है। इसका कारण विज्ञान है। विज्ञान कहता है कि जिन चीजों के लिए पहले मरकर स्वर्ग मे जाना पड़ता था, वे चीजें अब यहीं इस लोक मे उपलब्ध हो सकती है।

राज्य से समाज की ओर

दूसरी चीज आज यह हो रही है कि मनुष्य राज्य की तरफ से समाज की तरफ मुड रहा है। यो ऊपर से देखने मे यह बात असंगत-सी मालूम होगी। राज्य और राष्ट्र की तरफ से मनुष्य धीरे-धीरे समाज की तरफ मुड रहा है। पहले वह राज्य और राष्ट्र को ही सब कुछ समझता था, लेकिन अब ऐसा नहीं रहा। जैसे, आइक ने इंग्लैण्ड मे कहा कि जनता लड़ाई नही चाहती। लडाई सरकारे कराती है। किसी देश के साधारण मनुष्य से पूछिये, तो कहेगा कि हम लडाई नहीं चाहते। वह दूसरे देशो के साथ दुश्मनी मोल लेना नहीं चाहता। साधारण मनुष्य की मनोवृत्ति यह है। अब वह समाज की तरफ उन्मुख हो रहा है। एक-दूसरे की तरफ अभिमुख हो रहा है। राज्य और राष्ट्र का आदर्श जिनके पास है या जिनके पास विचारो की दूकानदारी है, उनकी बात मैं नहीं कह रहा हूँ। साधारण मनुष्य, जो किसी पद्धति या विचारधारा का दूकानदार, या खोमचेवाला नही है, उसका रुख बदल रहा है। इन दूकानदारो को लोहे का या बॉस का पर्दा क्यों चाहिए ? इसलिए कि कही साधारण मनुष्य बदल न जाय !

माओ ने कहा : 'दुनिया के इस गुलशन मे सौ-सौ किस्म के फूल खिले।' चीन मे कुछ तरुण साहित्यकार निकले, जो दूसरे मूल्यो की बात करने लगे, तो माओ ने कहा कि 'सौ किस्म के फूल खिले, यह मैने कहा था, लेकिन ये फूल हमारी क्यारी मे खिले, दूसरे की क्यारी मे वे फूल भी कॉटे है !' यही रूस मे हुआ। क्रुश्चेव की सत्ता आते ही 'डॉक्टर जीवागो' वाला पास्तरनीक निकला। तो, विचारो के व्यापारी लोहे, बॉस या रेशम के तरह-तरह के परदे बना रहे हैं। पर मनुष्य मे एक सार्वदेशिक मोड आ रहा है। सारी दुनिया को वह अपनी मानने लगा है। वह कहता है कि तुम्हारे देश मे जगह है, तो मुझे रहने क्यों नहीं देते ? नहीं देते, यह गुनाह करते हो। तुम्हारे देश में इतना अन्न होता है, तो जो भूखे है, उन्हे क्यो नही देते ? मनुष्य ऐसा कहने का अपना अधिकार मानने लगा है, इससे पहले वह ऐसा नही मानता था।

लोक-राज्य या पुलिस-राज्य ?

रूस और चीन मे 'पिपुल्स रिपब्लिक' है। लोकतत्र तो है, लेकिन शासन कौन कर रहा है ? शासन करती पुलिस है। कह सकते हैं कि वहॉ पुलिस का ही राज्य है। इनका जितना काम चलता है, वह खुफिया पुलिस से चलता है।

हिटलर की जर्मनी में, माओ के चीन में, स्टालिन के रूस में, टीटो के युगोस्लाविया में सबसे भयानक अगर कोई संस्था है, तो खुफिया पुलिस है। उसका यहाँ तक अमल हो गया था कि बीच-बीच में बेटा भी अपने बाप के खिलाफ सूचना देता था! क्यों? विचारवादका बहुत ज्यादा उन्माद था। हम कम्युनिस्ट हैं और हमारा विचार दुनिया में फैलना चाहिए, यह एक उन्माद था। यहाँ अन्तर्विरोध यही आता है कि अमल में राज्य तो पुलिस का है, पर नाम है लोकतन्त्रात्मक। अगर जनता का ही राज्य है, तो जबरदस्ती की क्या आवश्यकता है? लोगों पर निगरानी रखने की क्या जरूरत है? प्रत्यक्ष पुलिस का राज्य है और कहलाता है सार्वजनिक लोक-राज्य। इसका नतीजा यह हुआ कि 'स्टेट सोशलिज्म' (राजकीय समाजवाद) और 'स्टेट कैपिटलिज्म' (राजकीय पूँजीवाद) में अन्तर नजर नहीं आता।

'स्टेट सोशलिज्म' का मतलब है—उत्पादन के साधन व्यक्ति के नहीं, राज्य के हाथ में होने चाहिए। यह राज्य स्वामित्ववाद है। राज्य स्वामित्व एक हदतक पूँजीवादी देशों में भी है। समाजवादी देशों में पहले जो मजदूर मालिक का नौकर था, वह अब राज्य का नौकर हो गया। सवाल यह है कि सारे लोक-समुदाय को क्या आप सरकारी नौकर बना देना चाहते हैं। कल तक वह कारखानेदार का नौकर था, आज राज्य का नौकर बना दिया गया; लेकिन रहा नौकर ही! सत्ता के प्रयोग के लिए समाज एक यंत्र बना देता है। उसे हम 'स्टेट' राज्य कहते हैं। हमने सत्ता के प्रयोग के लिए यंत्र बनाया तो प्रयोग हमारे हित में होना चाहिए, न कि हमारे खिलाफ। हेगेल का कहना था कि 'इहलोक में राजा होना चाहिए, राजा ही ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है।' यह 'आब्सोल्यूटिस्ट थियरी' (ऐकान्तिक राज्यवाद) कहलाती है। पार्लियामेण्टरी पद्धति को भी जब पार्लमेण्ट की निरंकुश सत्ता में बदल देते हैं, तो वह पार्लियामेण्टरी अब्सोल्यूटिज्म हो जाता है। प्रातिनिधिक संस्थाएँ मालिक बन जाती हैं। आपका जो प्रतिनिधि है, वह प्रतिनिधि ही रहना चाहिए, वह मालिक न बने। प्रतिनिधि आपका जमादार, नम्बरदार न बने। प्रतिनिधि प्रतिनिधि ही रहना चाहिए। लेकिन आज होता क्या है? 'स्टेट सोशलिज्म' और 'स्टेट कैपिटलिज्म' में बहुत ज्यादा अन्तर दिखाई नहीं देता।

नियंत्रित अर्थ-रचना

कल्याणकारी राज्य में आपसे कहते हैं कि आपके अभिक्रम के लिए, आपके उद्योग के लिए काफी अवसर है। लेकिन कहाँ? तो, नियन्त्रित अर्थरचना

मे। इधर नियन्त्रित अर्थ-रचना चल रही है, उधर स्वतन्त्र अभिक्रम भी। यह बहुत बडा विरोध है। स्वतन्त्र अभिक्रम होगा, तो नियन्त्रण नहीं हो सकता और नियन्त्रण हो, तो स्वतन्त्र अभिक्रम नही हो सकता। तब क्या करते हैं? अभिक्रम मे स्वतंत्रता सीमित करते है। उससे पूँजी लगानेवाला डरता है। कहता है कि मुनाफे पर, उत्पादन पर तो आपका नियन्त्रण होगा।

खादीवाले कहेगे कि खादी चलानी है, तो मिल पर नियन्त्रण करो। मिल पर नियन्त्रण होने से मिलवाले मिल नहीं चलाते, पूँजी घबडाने लगती है। तो फिर मनाओ मिलवाले को। यह अतर्विरोध है। एक तरफ स्वतन्त्र अभिक्रम है, दूसरी तरफ मैनेजीरियल सोसाइटी (व्यवस्थापकीय समाज) और निजी मालिकाना है। यह मिल डालमिया की है, यह बिडला की है, यह आपकी है। आपने मिल-मालिक से कहा कि आपकी मिल मे यह होगा, तो मालिक कहता है कि यह बात तो मैनेजर से पूछिये, मैने उसको सारे अधिकार सौप दिये है। मैनेजर कहेगा कि हमारे हाथ में कुछ नहीं है, शेयरहोल्डरों से पूछिये। शेयर-होल्डर कहते हैं कि हम मालिक थोडे ही है, हम शेयर-होल्डर है। मैनेजिग डाइरेक्टर से पूछिये। तो, एक तरफ व्यक्तिगत स्वामित्व है, दूसरी तरफ व्यवस्थावाद।

सामुदायिक सौदेबाजी

सामुदायिक सौदेबाजी के लिए 'ट्रेड यूनियनिज्म' है। उत्पादक की मालकियत अलग चीज है और ट्रेड यूनियनिज्म अलग चीज। ट्रेड यूनियन आप इसलिए बनाते है कि भाव का नियन्त्रण आपके हाथ मे रहे। सौदेबाजी आपके हाथ मे रहे। काशी स्टेशन पर बारात आती है तो रिक्शावाले एक हो जाते है। जिसे पूछते है, वह कहता है कि एक रुपये से कम नहीं लूँगा। अत मे आप विवश होते हैं और एक रुपया देते हैं। उन सबने आपके खिलाफ सामुदायिक सौदे की भूमिका बना ली। यह 'ट्रेड यूनियनिज्म' कहलाता है। सामुदायिक सौदे की क्षमता बढाना एक स्थिर स्वार्थ बन जाता है। ट्रेड यूनियन दबाव डालनेवाला समूह हो जाता है। उसे समाज की, राज्य की परवाह नही रहती। कम्युनिस्ट देश मे हड़ताल इसीलिए गैरकानूनी करार दी गयी है। कोई सामुदायिक सौदेबाजी वहाँ नहीं हो सकती। नियन्त्रित अर्थरचना और व्यवस्थापकीय अर्थरचना मे स्वतन्त्र अभिक्रम और व्यक्तिगत स्वामित्व, दोनो चीजे निष्प्राण हो जाती हैं। दोनों पक्ष कहते है कि सेक्योरिटी (सुरक्षा) चाहिए।

इन विरोधों में से हमें आपको रास्ता खोजना है। रास्ता बना-बनाया—'प्रीफेब्रीकेटड' होगा, तो जो रास्ता बनायेगा वह टैक्स लेगा। एक का रास्ता दूसरे के काम नहीं आयेगा। ●

३-२-'६०
प्रातः

कारखाने का समुदाय : १२ :

हम सामाजिक रचना का कोई चित्र लोगो के सामने रखना नही चाहते। मुख्य सवाल यह है कि हमारी दिशा क्या है ? हम विश्व को एक विराट् सामुदायिक संस्था नहीं बनाना चाहते। सारे विश्व को मानव-कुटुब बनाना चाहते है। सस्था मे जो रिश्ता होता है, वह सदस्यता का होता है और कुटुब मे जो रिश्ता होता है, वह आत्मीयता का होता है। स्नेह के आधार की बात अलग है। कुटुब मे जो स्नेह है उसका आधार रक्त-सबध, यौन सबंध या विवाह-सबध होता है। कुटुम्ब मे सदस्यता का रिश्ता नही होता। सदस्यता मे हरएक का कर्तव्य होता है, हरएक का अधिकार होता है। कुटुब मे कर्तव्य और अधिकार की भाषा नहीं होती। जहॉ यह भाषा होती है, वहॉ कौटुम्बिकता का ह्रास होता है। जहॉ कौटुम्बिकता अधिक होती है, वहॉ कर्तव्य और अधिकार का प्रवेश नही होता।

हमारी दिशा कौन-सी हो ?

अब हमे यह निर्णय करना है कि हमारी दिशा कौन-सी हो ? हम विश्व-कुटुब की बात कहते है। विश्व-राज्य की बात कहते है। एक राज्य होने से पहले अन्तर्राष्ट्रीय राज्य हो, जैसे आज 'यूनो' है। 'यूनो' पूरी तरह ऐसा नही बन सका, लेकिन इस तरह का है। यह कल्पना बहुत पुरानी है। जर्मन दार्शनिक इमैन्युअल कैण्ट कहता था कि सारे राष्ट्रो को अपनी सर्वश्रेष्ठ सत्ता छोड़ देनी चाहिए। जगली जानवरो की स्वतन्त्रता की हम निंदा करते हैं। वे अपनी-अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखना चाहते हैं। इसलिए जानवरो का कोई समाज नहीं बनता।

कैण्ट का कहना है कि जगली जानवरो को दोष देते हो और ये सारे राष्ट्र अपनी 'नेशनल सावरेण्टी', सार्वभौम राष्ट्रीय सत्ता, चाहते हैं, क्या यह कम जगलीपन है ? इसलिए 'सूपरनेशनल' 'अतिराष्ट्रीय' सरकार होनी चाहिए। विश्व-सरकार में राष्ट्रीयता नही रहती। राष्ट्रीय सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं।

समाजवाद और कम्युनिज्म मे राष्ट्रीय सीमाओ के लिए स्थान नही है। जब उनका समाज बन जायगा, तब ये तीन चीजे नहीं रहेंगी : व्यक्तिगत माल-

कियत, राष्ट्र की सीमाएँ और युद्ध। इसके लिए कोई कारण, कोई अवसर नहीं रहेगा। ऐसा समाज बनाने की समाजवाद और कम्युनिज्म की प्रतिज्ञा है। उनका नारा है कि 'दुनियाभर के मजदूरो एक हो जाओ।' जब राष्ट्र की सीमाएँ नहीं रहेंगी और उत्पादकों के हाथ में ही सत्ता होगी, तब राजसत्ता सूखे पत्ते की तरह झड़ जायगी। वे यह भी कहते हैं कि हमारे कहने से यह नहीं होगा, परिस्थिति ही ऐसी पैदा होगी। शोषण नहीं रहेगा, व्यक्तिगत संपत्ति, व्यक्तिगत मालकियत नहीं रहेगी। शोषण नहीं रहेगा, तो अलग-अलग राज्यों की आवश्यकता नहीं रहेगी। और इसलिए राष्ट्रीय सीमाएँ भी नहीं रहेंगी।

विश्व-सरकार

विश्व-सरकार का मतलब क्या है? क्या एक ऐसा राज्य होगा, जो सारी दुनिया का राज्य होगा? बाकी सब राष्ट्र नहीं होंगे? विनोबा का चित्र है कि एक सिरे पर ग्राम होगा और दूसरे सिरे पर सारा जगत्। सारे जगत् से मतलब है मानवता: विश्व का नागरिक नहीं, विश्व का मानव।

नागरिक और मानव में अन्तर है। नागरिक समाज का सदस्य है। पहले इंग्लैंड, अमेरिका में स्त्री नागरिक नहीं थी और आज स्विट्जरलैंड तथा युगोस्लाविया में स्त्री 'नागरिक' नहीं है। तो क्या स्त्री मनुष्य भी नहीं है? मनुष्य तो है, लेकिन स्विट्जरलैंड में, जहाँ की लोकशाही सबसे अच्छी मानी जाती है और युगोस्लाविया में, आज भी कोई स्त्री 'नागरिक' नहीं है। उसे मतदान का अधिकार नहीं है। इस बात को समझने की आवश्यकता इसलिए है कि आजकल यह विचार आ रहा है कि हर व्यक्ति के व्होट न हो, बल्कि परिवार को एक व्होट हो। पश्चिम में लोकशाही में आवश्यक सुधार चाहनेवालों ने भी यह कहना शुरू किया है।

नागरिकता और मनुष्यता

तो, नागरिकता और मनुष्यता एक नहीं है। मनुष्य की सारी-की-सारी भूमिकाओं से, हैसियतों से उसकी इन्सानियत बड़ी है, व्यापक है। पुरुषसूक्त में, वेद में एक वाक्य आता है—एतावान् अस्य महिमा। विराट् पुरुष का वर्णन है। उसमें कहा गया है कि इस पुरुष की इतनी महिमा है, लेकिन यह पुरुष अत ज्यायान् च पूरुष —महिमा से पुरुष बड़ा है। मैं अपने भाई का भाई हूँ; पत्नी का पति हूँ, बेटे का बाप हूँ—ये सब मेरे नाते हैं। इन सबसे मेरी मानवता व्यापक है। मानव की हैसियतें कई होंगी, लेकिन मानवता उनसे बड़ी है।

मानवता हैसियतो को पार करती है, छेद देती है। हमारी औपाधिक भूमिकाओ मे एक सदस्यता है, दूसरी नागरिकता। सदस्यता सस्था-आश्रित है। नागरिकता राष्ट्रीयता पर निर्भर है।

नागरिकता की शपथ-विधि

यही कारण है कि नागरिकता की शपथ-विधि होती है। प्राचीन यूनान मे नागरिकता की शपथ विधि होती थी। प्रतिज्ञा लिये बिना नागरिकता नहीं मिलती थी। बडे मजे की शपथ थी उनकी : "मै बेईमानी और कायरता का कोई काम नहीं करूँगा, जिससे मेरे शहर को शर्मिन्दा होना पडे। अपने शहर के आदर्शों के लिए, पवित्र स्थानो के लिए, जरूरत हो तो अकेला या दूसरे नागरिको के साथ, लड़ूँगा। मैं शहर के कानूनो का आदर करूँगा और उनका पालन करूँगा। मेरे आसपास जो लोग कानूनो को तोड़ना चाहते है, उनमे कानून के लिए आदर पैदा करूँगा।" (यह कानून-भग के लिए बहुत आवश्यक शर्त है। जिसके मन में कानून के लिए इज्जत न हो, उसका कानून तोड़ना सविनय अवज्ञा नहीं है। हमारे सत्याग्रह के आन्दोलन मे कुछ अन्याय पूर्ण कानून तोडे जाते थे, पर कानून के लिए आदर होता था।) "नागरिक कर्तव्यो की भावना नागरिको के मन मे पैदा करूँगा, लगातार इसके लिए कोशिश करूँगा। मेरी प्रार्थना है कि मेरा शहर अधिक श्रेष्ठ, महत्वपूर्ण और मागल्यमय हो, सुन्दर भी हो। अपने नगर की नागरिकता के कर्तव्य मे अपना पूरा-पूरा हिस्सा दूँगा।" यह है पुराने यूनानी नागरिक की प्रतिज्ञा!

नागरिकता की इस प्राप्ति को 'नेचरलाइजेशन' कहते है। 'नेचरलाइजेशन' का अर्थ है वह उम्र, जिसमे व्यक्ति नागरिकता का अधिकार प्राप्त करता है। जब वह नागरिक नहीं हुआ था, तब भी मनुष्य तो था ही। अर्थात् नागरिकता एक भूमिका वस्तु है।

यों नागरिकता, सदस्यता और मानवता—ये तीन अलग-अलग चीजे है। इनमे सबसे अधिक व्यापक मानवता है। विश्व-नागरिकता का क्या अर्थ है? सारे विश्व का जो एक ही राज्य बनेगा, उसमें मेरा मतदान का अधिकार होगा—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष।

अन्तर्राष्ट्रीय राज्य

एक और पर्याय है, अन्तर्राष्ट्रीय राज्य। उसमें से सह-अवस्थान की बात आती है। एक तरफ रूसी जीवन-पद्धति है, दूसरी तरफ अमरीकन जीवन

पद्धति। दोनों का सह-अवस्थान होगा। एक ही दुनिया में दोनों चलेंगे। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अन्तर्राष्ट्रीय राज्य इन सारे राज्यों का अधिराज्य होगा। उसमें सीमाएँ नहीं होंगी। लोहे या बॉस के पर्दे कितने दिन चलेंगे? इनसे सह-अवस्थान नहीं होगा। सह-अवस्थान के लिए संपर्क चाहिए। आज हरएक का अपना-अपना हवाबंद कमरा है और एक कमरे से दूसरे से कमरे में जाने का रास्ता नहीं है। हरएक अपना कमरा बन्द कर सकता है। यह परस्पर-संपर्क के अनुकूल व्यवस्था नहीं है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय नागरिकता नहीं आयेगी। जब लोहे और बॉस के पर्दे दूर हो जायँगे, जब सारे किलों के फाटक खुल जायँगे, तब अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना आयेगी।

समुदाय और परिवार

समुदाय और परिवार में अन्तर है। 'कलेक्टिव' का मतलब है—एक विशिष्ट कार्य के लिए मनुष्यों का एकत्र होना। कुटुंब में विशिष्ट कार्य के लिए एकत्र नहीं होते, पर वहाँ सामूहिक कृषि होती है, सामूहिक उपभोग होता है, सामूहिक बिक्री होती है।

एक लड़का कहता है: 'मैं घर-बार छोड़कर सन्यासी बन जाऊँगा।' पिता नाराज होकर कहता है: 'आज से मैं तेरा बाप नहीं, तू मेरा बेटा नहीं।' पुत्र कहता है कि 'आप यह क्या कहते हैं—मैं पुत्रत्व का त्यागपत्र देता हूँ।' लोग हँसने लगते हैं, भला कहीं पुत्रत्व से त्यागपत्र दिया जाता है? सदस्यता का तो स्वीकार और त्याग दोनों हो सकता है, क्योंकि वह ऐच्छिक है। समुदाय मनुष्य बनाता है अपने विशिष्ट प्रयोजन के लिए। जब प्रयोजन समाप्त हो जाता है, तब समुदाय भी समाप्त हो जाता है।

कुटुंब प्रयोजनमूलक परंतु स्नेहप्रधान संस्था है। कुटुंब में जितनी परवशता है, उसे छोड़ देना है। परवशता कौन-सी है? यही कि बेटा त्याग-पत्र नहीं दे सकता। कहता है: 'क्या करूँ, आपकी कोख से पैदा हुआ हूँ।' बाप भी कहता है कि 'भगवान् ने हमारी मर्जी पूछी होती, तो तुम जैसा बेटा न माँगता।' दोनों एक-दूसरे को इस तरह कोसते हैं। यह परवशता है। कुटुंब में आनेवाली इस परवशता को छोड़ना है। ऐसा जो कुटुंब बनेगा, उसे हम विश्व-कुटुंब कहेंगे। विश्व-कुटुंब ऐच्छिक है। उसमें एक शक्ति भी है। जो समुदाय स्वय-प्रेरणा से बनता है, उसमें एक शक्ति होती है—स्वेच्छा और स्वय प्रेरणा की।

मेरा एक मित्र है और एक भाई। इनमें से मेरी घनिष्ठता मित्र के

साथ है। भाई का मै विरोध करूँगा और अगर मित्र के लिए मकान बेच देना पड़ेगा, तो बेचूँगा। भाई और मित्र मे अन्तर है। मित्र के साथ मेरा ऐच्छिक संबध है और भाई के साथ प्राकृतिक सबंध।

स्वेच्छा और स्नेह का आधार

कुटुब मे जो प्राकृतिक संबध है, जो रक्त-सबंध है और जो विवाह का सबध है, उससे हम ऊपर उठना चाहते है। विश्व-कुटुंब में, जन्म के और विवाह के आधार पर संबंध नही बनेगा। अगर ऐसा नहीं होगा, तो वह सामुदायिक कुटुंब बन जायगा। विश्व-कुटुब मे यह आवश्यक है कि वह ऐच्छिक हो, हमारी अपनी इच्छा से बना हुआ हो। तो, सदस्यता का गुण है—स्वेच्छा। कौटु-बिकता का गुण है—स्नेह। हम स्वेच्छा और स्नेह दोनो के आधार पर विश्व-कुटुंब बनाना चाहते है। इस रास्ते में जो रुकावटे है, उन्हे हम हटाना चाहते हे। ये रुकावटे न हो, तो मनुष्य स्वभावतः एक-दूसरे से मिलना चाहता है।

एक वैज्ञानिक को 'नोबल प्राइज' मिली। वह तीन रोज तक समुद्र मे एक चट्टान पर खडा रहा। घूमने गया था, रास्ता भूल गया, एक चट्टान पर आ गया। उसे लगा कि आगे रास्ता होगा, पर वहाँ तो तीनो तरफ पानी था। चट्टान पर खोये हुए उस वैज्ञानिक की सबसे बडी आकाक्षा क्या होगी? यही कि कोई मनुष्य कही दिखाई दे। जहाँ मनुष्य अकेला होगा, कोई नही होगा, वहाँ वह यही चाहेगा कि कोई मनुष्य दिखाई दे। मनुष्य की मनुष्य के साथ संबध स्थापित करने की प्रेरणा स्वाभाविक है। इसके लिए विशेष प्रेरणा नही चाहिए। यह बात ध्यान मे आ जाय, तो फिर किसीको किसी खास पद्धति का आग्रह नहीं रहेगा।

प्रतीक्षा-प्रधान पुरुष

डिकन्स का एक उपन्यास है—'डेव्हिड कॉपरफील्ड।' उसमे मेकोबर नामक एक सज्जन है। वह हमेशा खर्च करता है और कहता है कि भगवान् चमत्कार करेंगे, कुछ न कुछ होगा और मुझे पैसे मिलेगे। अकसर समाज मे भी सामान्य लोग इसी इन्तजार मे रहते है कि भगवान् किसी न किसीको भेजेगा ! जनसख्या बहुत हो गयी है। तो लोग कहते हैं कि विश्व-युद्ध हो जायगा, तो अपने लोक-सख्या कम हो जायगी। अर्थात् वह स्वयम् कुछ नही करना चाहता। केवल इन्तजार करता है।

इस तरह बात-बात मे दूसरे का आधार खोजता है। यह मनोवृत्ति दूसरों के साथ सबंध कायम नहीं करने देती। प्रतीक्षा की यह मनोवृत्ति एक कुसंस्कार

है। इस वृत्ति के कारण मनुष्यता का इस तरह का एक विचित्र संस्करण बन गया है। मजदूर कम्युनिस्टों का मुँह क्यों ताकता है? इसलिए कि ये हमारा उद्धार करेंगे। भगवान् का यह नया अवतार हमारा उद्धार करेगा, ऐसा वे लोग कहते हैं।

दूकानदार प्रतीक्षा में बैठा है कि कोई ग्राहक आयेगा। वकील प्रतीक्षा में बैठा है कि कोई मुअक्किल आयेगा। भिखारी प्रतीक्षा में बैठा है कि कोई दाता आयेगा। इस तरह अनेक लोग प्रतीक्षा करते हैं। पुस्तकों की तरह आजकल की परिस्थिति में मनुष्य के विशेष संस्करण निकलते हैं। अब इनका एक समुदाय बन जायगा, जो हर चीज के इन्तजार में है। व्यापार में ये लोग सटोडिये बनेंगे। सट्टेबाजी ऐसी चीज है, जिसमें पुरुषार्थ नहीं चलता। इसलिए ज्योतिष खोजना पड़ेगा। जहाँ-जहाँ मनुष्य को ऐसा खतरा होता है, जिसे टालना उसके हाथ में नहीं है, वहाँ मनुष्य सट्टा करता है, जुआ खेलता है। यह जुआ आता है प्रतीक्षाप्रधान वृत्ति में से। इसीमें से मनुष्य का शोषक के रूप में संस्करण होता है। वह दूसरे की मुसीबत से फायदा उठाने लगता है। दूसरे की मुसीबत की ताक में रहता है।

आपको पता नहीं है कि कल क्या होगा? आपका अपना कोई संकल्प नहीं। आप ज्योतिषी से पूछने जाते हैं, वह कहेगा कि कल बहुत कमाई होगी। इसके लिए पहले एक रुपया दक्षिणा का दे जाओ। अगर कल ऐसा न हो, तो अपना एक रुपया वापस ले जाना और अगर हो, तो एक रुपया और दे जाना। इस तरह वह कभी दूसरों की मूर्खता से, कभी विश्वासपरायणता से, कभी भोले-पन से और कभी दूसरों की दिक्कत से लाभ उठाता है। यह शोषण करनेवाला मनुष्य चलता पुर्जा होता है। दूसरों की मुसीबतों से लाभ उठाता है, इसलिए वह जुटाता है। मन में अंदेशा होता है कि जाने कल क्या होगा, इसलिए वह संग्रहशील बनता है।

प्रचण्डता का आकर्षण

आज मनुष्य के मन में प्रचण्डता का मोह है। कोई भी प्रचण्ड आकार देखते ही वह अभिभूत हो जाता है। बड़ी भारी फैक्टरी देखी, तो कहता है कि अरे बाप रे, ऐसी तो देखी ही नहीं। पचास मंजिलों की इमारत देखता है, तो चकित हो जाता है। इसे विराट् आकार की पूजा कहते हैं।

आज का मनुष्य हर चीज में प्रचण्डता चाहता है। छोटे-छोटे पैमाने में कोई चीज नहीं देखना चाहता। कोई चीज विकराल आकार धारण करती है,

तो वह चीज राक्षसी बन जाती है। पुराणो मे कहा है कि राक्षसो का आकार अजस्र होता है। मनुष्य को छोटे के लिए भी आकर्षण होता है। मनुष्य की प्रकृति में दोनो चीजे है। लेकिन आज तो प्रचंडता का मोह है। रचना मे वह सूक्ष्म की तरफ नहीं जा रहा है, पर विज्ञान सूक्ष्म की तरफ जा रहा है। मनुष्य की रचना मे प्रचडता, विशालता और अजस्रता का आकर्षण है। इसके कारण कुछ विशाल सामूहिक संस्थाएँ आती है। एक ऐसी चीज है कारखाना।

कारखाने मे मनुष्य क्या है? कारखाने मे मनुष्य 'फक्सन' है। याने उसका कारखाने मे जो व्यवसाय है, वही मनुष्य है। उसका वही रूप है। फक्शन याने एक विशिष्ट क्रिया। उसमे दूसरे किसी गुण की जरूरत नही रहती। जो काम सौंपा गया है, वही करना है, इधर-उधर नहीं देखना है। नतीजा यह होता है कि ऐसे मनुष्य मे मानवीय गुणो के लिए दृष्टि नही रहती।

हम जो ग्राम-रचना चाहते है, उसमे 'फक्शन' प्रधान होगा या नहीं, यह आपको सोचना होगा। यह भी सोचना होगा कि ग्राम-पचायत मे मनुष्य अपने काम के नाते बैठेंगे या मनुष्य मनुष्य के नाते बैठेंगे? उसमे व्यवसायात्मक प्रतिनिधित्व होगा या मानवीय प्रतिनिधित्व होगा? 'फंक्शन' मे एक हद तक ही प्रतिनिधित्व होता है। वह सिर्फ कारखानो मे ही काम करेगा, तो मनुष्य के नाते उसका व्यक्तित्व खो जायगा। वह उसके व्यवसाय मे विलीन हो जायगा। इस प्रकार मनुष्य का व्यावसायिक सस्करण बनता है।

कारखाने का जन्म

मनुष्य का एक सस्करण प्रतीक्षा का हुआ, दूसरा अपहरण और संग्रह का, शोषण का हुआ। इन दोनो मे से कारखाना आता है। हमको काम देनेवाला कोई माई का लाल होगा, हमारी मजदूरी मोल लेनेवाला कोई समर्थ पुरुष आयेगा, ऐसे, प्रतीक्षा मे बैठे, लोगो को कोई एक जगह काम दे देता है, यो कारखाना बन जाता है। इसमें से 'फक्शनलिज्म' आता है। मार्केट (बाजार), पार्टी (दल) और स्टेट (राज्य) के समुदायो पर हम आगे विचार करेगे।

३-२-'६०

बाजार का समुदाय

: १३ :

पूँजीवादी समाज में 'बाजार' सबसे प्रभावशाली संस्था है। इसका जीवन के सभी अंगों पर ज्यादा-से-ज्यादा प्रभाव पड़ता है। मनुष्यों के दैनिक व्यवहार पर, उनकी मनोवृत्ति पर हर जगह बाजार का बहुत बड़ा प्रभाव है। इसलिए वह हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों के बिल्कुल भीतर तक पैठ गया है। जीवन का अब ऐसा कोई क्षेत्र ही नहीं रह गया है, जहाँ बाजार का प्रभाव न हो। अर्थ-शास्त्र के दो शब्द हैं। एक है 'विक्रय' और दूसरा 'विनिमय'। इन दो शब्दों का बहुत महत्त्व है। चीज के बदले में चीज मिले, यह सौदे का एक स्वरूप है, जिसे हम विनियम, 'बार्टर' कहते हैं। चीज के बदले में दाम को 'विक्रय' कहते हैं। तो, या तो वस्तु का विनिमय हो या फिर विक्रय हो—यह बाजार है।

आज दो चीजें गौण हो गयी हैं—एक काम और दूसरी वस्तु की उप-योगिता। बाजार के प्रभाव का सबसे मुख्य स्वरूप यह है कि हमारे जीवन में काम और श्रम का महत्त्व कम हो जाता है। फिर समाजोपयोगी काम करना चाहिए, इसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। लोग सोचते हैं कि बाजार में जिसकी माँग हो, वह करना चाहिए। यों मनुष्य का रुख बदल जाता है और वह सोचने लगता है कि ऐसा काम करना चाहिए, जिसकी माँग हो।

बाजार में बिक्री का शास्त्र

इस तरह बाजार में बिक्री का शास्त्र आ जाता है। अगर यह माना जाय कि बाजार का अपना कोई वेद है, तो वह बिक्री का वेद है। जिस चीज का विक्रय हो सके, उसीका महत्त्व है। बाजार सब जगह मनुष्य के रुख को बदल देता है।

विक्रय और विनिमय का दर्शन बाजार की मुख्य चीज है। इस मनो-वृत्ति के कारण मनुष्य का एक बाजारू संस्करण, एक पण्य-संस्करण निकलता है। आप बाजार में घूमते हैं, तो जरा अपनी मनोवृत्ति पर सोचिये कि मनुष्य पर बाजार का कैसा प्रभाव पड़ता है। शहर का आदमी जब बाजार में घूमता है और दूकानदार उसे एक-से-एक बढ़िया चीजें दिखाता है, तो उसे सस्ती चीज

खरीदने मे सकोच होता है। वह सोचता है कि मै अगर सस्ती चीज खरीदूँगा, तो यह दूकानदार क्या सोचेगा ? सस्ती चीज लेना हमारी शान के खिलाफ है। दो-चार चीजे उसने दिखा दीं, तो न खरीदने मे भी संकोच होता है। दस-पॉच चीजे देखीं, तो उनमे से एकआध बगैर जरूरत की चीज भी खरीद लेता है और घर आकर सोचता है कि मैं ऐसा क्यो हो गया ? इसे 'सेल्समैनशिप' (विक्रय-कला) कहते है। विक्रय-कला और विज्ञापन हमारे जीवन की कला बन जाती है। ऐसी स्थिति मे आप मनुष्य के बाजार-मूल्य का विचार करने लग जाते है। बाजार मे मनुष्य की क्या कीमत है, इसका विचार मनुष्य के मन मे आने लगता है।

हर चीज का पैसे में मूल्य

सोचने की बात है कि क्या गुण की कोई कीमत है ? वह तो अनमोल है न ? सुख-दुःख की कोई कीमत है ? मनुष्य की बुद्धि की कोई कीमत है ? असल मे देखा जाय, तो मनुष्य का परिश्रम, मनुष्य की बुद्धि, मनुष्य की कला, मनुष्य का गुण—इनमे से किसीकी कोई कीमत नही हो सकती। इसकी कीमत क्या है ? एक मनुष्य के गुण का दूसरे मनुष्य के मन पर जो प्रभाव पडता है, वही उसकी कीमत है। एक मनुष्य की बुद्धि का सारे समाज पर जो प्रकाश पड़ता है, वही उसकी कीमत है। लेकिन हम हर चीज का मूल्य आँकते है पैसे मे।

जाओ, विश्वनाथजी का मंदिर देख आओ। उसका गुम्बद सोने से मढा हुआ है। मदिर का गुम्बद सोने से मढा होना क्या पवित्रता का लक्षण है ? नही, तो फिर किस चीज का लक्षण है ? इसे पवित्रता का लक्षण तो किसीने माना नहीं है, लेकिन उसे देखकर मनुष्य दंग रह जाता है। अगर हीरे-मोती की पच्चीकारी हो, तो मनुष्य और भी ज्यादा दग रह जाता है : 'वाह' क्या मदिर बना हुआ है ! इसमे तो हीरे-मोती की पच्चीकारी है !' सोना अपने मे अच्छी धातु है, यह मन मे नही आता। मन मे तो यही आता है कि यह मंदिर करोड़ो रुपयो का है। हम उसका अपने मन में मूल्य ऑक लेते हैं। यों हमारा मूल्याकन होता है द्रव्य से। बाजार ने यह आदत डाली कि हम हर चीज की सुवर्णतुला करते है। आगाखॉ एक पलड़े मे है, सोना दूसरे पलड़े मे। जवाहरलालजी एक पलडे मे है और सुवर्ण की मोहरें दूसरे मे। इसी तरह हम भगवान् की भी सुवर्णतुला करते है। भगवान् का मूल्य अगर किसी चीज से नापा जायगा, तो वह सोने से नापा जायगा कि यह सोने की मूर्ति है, यह

चाँदी की मूर्ति है और यह मूर्ति नीलम की है। नीलम अपने में बहुत अच्छी चीज है, पर दिखानेवाला हमें इसलिए नहीं दिखा रहा है, बल्कि उसकी कीमत बतला रहा है।

कुटुम्ब मे बाजार का प्रवेश नही

केवल एक क्षेत्र मे बाजार का थोडा कम प्रवेश हुआ है और वह है कुटुब। कुटुब-क्षेत्र मे बाजार का प्रवेश मंदिर से भी कम है। कैसे? कौटुंबिक काम के दाम नहीं होते। हम विश्व-कुटुंब की स्थापना करना चाहते है। हर छोटा-सा कुटुब अपने में विश्व-कुटुब हो सकता है। वह कुटुब विश्व-कुटुंब होगा जिसमें रक्त और विवाह का आधार नहीं है, लेकिन स्नेह का आधार है। इसे कुछ लोगो ने 'ह्यूमन कम्युनिटी', मनुष्य की बस्ती कहा है। हम इससे आगे जाते हैं और 'कम्युनिटी' नहीं कहते, कुटुंब या परिवार कहते हैं। कुटुब में जो काम होता है, उसके दाम नहीं होते। इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ दर्जे नहीं होते। यह काम कम दर्जे का है, यह ऊँचे दर्जे का है, कुटुंब में यह होता है। लेकिन एक बात वहाँ सबके काम के लिए लागू है–कुटुंब मे जितना काम होता है, उसके दाम नहीं होते।

पुरुष कुटुब से बाहर जितना काम करता है, उसके दाम होते है। घर का बाप या घर का पुरुष ११ मे ५ बजे तक या ८ से १२ बजे तक या ८ से १२ और २ से ५ तक काम करता है—कभी मिल मे, कभी किसी दूकान में, कभी दफ्तर में, कभी सडक पर। इसके दाम होते हैं। पर घर में आकर वह जितना काम करता है, उसके दाम नहीं होते। यह एक क्षेत्र ऐसा है, जिसमे बाजार का प्रवेश कम हुआ है, लेकिन इसमे भी बाजार का प्रभाव तो है ही।

कमानेवाले का महत्त्व

कुटुम्ब मे बाजार का प्रभाव यह है कि जो व्यक्ति बाहर काम करता है, वह 'कमानेवाला' कहलाता है. जो घर में काम करता है, वह 'कमानेवाला' नहीं कहलाता। घर में महत्त्व कमानेवाले का है। माँ कमाती है तो उसका महत्त्व है, पिता कमाता है तो उसका महत्त्व है, स्त्री कमाती है तो उसका महत्त्व है। माँ अगर वकील या डॉक्टर हो या कॉलेज मे काम करनेवाली हो और उसका कोर्ट या कॉलेज में जाने का वक्त हो गया हो, तो वह कहती है कि 'मैं कहाँ तक घर के इन कामों को देखूँ? मुझे देर हो रही है काम पर जाने मे।'

व्यक्तित्व पर कीमत की चिप्पी

इसका मतलब यह हुआ कि आपके व्यक्तित्व पर बाजार मे एक 'प्राइस टैग', कीमत की एक चिप्पी लग गयी है। सबसे पहले दार्शनिको ने कहा था कि 'आइ एम ह्वॉट आइ फील !' मैं जो कुछ सोचता हूँ वही मै हूँ—मननात् मनुष्यः ! इनके बाद दूसरे आये। उन्होने कहा 'आइ एम ह्वॉट आइ डू !' मेरी कृति से मुझे पहचानो, मै जो सोचता हूँ वह नहीं हूँ, मेरा जो आचरण है, वह मै हूँ। अब इसके बाद तीसरा मोड़ आया—'आइ एम ह्वॉट आइ पझेस !' आलीशान बगला है, सुदर बगीचा है, अपटुडेट मोटर-कार है, शोफर है, रेडियो है, टाइप-राइटर है—मेरे पास जितना सग्रह है, वह मैं हूँ। पहला मनुष्य का दार्शनिक सस्करण था, दूसरा नैतिक सस्करण था, तीसरा पूँजीवादी संस्करण है। सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते—जिसके पास जितना सोना होगा, वह उतना गुणी है। निम्न स्तर के कुलियो का भी झगडा होगा तो कहेंगे कि 'तुम्हारे जैसे नगे नहीं है, यहॉ कुछ रखते है !' तो जो 'रखते हैं', 'ह्वाट आइ पझेस', उस पर से आपकी परीक्षा होती है। लेकिन बाजार मे ये तीनों नही रहते। बाजार की सस्था आते ही इन सबमे अन्तर पड जाता है।

विक्रय-कला और विज्ञापन

बाजार मे क्या है ? 'आइ एम ह्वाट यू वॉण्ट मी टु बी !' आप जैसा चाहेंगे, वैसा मै हूँ। क्योंकि उसमे मर्जी रहती है ग्राहक की। आप ग्राहक को हिप्नाटाइज करने की कोशिश करेंगे। विक्रय-कला और विज्ञापन से आप उसे मोहित अवश्य करेंगे। ग्राहक कहेगा—'सडा काजू है', तो विक्रेता कहेगा कि 'आप जैसे लोग आ जाते है, उसीसे दूकानदारी चलती है, नहीं तो कैसे चले ? मै तो गरीब आदमी हूँ।' कुली कहेगा कि 'आप राजा लोग है। आपके ही भरोसे तो हमारा जीवन चल रहा है।' यों विक्रय-कला और विज्ञापन से आपको विक्रेता मोहित कर लेता है। लेकिन इतना सब होने पर भी बाजार मे मुख्य चीज है—मॉग। आपकी मॉग न हो तो आपका गुण, चारित्र्य, कला, प्रतिभा सब व्यर्थ है।

बाजार ने मनुष्य के गुण को कैसे बदल दिया ? हर चीज मे एक 'कीमत की चिप्पी' लग गयी। एक ही चाय के पैकेट हैं। डिब्बे एक-से-एक बढिया बना दिये हैं। आप पूछेंगे कि 'यह चाय क्या भाव है ?' कहेंगे : 'दो रुपये।' 'और यह ?' 'यह पॉच रुपये।' यह सुनते ही आपके मन में आता है

कि यह बढ़िया होगी, क्योंकि 'प्राइस टैग', दाम की चिप्पी लगी है। बाजार में जिस वस्तु की जितनी ज्यादा कीमत है, वह बढ़िया है, यह दूसरा भ्रम है। असल में बाजार में कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। लेकिन बाजार ने एक भ्रम पैदा कर दिया है कि जो चीज जितनी महँगी होगी, वह उतनी ही बढ़िया होगी। बढ़िया-से-बढ़िया चीज कोई सस्ती बेचता हो, तो आपके मन में शंका हो जाती है। चार रोज की बासी मटर कोई दस आने पाव बेच रहा हो और आज की ताजी मटर कोई पाँच आने पाव बेच रहा हो, तो आपके मन में शंका हो जाती है कि इसमें कुछ घपला है। या तो ये मटर खराब होंगे या फिर किसीके खेत से चुराकर लाये गये होंगे। 'चौधरी ब्रदर्स' बढ़िया साड़ियों के विक्रेता हैं! 'लिये हुए दाम में बेचते हैं।' 'लिये हुए दाम में बेचते हैं, तो फिर दूकान क्या खैरात करने के लिए खोली है?' यह बात तुरत आपके मन में आयेगी।

जीवन में अनजाने परिवर्तन

इस तरह बाजार मनुष्य के मन में और उसके जीवन में अनजाने एक परिवर्तन लाता है। इसलिए समाज-परिवर्तन की जितनी योजनाएँ हैं, उनमें बाजार का स्थान कम-से-कम है, क्योंकि बाजार मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता। उसे वह 'कमोडिटी', सौदा बना देता है। उसके पास जो-जो है—बुद्धि है तो बुद्धि, कला है तो कला, परिश्रम है तो परिश्रम, गुण है तो गुण—मानवता का जो भी सजीव अंश है, वह बाजार में आ जाता है। आज इसका नतीजा यह हुआ है कि पूँजीवाद के उत्कर्ष के साथ व्यक्तित्व भी बिकता है। आपका व्यक्तित्व जितना अच्छा होगा, जितना प्रभावशाली होगा, बाजार में आपकी उतनी ही कीमत ज्यादा होगी! आपको 'पब्लिक सर्विस कमीशन' में मुलाकात के लिए बुलाते हैं। आपसे सवाल पूछते हैं और आप जवाब देते हैं। उसके बाद चुननेवाले आपस में कहते हैं 'हाँ, सब कुछ तो ठीक है। जवाब भी ठीक दिये, लेकिन 'व्यक्तित्व' नहीं है।' तो, इस तरह 'व्यक्तित्व' का भी एक बाजार खुल गया है। उस पर भी मूल्य की चिप्पी लग गयी है।

इसका हमारे जीवन पर क्या असर पड़ता है? हमारे जीवन पर इसका सबसे गहरा और बड़ा परिणाम यह है कि हमें यह चिन्ता होती है कि 'व्यक्तित्व' की खपत कैसे हो? यह चिन्ता 'व्यक्तित्व' को बाजार के अनुकूल बनायेगी। जैसा बाजार होगा, उस तरह का व्यक्तित्व वह बनायेगी। इस तरह महत्त्व माँग का है।

मनुष्य कहता है कि हम 'पक्के गाने'वाले है, अभिजात सगीत जानते है, लेकिन समाज मे हमारी कोई मॉग नही है। हम वेद जानते है, लेकिन वेद-विद्या की मॉग नहीं है। मॉग न होने का मतलब यह है कि इसके बदले मे बाजार मे कुछ नहीं आता। आवश्यकता अलग चीज है और मॉग अलग चीज। बाजार मे जरूरत पैदा करने की ताकत नही है। बाजार-सस्था का एक बहुत बडा कर्तृत्व और कौशल इस बात मे है कि वह मॉग पैदा करती है, जरूरत नही।

मॉग और आवश्यकता

मान लीजिये कि जरूरत सिर्फ एक जैकेट की है। फैशन है, तीन जैकेट का। तीन जैकेटों के तीन कट् हो गये। जाडा आते ही हम दूकान मे जाते हैं। हमने कहा कि एक पुल-ओवर दे दो। दूकानदार कहता है कि वह तो लीजिये ही, लेकिन एक जर्सी भी लीजिये और जर्सी से पूरा बदन ढॅकता नही, इसलिए एक स्वेटर भी ले लीजिये। तीनो ले लिये। कभी यह पहनेगे, तो कभी वह। इस तरह बाजार मॉग पैदा करता है, आवश्यकता नही।

यह जो 'मॉग' नाम की वस्तु है, वह बाजार से पैदा हुई है। इसलिए यह जो बाजार का मोड है, वह मनुष्य के व्यक्तित्व को दबा देता है, उसका स्वतन्त्र विकास नही होने देता। मनुष्य बाजार मे बिकने की चीज बन जाता है। अब उसे बाजार के स्वरूप के अनुकूल बनाना होगा। बाजार एक ऐसा समुदाय है, जो हमारे चित्त को बहुत हद तक बदल देता है। यह एक ऐसी संस्था है, जिसमे नैतिक बन्धन तो कोई नहीं रहते, लेकिन रहन-सहन के तरीके, पोशाक के तरीके हम वहॉ से उठाते है। कोई आपसे कहे कि बाजार मे क्यो जा रहे हो? तो क्या आप कहेगे : 'चारित्र्य सीखने के लिए?' 'शाम को बाजार मे टहलने क्यो जा रहे हो?' 'इसलिए कि वहॉ पर कोई किसीको नही जानता—चाहे जो कर सकते है, सभी गुमनाम हैं। वहॉ मनुष्य का मनुष्य से बहुत स्पर्श नहीं रहता। सब मनुष्य एक स्तर पर, दूकानदारी के स्तर पर आ जाते है, इसलिए मै शाम को बाजार मे टहलने जा रहा हूॅ।' देहातियो के लिए बाजार का दिन 'गॅलाडे' उत्सव का दिन है। देहात की जितनी स्त्रियॉ होती है, बढिया-से-बढिया साड़ियॉ पहनकर बाजार मे जाती हैं। देहाती पुरुष ने अपनी सन्दूक मे जो कुर्ता-धोती सहेजकर रखी होगी, वह पहनकर वह बाजार में जाता है। गॉव की रमणियॉ जो आठ-आठ दिन नहीं नहाती है, नहाकर बाजार मे जाती है। पास मे जितने गहने होते है, सब पहनती है

और बाजार में जाकर अपने सुख-दुःखों का वर्णन करती है। एक दूसरी से कहती है कि हमारा पति ऐसा है और दूसरी उससे कहती है कि हमारा बेटा ऐसा है। उनके लिए बाजार 'क्लब' ही है। आठ रोज तक हर चीज को वह अपने पास सँजोये रखती है। किसलिए? इसलिए कि मैं जब बाजार में जाऊँगी, तो वहाँ पर अपनी सहेली से कहूँगी। वे केवल बेचने के लिए बाजार नहीं गयी है, उनमें कुछ क्लब-जीवन भी आ गया है। उनके लिए बाजार ही एक ऐसी जगह है, जहाँ वे अच्छे-अच्छे कपड़े दिखा सकती हैं। कोई नया बुश-कोट और नयी पैण्ट बनाता है, तो उन्हें कौन देखेगा? क्या वह साधना-केन्द्र में आयेगा शंकररावजी और कृष्णराजजी को दिखाने के लिए? नहीं, वह बाजार में जायगा। यह बाजार का प्रभाव है।

सौदेबाजी का विरोध

क्रान्ति में बुनियादों को बदलना पड़ता है। इसी दृष्टि से क्रान्तिकारियों ने निश्चय किया कि हमारे समाज में दूकानदारी नहीं होगी। किसी एक क्रान्तिकारी ने ऐसा नहीं कहा, सब प्रकार के क्रान्तिकारियों ने कहा। पहली चीज उन्होंने यह की कि जहाँ तक हो सके, दूकान में सौदेबाजी नहीं होगी। जैसे दूकानदार कह रहा है इसकी कीमत चार रुपये है और आप कह रहे हैं कि दो रुपये। ऐसा नहीं होगा। पोस्ट ऑफिस, खादी भंडार, पुस्तक की दूकान में आप दाम पूछते हैं। दूकानदार एक रुपया कहता है। आप कुछ नहीं कहते और एक रुपया देकर चले आते हैं।

बाजार के सुधार में पहली बात उन्होंने यह की कि भावों को निश्चित कर दिया। दूसरी बात उन्होंने यह की कि दूकानों को एक अर्थ में सार्वजनिक बना दिया। जैसी पोस्ट ऑफिस में चीजें मिलती हैं, वैसी ही दूकानों में मिलेंगी। नियंत्रण शुरू कर दिया। नाप-तौल का नियंत्रण, वस्तु की किस्म का नियंत्रण! घी शुद्ध होना चाहिए—इस तरह का नियंत्रण शुरू हो गया। इसका अंतिम उद्देश्य यह है कि बाजार नहीं रहना चाहिए। जो अंतिम समाज होगा, उसका चित्र हम नहीं जानते, लेकिन अंतिम समाज में क्या होगा, यह हम जानते हैं। उसमें व्यक्तित्व का बाजार नहीं होगा, उसमें विज्ञापन और विक्रय-कला नहीं होगी, उसमें माँग पैदा करने की कोशिश नहीं होगी।

मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ेंगी तो बढ़ें, लेकिन उसमें बाजार का सवाल नहीं आता। ग्लिसरिन के तीन साबुन हैं, पीयर्स ग्लिसरिन साबुन, हिमानी ग्लिसरिन साबुन और टाटा ग्लिसरिन साबुन। चन्दन के भी तीन-तीन साबुन

है। इसमे हमारी आवश्यकता का कोई सवाल नही होता। तीन किस्मो के तोन साबुन, सदल साबुन और ग्लिसरिन साबुन दूकानदारी के लिए है, हमारी आवश्यकता के लिए नहीं।

अब साबुनवालो की कोशिश क्या होगी ? मैसूर संदलवाला यह कोशिश करेगा कि उसकी मॉग बढे। वह कहेगा कि आप दूसरी कपनी का साबुन इस्तेमाल करते है, उसमे चरबी होती है। हमारा साबुन चरबी रहित है। इस तरह वह दूसरे के साबुन की निंदा करेगा और अपने साबुन की तारीफ कर उस साबुन की मॉग पैदा करेगा। मनुष्य की आवश्यकता बढना अलग चीज है और बाजार में मॉग पैदा कर देना अलग चीज।

भावी समाज मे इस तरह की बनावटी मॉग नहीं होगी। मनुष्य के जीवन का स्तर ही बढे, उसकी आवश्यकता ही बढे, तो वह दूसरी बात है। हम रेडियो, साइकिल, टाइप राइटर, घड़ी रखना चाहते है, तो वह अलग चीज है। लेकिन घडी किस 'मेक' की रखी जाय ? कोई अमेरिका की बनी घड़ी के लिए मॉग पैदा करेगा, कोई स्विट्जरलैण्ड की बनी घडी के लिए। लोई लुधियाने की हो या धारीवाल की हो, इसकी मॉग पैदा करना बनावटी हो गया। इस तरह की मॉग उस समाज मे नही होगी, जिस समाज का विचार हम कर रहे है।

जातिभेद और 'गिल्ड'

समुदाय मनुष्य के व्यक्तित्व को चूस लेता है। इस तरह की जो सामुदायिक सस्थाऍ है, वे मनुष्य के व्यक्तित्व को उस तरह चूस लेती है, जिस तरह आप गन्ना चूस लेते है। गन्ना चूसने के बाद जिस तरह छूँछ बच जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का छूँछ बच जाता है। कारखाने का समुदाय हमने देखा। वह मनुष्य को एक 'फक्शन' तक सीमित कर देता है। इसका नतीजा यह हुआ कि हमारे यहॉ जाति-भेद आया।

मनुष्य का व्यक्तित्व जब एक ही काम मे मर्यादित हो जाता है, तो उसमे विशेषता हासिल करनी चाहिए, कमाल हासिल करना चाहिए। यह कमाल कब हासिल होगा ?

जन्म और विवाह कुटुब के साथ जुडा हुआ हो, तो उसमे कौटुबिक और और आनुवशिक सारे सस्कार आयेगे। आपको अच्छे से-अच्छा रोजगार चाहिए तो क्या करना होगा ? जिससे उसकी शादी हो, उसके घर मे भी वह रोजगार होना चाहिए। तब बच्चो मे वैसे संस्कार आयेगे। इस तर्क का कोई जवाब है हमारे पास ? जिसके घर मे वह पैदा होगा, उसके घर मे वह रोजगार

होना चाहिए, उसके घर मे जो स्त्री आयेगी, उसके घर मे भी वह रोजगार होना चाहिए और एक समान रोजगार करनेवाले एक-दूसरे के पडोस मे रहने चाहिए। तब एक-दूसरे पर प्रभाव पडेगा, एक दूसरे से सीख सकेंगे, एक-दूसरे को सिखा सकेंगे। इसलिए उनके मुहल्ले भी अलग-अलग होने चाहिए। इस तरह हमारे यहाँ जाति-भेद आया।

फिर उनका खान-पान व्यवसाय के अनुरूप हो। इससे पूरे व्यक्तित्व पर इसका असर होगा। कारखाने के पहले छोटे-छोटे रोजगारों के गिरोह थे। इग्लैंड और यूरोप के कुछ देशो मे ये 'गिल्ड' कहलाये। 'गिल्ड सोशियालिज्म'—व्यावसायिक सघों का समाजवाद—इग्लैंड की अपनी एक विशेषता है। ये 'गिल्ड' क्या थ ? एक-एक रोजगार के लोग अपने-अपने 'गिल्ड' बनाकर रहते थे, जैसे हमारे यहाँ जाति की पंचायतें होती थीं। हमारे यहाँ के जाति-भेद मे और इन गिल्डों में अन्तर इतना ही था कि एक गिल्ड का खान-पान दूसरे गिल्ड के साथ होता था। एक गिल्ड का विवाह दूसरे गिल्ड मे होता था। बढ़ई अगर हो, तो बढ़ई की लड़की से ही उसकी शादी हो, ऐसा नहीं था। बढ़ई लोहार की लड़की से भी शादी करता था। बढ़ई लोहार के साथ भी भोजन करता था। हमारे यहाँ क्या होता है ? लड़का अगर बढ़ई है, तो वह बढ़ई की लड़की से ही शादी करेगा और बढ़ई के साथ ही भोजन करेगा। इसे आप सोचे कि कुशलता के लिए मनुष्यता का बलिदान होगा या मनुष्यता के लिए कुशलता का बलिदान होगा ? इस जाति-भेद पर प्रहार करना होगा। 'फंक्शनल' मनुष्य सामान्य मानवता के मूल्य के विषय मे अन्धा हो जाता है।

गुण सार्वत्रिक हो

साहित्य, सगीत, कला और मनुष्य का अन्य सारा शिक्षण सार्वत्रिक होना चाहिए। तबला बजानेवाले का लड़का तबला ही बजायेगा, सितार बजानेवाले का सितार ही बजायेगा, वकील का लडका वकील ही होगा, डॉक्टर का लडका डाक्टर ही होगा—इस तरह की बात नहीं होनी चाहिए। लेकिन हमारे देश मे वर्ण-व्यवस्था मे जो श्रम-विभाग हुआ, वह सारा का सारा साख्य-तत्त्वज्ञान के आधार पर हुआ। उसके अनुसार यह सारा जगत् सत्त्व, रज और तम को लेकर है, त्रिगुणात्मक है। इन चीजों को हमने अब तक नहीं छोड़ा है। जब कभी हम विनोबा से बात करेंगे, तो कहेंगे कि 'इससे सत्त्वगुण का विकास नहीं होगा, यह रजोगुण है वगैरह', इस तरह की भाषा चलेगी, क्योंकि साख्यों की पकड है। दुनिया मे कुछ लोग सत्त्वगुण-प्रधान हैं, कुछ रजोगुण-प्रधान हैं और

कुछ तमोगुण-प्रधान। अब जो सत्त्वगुण-प्रधान है, उसकी कोख से सत्त्वगुणी पैदा होगा, जो रजोगुण-प्रधान है, उसकी कोख से रजोगुणी पैदा होगा और जो तमोगुण-प्रधान है, उसकी कोख से तमोगुणी पैदा होगा। बाप की नाक और माँ की नाक अच्छी हो, तो बेटा नकचपटा नही होगा। माँ भी सत्त्वगुणी हो और बाप भी सत्त्वगुणी, तो बेटा भी सत्त्वगुणी होगा। व्यवसायो के विभाजन मे इन गुणो को प्रधानता दी जाती थी।

अध्ययन-अध्यापन का सारा शिक्षण उनको दिया जाता था, जो सत्त्व-गुण-प्रधान है। सत्त्वगुण-प्रधानता की परीक्षा क्या है? उसकी परीक्षा यह होगी कि ऐसो का विश्वास न धन मे होगा और न शस्त्र मे होगा। जो धन पर भरोसा करता है और जो हथियार पर भरोसा करता है, उसका सत्त्वगुण पर विश्वास नहीं हो सकता। सत्त्वगुण का लक्षण यह है कि वह धन को भी गौण मानता है और शस्त्र को भी गौण। समाज मे ऐसे व्यक्ति को प्रतिष्ठित मानने से कोई इनकार नहीं करेगा।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः। जो सत्त्वगुणवाला है, वह ऊपर को जाता है। उसके बारे मे यह माना गया था कि यह शस्त्रनिष्ठ नहीं होगा और द्रव्यनिष्ठ भी नहीं होगा। वे शस्त्र का प्रयोग नही करेंगे, शस्त्र का प्रयोग करवायेंगे। विश्वामित्र प्रति सृष्टि का निर्माण कर सकते थे, लेकिन अपने आश्रम की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को माँगने गये। उन दिनो ऋषियो के आश्रम का रक्षण क्षत्रिय करते थे और क्षत्रिय को शस्त्र-कला का अध्ययन करने के लिए मृगया की आवश्यकता होती थी। शिकार ज्यादातर हिरन का और शेर का किया जाता था। इसलिए ऋषियो के आश्रम मे मृगछाला और व्याघ्रचर्म पवित्र माने जाते है। क्षत्रिय हमारे सरक्षक है, शिकार की आवश्यकता है और इस शिकार का जो चर्म आता है, वह पवित्र चर्म है—इस तरह उन्होने एक-एक मर्यादा बना ली थी। इसमे यह दोष था कि श्रम-विभाग के लिए मनुष्यो को सत्त्व, रज, तम गुणो के आधार पर बाँट दिया। इस तरह मनुष्यो को बाँट देने के कारण उनमे उच्चता और नीचता की भावना पैदा हो गयी। सत्त्वगुणी सबसे श्रेष्ठ है, रजोगुणी उसके बाद है, तमोगुणी सबके बाद।

तो, हमारे यहाँ जो जाति-भेद हुआ, उसका मुख्य दोष यह है कि श्रम-विभाग की योजना गुण-विभाग पर की गयी। इसलिए उन लोगो ने कहा कि जैसा जिसका गुण हो, वैसा उसका धर्म हो और वह उसका स्वधर्म है। इन्हीं गुणो के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि भेद किये गये।

गुणाश्रित वर्गीकरण गलत

कार्यकर्ताओं के सामने बार-बार यह बात आयेगी कि आप मालकियत मिटाना चाहते हैं, तब तक तो ठीक है, लेकिन आप जाति-भेद भी नष्ट करना चाहते हैं, तो आपके लिए इस गाँव में कोई जगह नहीं है। किसी पर सत्त्वगुण की पकड हो, तो उससे वर्ण शब्द छूटेगा नहीं। हम कहना चाहते हैं कि मनुष्यों का वर्गीकरण गुण पर नहीं करना चाहिए। गुण का मूल्य समाज में बढ़ाना चाहिए, यह अलग चीज है। गुण का मूल्य समाज में स्थापित हो, लेकिन गुण के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण नहीं होना चाहिए। गुणों के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण करना बहुत भयानक चीज है। दुर्जन सज्जन नहीं हो सकते और सज्जन दुर्जन नहीं हो सकते। तो फिर किसीका परिवर्तन नहीं होगा। जो सज्जन है, उसके हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। परिवर्तन होना चाहिए दुष्ट का। सुष्ट और दुष्ट—ये दो वर्ग समाज में अगर होंगे, तो अहिंसक प्रक्रिया असंभव हो जायगी।

हमें समझ लेना चाहिए कि यह जो वर्ण-व्यवस्था है, वह गुणाश्रित वर्गीकरण है। गुणाश्रित वर्गीकरण नहीं चाहिए। जिस प्रकार हम समाज में संपत्ति या धनाश्रित वर्गीकरण नहीं चाहते, उसी प्रकार गुणाश्रित वर्गीकरण भी नहीं चाहते। गुण की प्रतिष्ठा हो, गुण सार्वत्रिक करने की कोशिश हो। समाज में सभी स्तरों में उसका विकास हो।

हमारे यहाँ के जाति-भेद में और यूरोप की 'गिल्ड' में इतना फर्क था। गिल्ड सोशियालिज्म हमारे जाति-भेद के स्तर पर नहीं आ सकता। उन लोगों ने मनुष्य के गुण को उसके जन्म और विवाह के साथ नहीं जोड़ा। उसे आनुवंशिक संस्कार और कौटुंबिक संस्कारों के साथ नहीं जोड़ा। इसका एक दूसरा कारण भी है। उनके यहाँ आहार में बहुत भेद नहीं रहा। अमीर और गरीब के आहार में भेद रहा, लेकिन एक वर्ग और दूसरे वर्ग के आहार में भेद नहीं रहा। इससे गिल्ड सोशियालिज्म में जाति-भेद नहीं आये।

जीवन की सार्वत्रिक प्रतिष्ठा

महाराष्ट्र में एक ऋग्वेदी या यजुर्वेदी ब्राह्मण है और दूसरा सारस्वत। ऋग्वेदी ब्राह्मण सारस्वत की लड़की से शादी करने में हिचकिचाता है। 'क्यों?' 'वह लड़की मछली खाती है। मैं नहीं खाता हूँ। जब वह मेरे यहाँ आयेगी, तो या तो हमें मछली खानी पड़ेगी या उसे मछली खाना बंद करना होगा। या फिर मेरे खाने के बाद वह अपने लिए मछली बना ले। कुछ-न-कुछ तो

करना ही होगा।' इस तरह एक रुकावट आ जायगी। इसमे से क्या रास्ता है? जिस तरह हम गुण की प्रतिष्ठा सार्वत्रिक करना चाहते है, उसी तरह हमे जीव की प्रतिष्ठा सार्वत्रिक करनी चाहिए।

शराब की प्रतिष्ठा को हम समाज से कम करना चाहते है, यह गाधी ही नहीं, क्रुस्चेव भी कहता है। कम्युनिस्ट देश मे शराबखोरी की प्रतिष्ठा नही है। इस तरह खान-पान मे एक क्रम शुरू हो जायगा। मासाहारी शाकाहारी के यहाँ जाता है, तो सयुक्त भोजन शाकाहार का होगा। यह हमारे यहाँ का सकेत है और इसमे व्यावहारिक बुद्धिमानी भी है। जो मास खाता है, वह शाक तो खाता ही है परन्तु जो शाक खाता है, वह मास नही खाता। जो मास नही खाता वह भी मासाहारी के लिहाज के लिए मास खा ले, तो यह सहिष्णुता नही है। इसे सहिष्णुता मानेगे, तो गुण की प्रतिष्ठा नही होगी। ○

४-२-'६०
प्रातः

कौटुम्बिक समुदाय

: १४ :

कारखाने और बाजार के समुदायों पर हमने विचार किया। कारखाने का विचार करने में हमने रोजगारी जमातों का विचार किया। व्यावसायिक संघों—गिल्ड्स—का विचार किया। इसी सिलसिले में यहाँ के जाति-भेद का भी विचार हुआ। उसमें हमने यह दोष पाया कि मनुष्य के जन्म का महत्त्व उसके गुण से अधिक हो जाता है। दूसरा, उसका समूचा व्यक्तित्व उसके व्यवसाय में समा जाता है। समूचा मनुष्य एक रोजगार बन जाता है। जाति का दोष यह है कि जन्म का महत्त्व गुण से अधिक होता है। सांख्य के तत्त्वज्ञान में विश्व त्रिगुणात्मक है। इसमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकार के गुण हैं। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीन वर्ण लिये। तीन में से किसीमें शामिल होने के लिए जो योग्य नहीं है, उसका चौथा वर्ण बना—शूद्रवर्ण। हमारी वर्ण-व्यवस्था में ये दोष रहे। जो लोग वर्ण-व्यवस्था रखना चाहते हैं, वे इन दोषों को नहीं रखना चाहते।

वर्ण-व्यवस्था क्यों ?

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि आज के जो अर्वाचीन मतवादी लोग भी वर्ण-व्यवस्था रखना चाहते हैं, उनका मतलब केवल इतना ही है कि श्रम-विभाग चाहिए। वे नहीं मानते कि जन्म के कारण मनुष्य श्रेष्ठ या कनिष्ठ माना जाय। वे नहीं चाहते कि मनुष्य का सारा व्यक्तित्व उसके व्यवसाय में समा जाय। वे कहेंगे कि शूद्र और वैश्य को भी वेद पढ़ाना चाहिए। याने मनुष्य के लिए आवश्यक जो मानवीय गुणों का शिक्षण है, वह सबको समान मिलना चाहिए। इसके साथ-साथ सारे मनुष्यों के लिए जिन विषयों का ज्ञान आवश्यक है, उन विषयों का ज्ञान सबको होना चाहिए। साहित्य का, गणित का, कविता का, यह सारा ज्ञान 'लिबरल एजूकेशन' 'उदार शिक्षण' कहलाता है। इस तरह का शिक्षण सार्वत्रिक और समान होना चाहिए। ये तीन चीजें वर्ण में नहीं होनी चाहिए—रोटी-बंदी, बेटी-बंदी और विषम लिबरल एजूकेशन। इतनी चीजें निकाल देने के बाद जो बचेगा, उसके साथ हमें कोई झगड़ा करने का कारण नहीं होता।

वे चाहते है कि कर्म मे, व्यवसाय मे प्रतियोगिता न होनी चाहिए। आजकल तो कोई लोहार या बढई नही बनना चाहता, इसलिए प्रतियोगिता सीमित हो गयी। मेरा व्यवसाय मेरा धर्म है, यह मानने की बात है। लाभ और खोट कम होते है। मेरा अपना काम है और उसे अच्छी तरह करना मेरा धर्म है। जैसे वेद पढ़ने मे शुद्ध उच्चारण करना ब्राह्मण का धर्म है, वैसे ही अपना काम ईमानदारी से करना मेरा धर्म है।

वे वर्ण इसलिए चाहते है कि दाम के लिए काम की प्रेरणा कम हो। काम अपने मे एक सद्गुण समझना चाहिए। मेरा काम ही मेरी उपासना है। मै जो कुछ कर रहा हूँ, वह भगवान् की उपासना कर रहा हूँ। काम करते समय काम की शुरुआत मे वह सकल्प करता है कि मेरा काम परमेश्वर प्रीत्यर्थ है और अत मे वह 'कृष्णार्पणम् अस्तु' कहता है।

मनुष्य जो काम ईश्वर की उपासना के लिए करता है, उसे वह अच्छे-से-अच्छे ढग से करता है। दशहरे के दिन बढई, लोहार सब अपने उपकरणो की पूजा करते हैं।

नस्ल का विचार

मनुष्य की नस्ल का विचार केवल प्राणिशास्त्र की दृष्टि से नही किया जा सकता। उस दृष्टि से गाय, बैल और घोडे की नस्ल का ही विचार हो सकता है। जो गाय ४० सेर दूध देती है, उसकी नस्ल बढिया है। जो बैल १० एकड जमीन जोतता है, उसकी नस्ल बढिया है। एक घटे मे २० मील दौडनेवाले घोडे की नस्ल बढिया है। पर मनुष्य में आप किसकी नस्ल बढायेंगे, जरा सोचिये। शिवाजी बौना है। पठान बहुत बडा है। गाधी बौना है। किंगकाग बहुत बड़ा है। अब इनमे से किसकी नस्ल बढायी जाय? मनुष्य की नस्ल का इस स्तर पर विचार करना बेवकूफी का काम है। मनुष्य का गुण उसके आकार पर निर्भर नहीं है। गोरे लोग कहते है कि अगर हमारा ससार के काले लोगो के साथ बेटी-व्यवहार हो जायगा, तो हम काले बन जायँगे। आपको भी किसी लडकी-लड़के का सबध करना हो तो गोरा रग देखा जाता है। काला रग 'डिसक्वालिफिकेशन है', दोष माना जाता है।

इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य के शरीर का एक महत्त्व है। कोढी के बेटा न होना चाहिए, क्षयरोगी के संतान न होनी चाहिए, निर्बुद्धि के सतति न होनी चाहिए—इतना संयोजन तो किया जा सकता है। लेकिन जिस भूमिका पर पशु का संयोजन होता है, उस भूमिका पर मनुष्य का नही हो सकता।

'ब्रीडिंग' 'प्रजनन' दो प्रकार का होता है : 'इन एंड इन' और 'आउट एंड आउट'। 'इन एंड इन ब्रीडिंग' का मतलब है कि जिनका रक्त-संबंध है उनमें विवाह। परन्तु सुप्रजनन शास्त्र कहता है कि उन्हींके रक्त तक कुटुंब सीमित नहीं रहना चाहिए। उससे नया रक्त नहीं आता। इसलिए मर्यादा थी कि जिसका असमान गोत्र हो, ऐसी स्त्री से विवाह करो। दूसरे, जो तुम्हारी छह पीढ़ियों में पिता की तरफ और तीन पीढ़ियों में माता की तरफ न आती हो, उसके साथ विवाह हो। जो आते हैं, वे 'सपिंड' कहलाते हैं। यह 'इन एंड इन ब्रीडिंग' को टालने के लिए है। लेकिन 'आउट एंड आउट ब्रीडिंग' होगा, तो सत्त्वगुण में रजोगुण का मिश्रण हो जायगा। यानी सत्त्वगुणी ब्राह्मण में रजोगुणी क्षत्रिय का रक्त मिलेगा। वर्णसंकर न होना चाहिए। एक तरफ निकट रक्त-संबंध न हो, दूसरी तरफ वर्णसंकर न हो। अति निकट नहीं, अति भिन्न नहीं, अति सम नहीं, विषम नहीं, यह मर्यादा मानी गयी है। यह अनुभव-जन्य ज्ञान है। धर्म ने ईश्वर का ज्ञान मनुष्य को बतलाया। लेकिन उसका समाज-विज्ञान अनुभव के अनुसार विकसित होता है। जैसे अगर शुद्ध तर्क से देखा जाय तो जो लोग मांस खानेवाले हैं, वे क्रूर होने चाहिए। लेकिन यह तर्क है, अनुभव नहीं। अनुभव यह है कि मांस खानेवाली जातियों में भी बहुत दया है। ईसाई-धर्म में मांस खानेवाले भी दयालु होते हैं। मांस न खानेवाली जातियाँ भी निर्दय होती हैं। मनुष्य के बुद्धि है, मन है। मनुष्य केवल शरीर नहीं है। मनुष्य की बुद्धि और उसका मन पशु की भाँति प्रकृति से सीमित नहीं है। इसलिए मनुष्य के विषय में नियम बनाना और उसे वैज्ञानिक कहना गलत बात है।

उदाहरण लीजिये, ईसाइयों और मुसलमानों में चचेरे भाई-बहनों से शादियाँ होती हैं। मौसेरे भाई-बहनों से भी होती है। महाराष्ट्र में कहीं-कहीं मामा की बेटी के साथ शादी होती है। आन्ध्र में अपनी बहन की बेटी से भी शादी करते हैं। कुछ जातियों में सौतेली बहन से भी शादी होती है। अब सोचने की बात है कि हमारी नस्ल शुद्ध कहाँ रहती है? ये कुछ गृहीत कृत्य हैं, कुछ चीजें हमने मान ली हैं। हर समाज में ऐसा होता है। कई दफा वह आवश्यक भी होता है। लेकिन उसे पारमार्थिक सिद्धांत नहीं मानना चाहिए। वह वैज्ञानिक सिद्धांत भी नहीं है।

कुटुम्ब में प्रेम और पवित्रता

स्त्री और पुरुष के जीवन की सम्पन्नता के लिए स्त्री-पुरुष संबंध में दो वस्तुओं का महत्त्व है—प्रेम और पवित्रता का। स्त्री-पुरुष का संबंध केवल

व्यक्तिगत नही हो सकता। पुराने कुटुब मे पति-पत्नी के सबंध धर्म-प्रधान माने गये थे। आज वे स्नेह-प्रधान माने जाते है, लेकिन काम-प्रधान तो वे कभी नहीं माने गये। काम-प्रधान सबध होगा, तो कुटुब में पवित्रता नहीं होगी और कुटुंब बनाने की आवश्यकता नही रहेगी। जहॉ परिवार बनायेंगे, वहाँ स्त्री-पुरुप का सबध शुद्ध और पवित्र होना चाहिए। स्त्री पुरुष से न डरे, पुरुप स्त्री मे काम-लोलुप न हो, चाहे वे तरुण ही क्यो न हो। यह मेरी बहन है, यह मेरी भॉजी है, यह मेरी चाची है। हम दोनो एक परिवार के है। एक निर्जन कमरे मे हम निरापद रह सकते है। दोनो को एक-दूसरे से डर नही है। ऐसा हो, तो वहॉ वासना का प्रवेश नही होगा। वासना का प्रवेश हो तो दोनो भ्रष्ट हो जायॅगे, कुटुंब भी भ्रष्ट हो जायगा।

कुटुब स्वायत्त हो, वह अपनी इच्छा से बना हो। जैसे हमारा यह शिविर है। इसमे किसी लडकी को किसी लडके से डर नही है। किसी लडके को किसी लडकी का मोह नहीं है। दोनों को एक-दूसरे से आशका होने लगेगी, तो यह पुलिस-स्टेशन बन जायगा, कौटुम्बिकता नष्ट हो जायगी। चौकीदारी का राज्य हो जायगा। इस तरह का वातावरण बन सके, ऐसी मर्यादा लाने की आवश्यकता है। विज्ञान जहॉ तक जा सके, उसे जाने दीजिये, लेकिन वह मनुष्य-मनुष्य के हार्दिक सबंध मे अधिक प्रवेश नही कर सकता। पारस्परिक सबध हार्दिक होता है, स्थूल नही। इसीलिए मैंने पति-पत्नी का उदाहरण लिया, जहॉ केवल शारीरिकता का ही सबध माना जाता है। वास्तव मे वह केवल शरीरिकता पर आधार नही रखता। स्त्री-पुरुप का सबध जहॉ होगा, वहॉ धर्म-भावना और प्रेम रहना चाहिए। ये दोनो बाते अगर नही हैं, तो मानना चाहिए कि वे दोनो एक कमरे मे रहतेभर हैं। तो, यह आवश्यक है कि शुद्ध भावना का विकास होना चाहिए। कुटुब के सिवा कोई ऐसी संस्था नही है, जहॉ स्त्री-पुरुष निर्भयता से एक-दूसरे के साथ रह सके। मदिर, मस्जिद, आश्रम, गुरुद्वारा, कम्यून—कोई ऐसी सस्था नही है, जहॉ स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक निर्भयता से रह सकते है। माना कि कुटुब मे भी कुछ अपराध होते है, तो भी लोगो ने कुटुब नही तोडा, क्योकि इसका गुण दूसरी सस्था मे आ ही नही सकता। इसे व्यापक बनाना है। कुटुंब में जो स्त्री-पुरुप के सह-जीवन की पवित्रता और स्वतन्त्रता है उसे समाज मे व्यापक बनाने की जरूरत है। किसी कानून से यह नही हो सकता। इसके लिए अहिसा, प्रेम के सिवा रास्ता नहीं है। शस्त्र से या कानून से यह काम नही हो सकता।

समय-समय पर समाज मे मर्यादाएँ निर्धारित होती है। सौतेली बहन से

लेकर अपने भॉजी से भी शादी हो सकती है । उनमें पवित्रता भी होती है । स्त्री-पुरुष का संबंध काम की बुनियाद पर नहीं प्रेम की बुनियाद पर होना चाहिए ।

पाप का चिन्तन अवांछनीय

पहले अपराध गुप्त अधिक होते थे । हर बड़ा आदमी दो-चार रखेलियाँ रख लेता था । बड़े-बड़े धर्मनिष्ठ पुरुषों के भी दो या अधिक पत्नियाँ होती थीं । लेकिन पहले यह सब विधिवत् होता था । परन्तु विवाह-बाह्य संबंध गुप्त ही माने जाते थे । अपराधों की प्रसिद्धि या चर्चा प्राचीन समाज की अपेक्षा आधुनिक समाज में अधिक होती है । देहात मे जो अपराध होते है, छिपे होते है । शहर में अपराध की प्रसिद्धि ज्यादा होती है । अपराध की प्रसिद्धि पश्चिम में अधिक हो रही है, क्योंकि वे लोग अपराध का वैज्ञानिक ढग से विश्लेषण करते हैं और उनकी पुस्तके छापते है । ऐसी किताबें भारत में छपी ही नहीं और कोई छापेगा, तो वह पीटा जायगा । वहाँ अपराध होते हैं, उनकी सार्वजनिक चर्चा होती है । इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ अपराध अधिक होते है । हम अपराध का खयाल नहीं करते, चिंतन करते है । जो अपराध का चिंतन करता है, वह तद्रूप बनता है । भगवान् का चिंतन करते है, तो भगवन्मय होते हैं । पाप का चिंतन करते है, तो पापमय होते हैं । इसलिए पाप का चिंतन नहीं होना चाहिए । अपने पाप का भी नहीं और दूसरे के पाप का तो बिलकुल ही नहीं ।

पवित्रता का विकास आवश्यक

इस देश मे दूसरे देश से अधिक पवित्रता है, यह भ्रम है । यह सच है कि यहाँ मर्यादा कुछ अधिक है । मर्यादा अलग चीज है, पवित्रता अलग चीज । सह-जीवन में पवित्रता और प्रेम याने स्त्री-पुरुष की स्वतंत्रता कुटुंब की देन है । इस गुण को हम समाजव्यापी बनाना चाहते है । क्रांति की प्रक्रिया मे स्त्री-पुरुष के संबंध की पवित्रता का विकास होना चाहिए । कुटुंब-संस्था मे यह मूल्य स्थापित है ।

हमने वर्ण-व्यवस्था की चर्चा मे कहा कि वहाँ गुण की अपेक्षा जन्म का महत्त्व अधिक है । वर्ण व्यवस्था में मनुष्य का व्यक्तित्व केवल व्यवसायात्मक बन जाता है । पूरा-का-पूरा व्यक्तित्व एक व्यवसाय में सीमित हो जाता है । साथ ही वर्ण-व्यवस्था में मनुष्य का वर्गीकरण सत्त्व, रज और तम के आधार

पर किया गया है। ये तीन दोष वर्ण-व्यवस्था के है। इसलिए मनुष्य के व्यक्तित्व का ह्रास हुआ। उसका व्यक्तित्व प्रवाह-हीन रहा। ऐसा इसलिए किया कि काम मे प्रतियोगिता न रहे, काम मे दाम की प्रेरणा न रहे और काम मे ईमान दाखिल हो।

हमारे यहाँ दो क्रान्तिकारी ऐसे हुए है, जिन्होने पुरानी सज्ञा मे नवीन आशय भरा। वे है—गाधी और विनोबा। इन लोगो ने शब्दो के ठप्पे तो पुराने लिये, लेकिन उनमे रंग अपना भरा। जिस कपड़े पर वे ठप्पे लगाये, वह रेशम नही, खादी था। उन्होने कहा कि वर्ण मे ये तीन बाते न रहे, तो झगड़े की बात नहीं रहेगी। ये तीन चीजे है : (१) रोटी-बदी, वेटी-बंदी नही रहेगी, (२) मानवीय सार्वत्रिक शिक्षण सबको समान मिलेगा और (३) जन्म के आधार पर मनुष्य का वर्गीकरण नहीं होगा।

गिल्ड मे रोटी-बंदी, वेटी-बंदी नही थी, वर्ण का विचार भी नही था। आहार समान था। यह हो सकता था कि जन्म के साथ व्यवसाय चले, पर यह आवश्यक नही था कि विवाह समान-व्यवसायी के साथ हो। इसलिए गिल्ड मे जाति नहीं बनी। पर वहाँ दूसरी बुराई आयी। स्थिर स्वार्थ पैदा हुआ। उन बुराइयो मे जाति नही थी। हमारे यहाँ के जाति-भेद और गिल्ड मे यह अन्तर है।

मनुष्य का संगठन

व्यवसाय के आधार पर मनुष्य का सगठन बहुत प्राचीन है। भारत मे कोशिश की गयी कि यह संगठन समाज के खिलाफ न हो। इसलिए इन सब सगठनो को ईश्वराभिमुख किया। यह यहाँ की एक विशेषता है। यहाँ ऐसा कभी नही हुआ कि काम नहीं करेगे। अपना काम करना मेरी उपासना है, मेरा धर्म है। काम तो मुझे करना ही है। भगवान् के लिए करना है। काम तो चला, फिर इसमे ये दोष क्यो आये ? इसलिए कि मनुष्य समाज की तरफ से कुछ उदासीन हो गया। गुण यह आया कि समाज के विरोध मे सगठन नही हुआ। 'ट्रेड यूनियनिज्म' (मजदूर सघ) न आ सका। व्यवसाय को धर्म के साथ मिला दिया। यह मेरा व्यवसाय है, मेरा स्वधर्म है। **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** गीता ने आश्वासन दिया है कि अपने कर्म मे प्रेम से अगर लगे रहे, तो मुक्ति मिलेगी। इसलिए एक कोशिश उन्होने यह की कि जितने व्यवसाय हैं, उतने स्वार्थ समाज मे पैदा न हो। यह चीज भी ऐसी है,

जिसे हम चाहते है। हम नहीं चाहते कि जितने व्यवसाय हैं, उतने समाज के खिलाफ हो जायँ।

सामाजिकता का यह सूत्र है कि योग्यता और आवश्यकता के अनुरूप लोग देंगे और लेंगे। सबको सब कुछ अगर मिल जाय, तो विषमता नहीं होगी। विषमता तब होती है, जब कुछ को मिले और कुछ को न मिले। राम की बाल्टी मे काफी रोटियाँ है। फिर लोकेंद्र चार खाता है और मै दो खाता हूँ, तो विषमता नहीं है। विषमता तब आती है, जब मेरी चार रोटियाँ मुझे मिलती नहीं और लोकेंद्र को छह मिलती है। ऐसा अगर भगवान् करेगा, तो वह भगवान् नहीं रहेगा। आपने माना कि भगवान् के लिए सब समान हैं। फिर भी आप चाहते है कि वह पक्षपात करे, तो आपकी तरफ पक्षपात करे।

मनुष्य के लिए भी यह चीज वास्तविक है। एक मनुष्य का दूसरे की मनुष्यता में विश्वास न हो, तो सामाजिकता असंभव है। तब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ निर्भयता के साथ नही रह सकता। निर्भयता व्यवस्था से नहीं, प्रेम से आ सकती है और जहाँ विश्वास है, वहाँ निर्भयता है। इसलिए मनुष्य की मनुष्यता में विश्वास होना चाहिए। एक तो मनुष्य मे समझने और समझाने की शक्ति है। कहीं रुकावट है, तो दोनों मिलकर दूर करेंगे। दूसरे, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ विश्वासपूर्वक रह सकता है। अगर बीच मे रुकावट न रही, तो स्वभाव से निर्भयतापूर्वक रह सकता है। अब इन रुकावटो को दूर करना है। यह कितना बडा विरोध है कि ईश्वर में विश्वास हो, मनुष्य मे न हो।

हमारे सारे जाति-संगठन मे मुख्य प्रेरणा पारलौकिक है, आध्यात्मिक या सामाजिक नहीं। सामाजिक निर्णय की जगह पारलौकिक प्रेरणा आयी। मुक्ति की प्रेरणा नहीं आयी। इसलिए यह धर्म है, अध्यात्म नहीं है। तुम अपना-अपना काम करो, तो स्वर्ग में जाओगे। यह आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं है, पारलौकिक प्रेरणा है। धर्म पारलौकिक होता है, अध्यात्म नहीं। पारलौकिक का मतलब है, मृत्यु के बाद का जीवन। अध्यात्म में तो निरंतर जीवन होता है। शरीर है, तो भी अध्यात्म है। अध्यात्म के लिए शरीर छोडने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए जिस काम की प्रेरणा आध्यात्मिक होगी वह मानवीय प्रेम-मूलक होगी। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के स्नेह से प्रेरित होकर काम करेगा। यही वास्तविक सामाजिक प्रेरणा है। समाज कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, एक भावना है। व्यक्ति सगुण है, समाज निर्गुण है। व्यक्तियों का समूह समाज नहीं है, लेकिन व्यक्तियों के समूह से जो भावना बनती है, उसे 'समाज' कहते है। समाज को 'वस्तु' करेंगे, तो वह देवता बनेगा और वह व्यक्ति को ग्रास डालेगा।

ईश्वर को अगर आप हमारे कर्मों का फल देनेवाला न्यायाधीश मानेंगे, तो उसके लिए भक्ति नही रहेगी। हम उसे प्रेम नही कर सकेंगे। मनुष्य की यह इच्छा होती है कि न्यायाधीश के सामने न जाना पड़े, तो अच्छा है। ईश्वर न्यायाधीश नहीं है, ईश्वर प्रशासक नही है। जो प्रशासक और न्यायाधीश मानते है, उन लोगो ने अपनी सामाजिक भावनाओं को ईश्वर पर आरोपित किया है। ऐसा ईश्वर नहीं हो सकता। यदि ईश्वर को सगुण माने, तो उसे करुणाघन और प्रेमस्वरूप कहेंगे, जो निर्बल की सहायता के लिए तत्पर है। वह मेरा मित्र है, मेरा प्रिय है, मेरा सखा है। भगवान् से अर्जुन ने कहा कि जिस तरह एक सखा दूसरे सखा से दिल की बात करता है, वैसे मुझसे करिये। तो ईश्वर होगा—'फ्रेंड, फिलासफर एण्ड गाइड'। जिस वक्त मेरी शक्ति कुंठित होती है, वह दौड़कर आता है। जिस वक्त मेरी बुद्धि काम नही करती, वह प्रकाश देता है। मार्गदर्शन उसका स्वभाव है।

अति कृपालु रघुनायक, सदा दीन पर नेह।

उसकी कृपा के लिए कारण नही चाहिए। उसकी कृपा तो सहज प्रवाहित है। यही गुण मनुष्योचित भी हैं।

व्यक्ति सगुण, समाज निर्गुण

तो, समाज का रूप जो हमारे सामने होगा, वह मनुष्य के सगुण रूप के आधार पर बनेगा। समूह के विषय में मन की जो भावना बनेगी, वह मनुष्य के सगुण रूप के आधार पर बनेगी। समाज का सगुण रूप मेरा पड़ोसी है और निर्गुण रूप विश्व है।

जनता लोकसंख्या से व्यापक

हम हमेशा 'जनता' 'जनता' कहते है, पर जनता से क्या मतलब है? कुछ शब्द ऐसे होते है, जो बहुत प्रत्यक्ष मालूम होते है, परन्तु जिनकी व्याख्या नही हो सकती। जनता मे आज के लोग भी शामिल होते है और आनेवाली पीढी भी शामिल होती है। मनुष्यो के आज के शरीरो की गणना स्थूल है। यह आज की 'जनसंख्या' है, लेकिन यह दुनिया की 'जनता' नहीं है। 'जनता' एक सामाजिक वस्तु है। वह एक कल्पना है। ऐसी चीजे हमारे लिए प्रत्यक्ष भले ही न हो, पर वास्तविक होती है।

'जनता' आज लोकसंख्या से अधिक व्यापक है। मतदाता से तो है ही, लेकिन विद्यमान जनसंख्या से भी अधिक व्यापक है। परन्तु मेरा पड़ोसी मेरे लिए जनता की सगुण मूर्ति है। जब हमारी बस्तियाँ जातिनिष्ठ और सम्प्रदाय-निष्ठ नहीं होंगी, तब वह मेरे लिए मानवता का यथार्थ प्रतिनिधि होगा। उसके लिए मेरे मन में जो स्वाभाविक आत्मीयता होगी वही काम की शुद्ध प्रेरणा होगी। इस प्रकार का समाज रक्त-निरपेक्ष तथा विवाह-निरपेक्ष विश्व-कुटुम्ब होगा। ●

४-२-'६०

राज्य का समुदाय : १५ :

हम देख रहे है कि एक-एक समुदाय किस तरह से मनुष्य के व्यक्तित्व को सोख लेता है और उसको निर्माल्य बना देता है। बाजार पर हमने विचार किया। इसमें कारखाना आया। कारखाने मे ही जाति-भेद और गिल्ड्स को हमने शामिल कर लिया। 'गिल्ड' की तरह फ्रास मे व्यावसायिक सघ बना था। उसे 'सिडीकेट' कहते है। जिन लोगो ने सिंडीकेट बनाने की बात की, उन लोगो का कहना था कि व्यावसायिक संघो के ऊपर एक केन्द्रीय सघ होगा—फेडरेशन। वही सारी शासन-व्यवस्था चलायेगा। शासन-व्यवस्था चलाने के लिए राज्य की कोई आवश्यकता नहीं।

अराज्यवादी

ये लोग अराज्यवादी थे। इसके प्रवर्तको मे से एक था प्रूधो। इसका सिद्धान्त था 'म्युच्युआलिटी'। 'म्युच्युआलिटी' का अर्थ है पारस्परिकता। यानी मैं आपके लिए कुछ करूँ, आप मेरे लिए जवाब मे कुछ करे। चीज के बदले मे चीज, काम के बदले मे काम। कभी काम के बदले मे चीज, कभी चीज के बदले मे काम। सेवा के बदले मे सेवा, उपकार के बदले मे उपकार। कभी सेवा के बदले मे उपकार, कभी उपकार के बदले मे सेवा—इस तरह लगातार लेन-देन। यह 'पारस्परिकता' प्रूधो का तत्त्वज्ञान था। ये लोग 'सिडी-केलिस्ट' थे। प्रूधो ने पब्लिक बैक की स्थापना की एक योजना बनायी थी। वह हमारे खादी भडार की तरह थी। आप अपनी गुडी खद्दर भडार में ले जायँ और उस गुंडी के बदले मे कपड़ा ले ले। इस तरह का वह पारस्परिकता के लिए पब्लिक बैक था। चीजो की अदल-बदल के लिए कोई एक साधन हो, ऐसा प्रूधो ने सोचा था।

इन लोगों का समाज-परिवर्तन का मुख्य साधन था—आम हडताल। लेकिन इस हड़ताल मे अहिंसा के लिए कोई स्थान नही था। काम बन्द कर सकते थे, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि काम बन्द करके मिल न जलाये या तोड़-फोड़ न करे। विरोध निःशस्त्र था, लेकिन अहिसक नही। ये लोग भी व्यवसाय के आधार पर प्रतिनिधित्व चाहते थे।

समाज में जो नयी-नयी विचारधाराएँ प्रवाहित हुईं, वे ज्यादातर फ्रांस से आयीं। फ्रांस के समाजवाद, इंग्लैंड के अर्थशास्त्र और जर्मनी के दर्शन के ताने-बाने से मार्क्स के विचार का थान बना है। गिल्ड सोशियालिज्म में तत्त्वज्ञान नहीं था, वह सिंडीकेट में आया। सिंडीकेटवाले अराज्यवादी थे।

राज्य का समुदाय

अब हम राज्य के समुदाय पर विचार करेंगे। राज्य क्या करता है? राज्य मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण नियंत्रण करता है। इसके विनोवा ने तीन हिस्से बना दिये। मनुष्य का रक्षण, पोषण और शिक्षण। इन तीनों में मनुष्य का सारा इहलौकिक जीवन समा गया। इसलिए राज्य सबसे प्रभावशाली समुदाय है। राज्य-संस्था केवल यही निर्धारित नहीं करती कि आप क्या पहनेंगे और क्या बरतेंगे, आप क्या करेंगे, क्या सोचेंगे, आपके हृदय में कौन-सी भावनाएँ होंगी, यह भी राज्य निर्धारित करता है। इसका नाम शिक्षण है। इसलिए राज्य की दृष्टि से शिक्षण प्रचार का साधन है। राज्य की मान्यताओं, योजनाओं और नियमों के लिए अनुकूलता पैदा करना शिक्षण का काम हो जाता है। लेकिन सबसे बड़ी सद्भाग्य की बात यह है कि दुनियाभर के राज्य अब तक इसमें असफल रहे। लेकिन राज्य का उद्देश्य यही है।

राज्य आपके रक्षण और पोषण की व्यवस्था करता है। उसके बदले में आपकी बुद्धि और आपके हृदय पर वह प्रभुत्व चाहता है। यह राज्यवाद कहलाता है।

राज्य होना चाहिए, राज्य आवश्यक है, अनिवार्य है। यहाँ से राज्यवाद का आरम्भ हुआ। यह वस्तुस्थिति है। हर सिद्धान्त के लिए वस्तुस्थिति में कोई पकड़ चाहिए। राज्य होना चाहिए, इस वस्तुस्थिति पर राज्यवाद खड़ा होता है। इसके बाद वह क्या कहता है कि हम आपके रक्षण का और आपके पोषण का संयोजन करेंगे। मुख्य वस्तु मानी गयी राज्य की अनिवार्यता। अव्यवस्था मनुष्य को नहीं चाहिए। मनुष्य व्यवस्था चाहता है।

व्यवस्था में दो बातें

व्यवस्था में दो चीजें आती हैं। एक है नियंत्रण और दूसरी है प्रशासन। नियंत्रण में अनुशासन और आज्ञा-पालन, ये दोनों चीजें आती हैं। राज्य के साथ-साथ प्रशासन चलता है। व्यवस्था का अर्थ है सुविधाओं का संयोजन, जीवन की सुविधाओं का प्रबन्ध। इस प्रबन्ध के लिए नियंत्रण और अनुशासन

की आवश्यकता होती है, इसलिए वहाँ प्रशासन आता है। राज्य होना चाहिए, इसके पीछे यह भूमिका है। हर मनुष्य की अनियंत्रित इच्छा समाज मे नही चल सकती, वह चलनी भी नही चाहिए।

हर मनुष्य की अनियन्त्रित इच्छा चलने का अर्थ यह होगा कि अपनी इच्छा दूसरो के ऊपर लादने की जिसकी शक्ति होगी, उसीकी इच्छा चलेगी। जो व्यक्ति सबसे अधिक प्रभुत्ववादी होगा, उसीकी इच्छा चलेगी। जो अपनी इच्छा दूसरो पर चलाना चाहता है, वह असल मे स्वतन्त्रताप्रिय मनुष्य नहीं है। सिर्फ इतना ही नही है कि वह दूसरो पर अपनी इच्छा लादना चाहता है, किन्तु उससे अधिक बलवान् अगर कोई आ जाय, तो अपनी स्वतन्त्रता भी वह उसके हाथों बेच देता है। इसलिए हम कहते हैं कि वह स्वातन्त्र्य नहीं है, जो अपने से कमजोर की आजादी छीनता है और अपने से जोरावर के सामने दबता है। इसलिए जितना शासन है, वह कायरता से पैदा होता है। दुनिया मे जितने भी अत्याचारी, जुल्मी और अनियंत्रित सत्ताधारी लोग हुए है, उन्हे दुनिया ने बहुत पुरुषार्थी माना है। लेकिन उनके भीतर में छिपी हुई चीज है कायरता।

सामर्थ्य से प्रभुत्ववाद पैदा नहीं होता, सामर्थ्य से स्वतन्त्रता पैदा होती है। प्रभुत्ववाद मे विश्वास का अभाव है। सामान्य मनुष्य मे हम विश्वास नहीं कर सकते, दूसरे किसी व्यक्ति पर विश्वास नहीं कर सकते, इसलिए राज्य होना चाहिए, इस भावना के साथ जो राज्य-नीति आती है, उसका सबसे बडा आधार है अविश्वास। राजा किसी पर भरोसा नही कर सकता। राज-सत्ताधारी किसी पर विश्वास नहीं कर सकता। वह जिन पर निर्भर रहता है, उनके विषय मे भी नित्य सावधान रहता है। अगर वह ऐसा न हो, तो ऐसा माना जाता है कि वह राजा राज्य नही कर सकता।

सामाजिक इच्छा-शक्ति

इसलिए राज्य एक ऐसा समुदाय है, जो सब तरफ से मनुष्य के व्यक्तित्व को जकड लेता है। मनुष्य क्या बनायेगा, क्या बरतेगा, उसका विचार क्या होगा, उसकी भावनाएँ क्या होगी, इन सब पर राज्य का नियत्रण होता है। हर मनुष्य की मर्जी से तो काम नही हो सकता। हर मनुष्य की मर्जी से नहीं, तो सबकी मर्जी से काम होना चाहिए। सबकी अनुमति अलग चीज है और सबकी मर्जी अलग चीज। सबकी मर्जी से काम होना चाहिए। पर सबकी मर्जी है कहाँ? इसका व्यक्त रूप क्या है? इसका मूर्त स्वरूप क्या है? राज्य-वादी कहता है, वह है राज्य।

सारे समाज में जितने व्यक्ति है, उन व्यक्तियों की जो सामुदायिक इच्छा-शक्ति है, उसे राज्य-शास्त्र में 'जनरल विल' नाम दिया गया है। राज्यवादी का दावा है कि इस सामाजिक इच्छा-शक्ति का व्यक्त स्वरूप राज्य है। यह सारे समाज में अव्यक्त है। हरएक की अपनी-अपनी इच्छा अलग है, लेकिन सबकी मिलकर जो सामान्य इच्छा है, उसीका व्यक्त स्वरूप राज्य है। इसलिए व्यक्ति के लिए राज्य की इच्छा प्रमाणभूत है। किसी व्यक्ति को राज्य के खिलाफ कुछ करने का अधिकार नहीं है। इसे कहते हैं—'एब्सोल्यूटिस्ट थियरी ऑफ दी स्टेट'—निरपेक्ष राज्यसत्तावाद।

मर्जी और अनुमति में अन्तर

मर्जी और अनुमति में यह फर्क है कि मेरी जैसी मर्जी होती है, वैसी हमेशा मेरी मान्यता नहीं होती। इस वक्त मेरी मर्जी हुई कि चोरी करूँ और चोरी करते वक्त मुझे कोई न देखे या देखे भी, तो सबको दबा सकूँ। दो में से एक बन सकता हूँ। चोर भी हो सकता हूँ और लुटेरा भी। लेकिन मैं यह नहीं चाहूँगा कि दूसरा मेरे यहाँ आकर चोरी करे। तो, मेरी मान्यता में और मेरी मर्जी में अन्तर पड जाता है। मनुष्य की जो मर्जी होती है, वैसी उसकी हमेशा मान्यता नहीं होती।

सर्वसामान्य मनुष्यों की जो मान्यता है, उसे हम 'सर्वानुमति' कहते है, लेकिन हरएक की अपनी मर्जी सर्वानुमति नहीं होती। इस मर्जी को छोडते है, तब 'सर्वानुमति' सिद्ध होती है। अपनी-अपनी मर्जी पर काबू करना होता है और सर्वजन-हिताय विचार करना होता है। तब राजनैतिक व्यवहार से मेरा अहंकार कम होता चला जाता है और दूसरों के साथ मेरा तादात्म्य बढता है। अगर समाज को सर्वानुमति से चलना है, तो नागरिक के चित्त की यह अवस्था होनी चाहिए कि वह सोचे कि मेरा निर्णय स्वार्थ-निरपेक्ष और विकार-निरपेक्ष हो। तब सर्वानुमति से निर्णय होता है। आपका मत आपकी मर्जी नहीं है। मत अलग चीज है, मर्जी अलग चीज है। आपके मत में आपका स्वार्थ नहीं होना चाहिए। आपके मत में आपका विकार नहीं होना चाहिए। आपका मत आपका निर्णय है। वह निर्णय विकार-निरपेक्ष और स्वार्थ-निरपेक्ष होना चाहिए। सर्वसम्मति के लिए यह भूमिका आवश्यक है। तब हर नागरिक का राज्य-व्यवहार में प्रत्यक्ष भाग लेने का अधिकार चरितार्थ होता है।

'कम्यून' और 'कम्युनिकेशन'

कम्युनिटी का भी ऐसा ही है। 'कम्यून' और 'कम्युनिकेशन' जिसमे है, उसे 'कम्युनिटी' कहते हैं। समाज अधिक व्यापक है, लेकिन कम्युनिटी मर्यादित है। इसमे आवश्यक है 'कम्युनियन'। 'कम्युनियन' का मतलब यह है कि मनुष्यो का मनुष्यो के साथ घनिष्ठ संबध हो। विश्व-कुटुम्ब याने सारे विश्व के बराबर विशाल नहीं। विश्व के गुण जिसमे है, वह कुटुम्ब। छोटा कुटुम्ब भी विश्व-कुटुम्ब हो सकता है। वह पूरे विश्व की एक छोटी प्रतिकृति होगा। छोटी प्रतिकृति मे गुण वही रहेंगे। विनोबा उदाहरण देता है। एक छोटा लड्डू है और दूसरा बडा लड्डू। दोनो समूचे है। दोनो पूर्ण है। दोनों गोल है। दोनो मीठे है। जो गुण-धर्म बडे लड्डू मे है, वे ही गुण-धर्म छोटे लड्डू में भी है।

समाज के जिस समुदाय मे विश्व के गुण-धर्म है, वह छोटा कुटुम्ब भी विश्व-कुटुम्ब ही है। कम्युनियन का मतलब है, आत्मीयता का व्यवहार, हृदयो का मिलन। इसे 'कम्युनियन' कहते है। ईसाई-धर्म मे यह एक विधि है। भगवान् के साथ सम्बन्ध कायम करने की जो विधि होती है, उसे 'कम्युनियन' कहते है।

यह जो आत्मिक और हार्दिक सबध है, वह है—कम्युनियन। जहॉ सब लोग आपके आत्मीय है, स्वजन हैं, वह है 'कम्युनिटी'। आपके पडोस मे जितने है, वे सबके सब आपके आत्मीय है।

दूसरे, 'कम्युनिकेशन' होना चाहिए। 'कम्युनिकेशन' का मतलब है प्रत्यक्ष निवेदन। कम्युनिकेशन का अर्थ—चिट्ठी-पत्री, तार-टेलीफोन नहीं, वह है—प्रत्यक्ष निवेदन। कम्युनिटी आमने-सामने होनी चाहिए। मै आपके सामने हूॅ, आप मेरे सामने है। हमारा जितना व्यवहार होगा, प्रत्यक्ष होगा, परोक्ष नही।

हम आपको भोजन का निमंत्रण देने आये हैं। आपने उस वक्त तो कह दिया कि आऊँगा। लेकिन मन मे आना नही है। इसलिए थोडी देर के बाद आपका टेलीफोन आता है, 'क्षमा कीजिये, मैं आ नही सकता।'

'यह फिर वहीं क्यो नही बताया ?' तो कहता है : 'सकोच होता था।' परोक्ष और प्रत्यक्ष व्यवहार मे इतना अन्तर है।

कम्युनिटी मे जो कम्युनिकेशन हो, वह प्रत्यक्ष हो। आपकी बहू मेरी बहू हो, आपकी बेटी मेरी बेटी हो, आपकी मॉ मेरी मॉ हो। यह तभी होगा, जब व्यवहार परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष होगा। जितना प्रत्यक्ष व्यवहार होता है, उसमे वास्तविकता आती है। इस वास्तविकता के लिए कम्युनिटी 'फेस टू फेस',

'आमने-सामने' होनी चाहिए। अगर वैसा न हो, तो वास्तविकता नहीं आती।

गांधी ने कहा था कि मेरे शरीर की मर्यादा से स्वदेशी की मर्यादा मर्यादित होती है। इस कम्युनिटी के लिए उन्होंने धर्म दिया था—स्वदेशी-धर्म। स्वदेशी-धर्म के आर्थिक पहलू अलग हैं। यहाँ मैं स्वदेशी-धर्म का सांस्कृतिक पहलू बता रहा हूँ। कम्युनियन और कम्युनिकेशन भी प्रत्यक्ष हो। पहले आमने-सामने लड़ाई होती थी। याने आपका हाथ और मेरा हाथ एक-दूसरे से भिड़ रहा है। यह लड़ाई बहुत बड़े मैदान पर नहीं हो सकती। दो सेनाओं में बहुत लम्बा अन्तर नहीं रह सकता। आकार से अधिक महत्त्व अन्तर का है।

हम आकार का अधिक विचार करते हैं। विचार आकार का नहीं, अन्तर का होना चाहिए। पड़ोसियों में अन्तर कितना होता है, इसका महत्त्व है। इसलिए मार्गन ने कहा है कि छोटी कम्युनिटी होनी चाहिए। बड़े पैमाने में व्यक्तित्व के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए बड़ा पैमाना मनुष्य के लिए अपने में विषम है। आकार जितना बड़ा होगा, उतना वह व्यक्ति के लिए प्रतिकूल होगा। व्यक्ति के लिए उसमें स्थान नहीं होगा। व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए बड़ा आकार अनुकूल नहीं है।

आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्

कहा गया है कि 'कुलस्यार्थे त्यजेद् एकम्'—सारे कुटुम्ब के हित के लिए एक मनुष्य का त्याग करो। हम यहाँ पर दो वृत्तियों के फर्क पर विचार कर रहे हैं। एक समष्टि, दूसरी व्यष्टि। मनुष्य की मर्जी और मनुष्य की अनुमति में क्या अन्तर है? 'कुलस्यार्थे त्यजेद् एकम्'—सारे कुटुम्ब का अगर नुकसान होता होगा, तो एक का त्याग करो। यह व्यवहार का न्याय बतलाया। 'ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्'—अगर एक कुटुम्ब से सारे गाँव का नुकसान होता हो, तो उसे छोड़ दो। ग्राम के कारण जनपद का नुकसान होता हो, तो उसे छोड़ दो। और अन्त में कहा है कि 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'—आत्मा के लिए पृथिवी का भी त्याग कर दो।

एक तरफ कहता है—'कुलस्यार्थे त्यजेद् एकम्'—कुटुम्ब के लिए एक को छोड़ो और दूसरी तरफ कहता है, 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'—आत्मा के लिए पृथिवी को भी छोड़ो। इसका मतलब क्या हुआ? एक तरफ कुटुम्ब के हित के लिए एक व्यक्ति के स्वार्थ को छोड़ दो और दूसरी तरफ कहता है कि तुम्हारी

आत्मा अगर सारे ससार के मत के खिलाफ खडी हो, तो सारे ससार को छोड दो।

राज्यवाद जिस प्रकार व्यक्तित्व की बलि देता है, उसी प्रकार यह समुदायवाद भी व्यक्तित्व का बलिदान करता है। मानव-निष्ठा का सत्यनिष्ठा से विरोध नही है, इसलिए आत्मनिष्ठ मनुष्य मानवनिष्ठ होता है, किन्तु समूहवादी नही। मेरा स्वार्थ नही, मेरा विकार नही; लेकिन मेरा आत्म-निर्णय प्रमाण है। मैं एक सत्य रख रहा हूँ, जिसमे सबका हित मानता हूँ। लेकिन समुदाय का मत मुझसे भिन्न हो, ऐसे समय 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'। 'त्यजेत्' का मतलब है आदर-पूर्वक अवज्ञा करना।

ईश्वर-निष्ठा, मानव-निष्ठा तथा सत्य-निष्ठा

अहिसात्मक प्रक्रिया को माननेवाला मनुष्य राज्य के नियत्रण को नही मानता। क्यो ? वह यह कहता है कि समुदायवाद मे मनुष्य की सत्य-निष्ठा और आत्म-निष्ठा का लोप नही होना चाहिए। मनुष्य की सत्य-निष्ठा और आत्म-निष्ठा दो नही, एक ही है। गाधी ने उसका नाम रखा सत्याग्रह। उन्होने सत्य को ही ईश्वर माना। सत्य और ईश्वर के अनुकूल मेरी आत्मा की जो पुकार है, उसे 'कान्शेन्स', 'अन्तरात्मा' माना। मेरी अन्तरात्मा, सत्य और ईश्वर, इन तीनो को मै पहले मानूँ। अनुशासन-निष्ठा मेरे सत्य, ईश्वर और आत्मा के लिए हो। तीनो का अर्थ एक है। इन तीनों के प्रति मेरी प्रथम निष्ठा है। यह मेरी मानव-निष्ठा के अनुकूल है, प्रतिकूल नही। इसलिए मेरे लिए मानव-निष्ठा पहले है। सस्था या सगठन के लिए निष्ठा उसके बाद आती है। प्रथम निष्ठा सत्य, ईश्वर या आत्मा के लिए है। मानव-निष्ठा भी उसके साथ एक ही कोष्ठक मे है। ईश्वर निष्ठा, मानव-निष्ठा और सत्य-निष्ठा ये तीनो एक ही सत्य के समान पहलू है, अलग-अलग नही। लेकिन मानव-निष्ठा को मैं सस्था-निष्ठा और संगठन-निष्ठा के साथ नही मिला सकता। दोनो अलग-अलग चीजे है—समुदायवाद अलग चीज है, मानव-निष्ठा अलग चीज है।

कोई यदि ईश्वर को न माने, तो उसके लिए गाधी ने कह दिया कि जो ईश्वर को नही मानता, उसके लिए उसकी नास्तिकता ही स्वय ईश्वर है। मनुष्य की नास्तिकता मे जो निष्ठा है, वही उसका ईश्वर है। उसे अपने प्राणो से वह ऊँचा मानता है और सबके लिए हितकारी मानता है। उसके लिए वह मरने को भी तैयार होता है। लेकिन उसकी मृत्यु मे किसी चीज का मोह नही होता, उसका अपना कोई स्वार्थ नही होता।

पार्लमेंट मे हर सदस्य के लिए शपथ-विधि होती है। उसमे एक वाक्य था—'इन दी, नेम ऑफ गॉड'—'ईश्वर को साक्षी रखकर या ईश्वर के नाम पर।' चार्ल्स ब्रेडला ने कहा कि मैं ईश्वर को नहीं मानता। इसलिए मैं यह शपथ नहीं लूँगा। उसके लिए उसे बहुत कष्ट सहना पड़ा, बहुत विरोध सहना पड़ा, उसका अपमान हुआ, उपहास हुआ, लेकिन उसने कहा कि मैं शपथ नहीं लूँगा।

इसी तरह सत्याग्रह की शपथ का सवाल आया। गाधीजी ने जब स्वय-सेवक, सत्याग्रही बनाने का सिलसिला शुरू किया, तो 'ईश्वर के नाम पर' शब्द आया। जवाहरलालजी कह नहीं सके कि मैं ईश्वर के नाम पर शपथ लेता हूँ। तो, गाधी ने लिखा कि पहले से अगर मुझे कोई कह देता, तो मैं उस शपथ मे वह शब्द ही न लिखता। लेकिन 'ईश्वर' शब्द का किसीको एतराज हो, तो किसीको ईश्वर के नाम पर शपथ करने की जरूरत नहीं है। वह अपने ईमान को साक्षी रखे, अपनी अन्तरात्मा की गवाही से कहे। यह जो अन्तरात्मा का सकेत है, इसको उन्होंने ईश्वर की प्रेरणा मान लिया।

लोकमत का प्रश्न

एडमंड बर्क कहता है कि सामान्य मनुष्यो की जो वास्तविक इच्छा है, वह राज्य मे ही व्यक्त होती है। वह उस राज्य मे व्यक्त होती है, जो राज्य सुसस्कृत लोगो के हाथ मे हो। सुसस्कृत लोगो मे आते है आनुवशिक जमीदार—'स्क्वायर'। व्यापारियों से जमींदार कुछ उदार-दिल होता है, क्योंकि जमींदारी मे सौदा नहीं होता। दूकानदार तो हिसाब ही करता है। कितना भी अमीर क्यो न हो, उसे लोग 'बनिया' ही कहेंगे। दोनों की तबीयत मे फर्क पड जाता है।

उपन्यासो और काव्यो मे देहाती जमीदारो—'स्क्वायरो' का वर्णन मिलता है कि उनका दिल कैसा उदार होता था। ऐसा बडा दिल, जैसा कुटुम्ब मे पिता का होता है। बाप अपने को सबकी बराबरी का नहीं मानता, लेकिन सबके लिए समान कृपाशील होता है। भगवान् को कहते है: 'तू ही हमारा पिता है।' पिता का मतलब इतना ही है कि जो आपको काबू मे रखता है और प्रेम भी करता है। वशिष्ठ और दूसरे गुरुओ ने राजाओं को जब उपदेश किया, तो कहा कि प्रजा पृथ्वीरूपी गाय के बछडे की तरह है इसका रक्षण करो। उनके प्रजा-जन असामी नहीं, कुटुंबीय होते थे। बर्क का कहना था कि राज्य ऐसे लोगो के हाथ मे होना चाहिए जो आनुवंशिक जमीदार हों। इनका जो मत होगा,

वही वास्तविक लोकमत है। ये गँवार लोग क्या मत रखेंगे ? कोई तमीज भी है उन्हे ? लोग कहते है कि २१ साल के पहले 'मत' क्या ? मूँछ नही, तो मत कैसा ?

सयानों की राय

तो, इस तरह के राज्य की सर्वशक्ति होनी चाहिए। उसमे व्यापक शक्ति होनी चाहिए। इसे 'ऐब्सोल्यूटिस्ट थियरी' कहते है। एडमण्ड बर्क इसका एक प्रमुख प्रवक्ता था। पुराणपथी कहते है कि सत्ता एक वर्ग के हाथ मे होनी चाहिए। वह ऐसे वर्ग के हाथ मे होनी चाहिए, जो सस्कृति से सम्पन्न हो। इस वर्ग की जो इच्छा होगी, वही सार्वजनिक इच्छा मानी जानी चाहिए। अध्यात्मवादी लोग कहते है कि ब्रह्मवेत्ता का जो मत होगा, वही वास्तविक सबका मत माना जाना चाहिए। मुट्ठीभर सयानो की जो राय होगी, वही असल मे लोकमत है। इन्होने सन्तो की आध्यात्मिक भूमिका से कहा और उन्होंने सस्कृति की लौकिक भूमिका से, लेकिन इन सबके मन मे यही एक चीज थी।

बर्क ने फ्रास की राज्य-क्रान्ति के खिलाफ किताब लिखी। इसके जवाब मे टॉमपेन ने लिखा है। लेकिन कार्लाइल ने उस क्रान्ति के अनुकूल किताब लिखी। वह निरपेक्ष राज्यवादी था। प्लेटो ने कहा : 'दार्शनिको की सत्ता होनी चाहिए।' उसने 'रिपब्लिक' मे कहा है कि तत्त्वज्ञानियों की सत्ता होनी चाहिए। ये सारे-के-सारे लोग पुराण-मतवादी याने वर्ग-सत्तावादी थे। सत्ता इस वर्ग के हाथ मे रहेगी और सामान्य मनुष्य उसकी आज्ञा का पालन करेगा। यह आज्ञा-पालन और अनुशासन है।

राज्य का दूसरा पहलू

राज्य का दूसरा पहलू यह था कि राज्य आपके लिए सारी व्यवस्था करेगा। बदले मे आप अपना बुद्धि-समर्पण, निर्णय-समर्पण करेगे। आप यह कीमत देंगे। जो व्यक्ति ऐसा नही करेगा, वह समाज-द्रोही माना जायगा। जो राज्य-द्रोही होगा, वह समाज-द्रोही होगा। एब्सोल्यूटिस्ट थियरीवाले यही कहते हैं।

यहाँ दूसरो का क्या कहना था ? वे कहते थे कि हम राज्य को इसलिए मानते है कि हमे वह अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता की परिस्थिति देगा। यह स्वतन्त्रता मुख्यतः बौद्धिक होगी। यह आचार, विचार और विहार—तीन

प्रकार की होगी। जिस राज्य मे हमे अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता मिलती होगी, वह राज्य हमारे लिए अनुकूल है।

संरक्षण और स्वतन्त्रता

यहाँ अन्तर्विरोध है। जो सरक्षित है, वह स्वतन्त्रता नही माँग सकता। फिर भी हमने मान लिया कि राज्य हमारी स्वतन्त्रता का संरक्षण जिस अश मे करेगा, उस अंश मे राज्य का हम स्वीकार करेंगे। लेकिन संरक्षण जितना अधिक होगा, उतनी स्वतन्त्रता कम होगी।

आपने बच्चो के लिए एक पार्क बना दिया। आपने कहा कि यहाँ बड़े लोग नहीं जा सकेंगे। कोई सवारी नही जा सकेगी। उस पार्क के भीतर बच्चो को पूरी स्वतन्त्रता है। लेकिन पार्क के फाटक पर तीन सिपाही खडे करने होंगे। क्यो ? इसलिए कि बड़े लोग अन्दर न जा सकें, सवारी न जा सके, बच्चों की स्वतन्त्रता मे कोई बाधा न आने पाये। तो, क्या हुआ ? स्वतन्त्रता सरक्षित रखनी पड़ी। वह स्वतन्त्रता अन्त मे आपकी मर्जी पर रहेगी। जितने दिन तक आप उनकी स्वतन्त्रता सरक्षित रखेंगे, उतने दिनो तक वह संरक्षित रहेगी। बाद मे अगर आपके सिपाही झपकियाँ लेने लगे या पान खाने चले गये या उनकी नीयत बदल गयी, तो उनकी स्वतन्त्रता समाप्त है।

तो, व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिसमे से व्यक्ति की आत्म-सरक्षण-क्षमता बढ़े, संरक्षण की आकाक्षा और आवश्यकता कम हो।

तो, क्या फिर हम अराज्यवादी है ?

हमने अन्तर्विरोध देखा। संरक्षण जहाँ है, वहाँ स्वतन्त्रता नही है। हम स्वतन्त्रता तो चाहते हैं, लेकिन सरक्षण नहीं चाहते। संरक्षण नहीं चाहते, तो क्या हम अराज्यवादी है ? क्या शासन-मुक्ति अराज्यवाद है ? क्या लोकनीति अराज्यवाद है ? इस प्रश्न पर हम फिर विचार करेंगे। ●

७-२-'६०

राज्य-संस्था का विघटन कैसे हो ?   : १६ :

अभी हम राज्य सस्था का विचार कर रहे है। हमारे सामने मुख्य विषय यह है कि कोई भी समष्टि व्यक्त होकर संस्था और राज्य का स्वरूप ले लेती है, तो वह व्यक्तित्व को शुष्क कर देती है। समष्टि में व्यक्तित्व की परिपूर्ति है, लेकिन वह तव, जव व्यक्तित्व के विकास के लिए उसमे सम्पूर्ण अवसर हो। समष्टि अपने मे एक देवता न वन जाय। विश्व-रूप मे जो व्यक्ति है, वह अपने मे छोटी प्रतिकृति है। गुण-धर्म मे दोनो मे प्रकार का भेद नही है। आकार का, विशालता का भेद होगा, लेकिन व्यापकता का नहीं। व्यक्ति भी उतना ही व्यापक होगा, जितना विश्व। व्यष्टि या व्यक्ति समष्टि या समुदाय से कम आवश्यक नही। आकार छोटा होगा, लेकिन गुण-धर्म मे समानता होगी।

राज्य-संस्था का विघटन

यहाँ से विवाद आरम्भ होता है। इसलिए आत्यन्तिक व्यक्तिवादी लोगो ने कहा कि राज्य-सस्था हट जानी चाहिए। सस्था-सगठन न हो। यह केवल तात्त्विक विचार है। इसे बौद्धिक विचार न माने। लेकिन जिनको मनुष्य की चिन्ता है, वे गहराई से विचार कर रहे हैं। तीन चीजें हैं—राज्यवाद, संस्था-वाद और केन्द्रीकरणवाद। केन्द्रीकरणवाद का ही नाम सगठनवाद है। जो चुस्त संगठन होता है, उसमे सत्ता केन्द्रित होती है। सत्ता केन्द्रित न हो, तो सगठन ढीला पडता है। सगठन का आकार वडा हो या छोटा, यह अलग चीज है, लेकिन मुख्य वस्तु केन्द्रीकरण है।

मनुष्य किसी सस्था का सदस्य या किसी सगठन की इकाई वन रहा है। वह मनुष्य तो था ही, बाद मे सदस्य वना। अव इकाई वनता है और उसके वाद ऑकड़ाशास्त्र मे वह अंक बन जाता है। तो इन्सान सदस्य हुआ, अदद हुआ, ऑकड़ा हुआ। उसके इतने रूप बदल गये। जिन लोगों को मनुष्य की चिन्ता है, वे सोच रहे हैं कि आखिर राज्य-सस्था का क्या स्थान हो, उसकी क्या मर्यादा हो !

जितने भी तानाशाह है—कम्युनिस्ट, फैसिस्ट, नाजी, सबके सब राज्यवादी

है। वेलफेयर स्टेट, कल्याणकारी राज्य भी राज्यवाद का एक स्वरूप है। कल्याणकारी राज्यवाद को उदार राज्यवाद भी कहते हैं। उदार सत्तावाद को 'बेनिहॉल्ंट पावर' कहते हैं। तानाशाही में कठोर राज्यवाद है। जितने तानाशाह हैं, वे राज्यवादी हैं; लेकिन जितने राज्यवादी हैं, वे तानाशाहीवाले नहीं हैं। इन लोगों ने स्टेट को देवता का रूप दिया। राज्य-संस्था का दैवीकरण हुआ। मनुष्य ने एक तरफ देवताओं पर मनुष्य के गुणों का आरोप किया और दूसरी तरफ मनुष्य पर देवताओं के गुणों का। कुछ लोगों ने कहा कि इस तरह की राज्य-संस्था होगी, तो मनुष्य का विकास नहीं होगा। इसलिए राज-संस्था को नष्ट करना आवश्यक है। ये लोग अराज्यवादी कहलाये।

अराज्यवादियों का कहना था कि मनुष्य में इतनी सद्बुद्धि है कि उसे राज्य-संस्था की आवश्यकता नहीं है। उनसे पूछा गया कि राज्य-संस्था न हो, तो व्यवस्था का क्या हो? उद्दंडों के नियंत्रण का क्या हो? अल्पसंख्यकों का क्या हो? इसका जवाब वे नहीं दे सके। उन्होंने इतना ही कहा कि मनुष्य की अन्तःप्रवृत्ति, उसकी भीतरी प्रेरणा ही इतनी शुभ है कि उसके लिए किसी व्यवस्था या राज्य-संस्था की आवश्यकता नहीं। व्यवस्थापकों और राज्य करनेवालों ने मनुष्यों को विकृत कर दिया है।

प्रिन्स क्रोपाटकिन का कहना था कि नागरिकों की पारस्परिक सहायता पर समाज चलेगा। अगर सब मनुष्य एक-दूसरे की सहायता करेंगे, तो राज्य-संस्था की आवश्यकता नहीं रहेगी। मैं अपने पड़ोसी की सहायता करूँगा, पड़ोसी मेरी सहायता करेगा। ऐसी हालत में राज्य-संस्था की जरूरत नहीं रहेगी। उसने इस विषय पर एक पुस्तक लिखी है—'म्युच्युअल एड'।

तीसरा था माइकेल बाकूनिन। इसकी किताब का नाम है—'गॉड एण्ड दी स्टेट'। वह कहता था कि लोगों ने स्टेट को ईश्वर ही बना दिया, तो ईश्वर की भी जरूरत नहीं और स्टेट की भी जरूरत नहीं। वह था तो कम्युनिस्ट, लेकिन शासनहीन समाज की बात करनेवाला था। इस बारे में मार्क्स और उसका झगड़ा हुआ और ये 'अनार्किस्ट' अलग हुए। 'दी स्टेट विल विदर अवे' (राज्य विलीन हो जायगा)—यह अंश बाद में कम्युनिज्म में राज्यवाद में आया।

गॉडविन और सॉरेल का मत

विलियम गॉडविन इंग्लैंड का था और सॉरेल था फ्रांस का। विलियम गॉडविन के बारे में एक मजे की बात है। टॉमस पेन ने एडमण्ड बर्क के जवाब

मे 'राइट्स ऑव्ह मेन' (मनुष्य के अधिकार) पर एक किताब लिखी। मेरी वॉलस्टोन क्रॅफ्ट ने 'दी राइट्स ऑव्ह विमेन' (स्त्री के अधिकार) किताब लिखी। स्त्रियो की भूमिका के विषय मे अपने ढग की यह पहली शक्तिशाली किताब है, जिसमे हिम्मत और वैज्ञानिकता के साथ स्त्रियों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया है। मेरी वॉलस्टोन क्रॅफ्ट ने विलियम गॉडविन से शादी की। दोनो बहुत प्रसिद्ध थे।

विलियम गॉडविन का कहना था कि राज्य-सस्था की आवश्यकता बिलकुल नहीं। लेकिन सवाल यह था कि जिस परिस्थिति मे राज्य-सस्था की आवश्यकता नही रहेगी, उस तक पहुँचने के लिए क्या करें ? राज्य-सस्था के निवारण के लिए हम क्या करे ? इसका जवाब अराज्यवादियो मे से किसीके पास नही था। हिंसा ही एक जवाब था और हिंसा मे से अराज्यवाद आ नही सकता। विलियम गॉडविन ने कहा कि इसके लिए 'डिसकशन' करो, विचार-विनिमय करो। लोगो को समझाओ।

यह बात सुनने मे तो अटपटी लगती है, लेकिन पार्लियामेंटरी पद्धति की सरकार का आधार ही विचार-विनिमय है। इसलिए वह पद्धति सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है। 'पार्ले' शब्द का अर्थ है बोलना। जहॉ प्रस्ताव होता है, संशोधन होता है, प्रतिवाद होता है और बाद मे कानून बनता है, उस जगह को 'पार्लियामेंट' कहते है। कितने ही क्रान्तिकारी तग आकर कहते थे कि यह इन लोगो की गप्प मारने की दूकान है, काम करने की नहीं।

पार्लियामेंट का मुख्य आशय क्या है ? राज्य-व्यवस्था मनुष्य के विचार-विनिमय से चलेगी। तो, राज्य-सस्था का आधार हुआ—समझाना। समझाना जहॉ दाखिल होगा, वहॉ राज्य-शासन कम होगा। राज्य-व्यवस्था सैन्य से नहीं, विचार-विनिमय से चलेगी। याने राज्य-व्यवस्था मे समझाना अधिक होगा, सत्ता कम। पुलिस, फौज और जेल—तीनो का उपयोग राज्य मे कम करना होगा। इस तरह के राज्य मे सत्ता कम और व्यवस्था अधिक होगी। आज की सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था का आधार भी एक-दूसरे को समझाना है। इसलिए विलियम गॉडविन कोई आसमानी बात नही करता था। समझाने से कानून बनता है। अब सवाल यह है कि कानून का अमल भी समझाने से हो।

राज्य-संस्था के तीन कार्य

आज की राज्य-सस्था के तीन कार्य है—कानून बनाना, कानून का अमल करना और कानून का अर्थ करना। तीनों के तीन नाम है—एक को आप

'विधान-विभाग' कहते हैं, दूसरे को 'कार्यकारी-विभाग' और तीसरे को 'न्याय-विभाग'। तीनों में मुख्य विभाग है विधान-विभाग। उसका आधार है—विचार-विनिमय। न्याय-विभाग भी ऐसा है, जिस पर सत्ता का, राज्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, ऐसा हमने माना है। ये दोनों विभाग सर्वश्रेष्ठ हैं। विधान और न्याय-विभाग पर कार्यकारी विभाग का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। आज का उत्तम राज्य वह होगा, जिस पर कार्यकारी विभाग का प्रभाव नहीं पड़ेगा। पुलिस, फौज, जेल और अदालत का जिसमें कम-से-कम उपयोग होता है, वह राज्य उत्तम राज्य माना जाता है। विलियम गॉडविन ने विचार-विनिमय की जो बात कही, वह बहुत बुनियादी बात है। लेकिन उस वक्त तक किसीको खयाल नहीं था कि समझाने से काम हो सकता है। समझाने से काम न हो, तो क्या करें, इसका जवाब इनमें से किसीके पास नहीं था।

थोरो और टॉल्सटॉय

इस सवाल का कुछ थोड़ा-सा जवाब देने की कोशिश एक तरफ थोरो ने की, दूसरी तरफ टॉल्सटॉय ने। हेनरी थोरो ने 'ऑन दी ड्यूटी ऑफ सिव्हिल डिसओबिडियन्स' पर एक निबन्ध लिखा है और टॉल्सटॉय की रचना है—'दी किंग्डम ऑव्ह गॉड इज विदिन यू'। उसका मुख्य कहना यह है कि तुम्हारे भीतर जो भगवान् बैठे हुए हैं, उनके आदेश का पालन करोगे, तो राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। अपनी अन्तरात्मा के आदेश के मुताबिक जो चलेगा, उसे न राज्य से भय है, न सेना से। जितनी सेनाएँ हैं, वे किसी प्रकार का संरक्षण नहीं करतीं, अत्याचार करती हैं। सेनाओं ने मनुष्य की मनुष्यता का कोई संरक्षण नहीं किया है। इसलिए दुनियाभर में कहीं सेना नहीं होनी चाहिए। हर मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा के प्रत्यय के लिए प्राण देने को तैयार रहना चाहिए। इसलिए युद्ध और शस्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है और राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं। टॉल्सटॉय 'अराज्यवादी' कहलाता था और थोरो 'ह्यूमनिस्ट अनार्किस्ट' 'मानवतावादी अराज्यवादी'। टॉल्सटॉय जिस प्रकार का महान् कलाकार था, उसके जीवन में जिस प्रकार की विविधताएँ और विरोध रहे, वैसा थोरो का नहीं था। वह फकीरी का सीधा-सादा जीवन बिताता था। सृष्टि के सान्निध्य में रहने का उसे अनुभव था। 'वाल्डेन' नामक किताब में उसने इसका वर्णन किया है।

गांधी का सत्याग्रह

राज्यसत्ता की व्यापकता कम करने का शान्तिमय उपाय गांधी ने 'सत्याग्रह' के रूप मे बतलाया। उसने कहा कि मैं अराज्यवादी नही हूँ, व्यवस्था चाहता हूँ। लेकिन किसकी ? व्यवस्था वस्तुओ की, मनुष्य की नही। नियंत्रण वस्तुओं का, मनुष्य का नही। सोशियालिज्म का सिद्धान्त है कि मनुष्य का नियंत्रण नही होगा, वस्तुओ की व्यवस्था होगी। प्रशासन कम होता चला जायगा, व्यवस्था बढ़ती जायगी। यह कब होगा ? जब मनुष्य मे आत्मनियत्रण होगा। क्या तुम नियत्रण नही चाहते ? हम नियत्रण चाहते है, लेकिन एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का नियंत्रण करने लगे तो ? तो, हम सत्याग्रह करेगे याने अपनी जान दे देंगे, पर हुकूमत नहीं मानेंगे। कम्युनिज्म का आदर्श है कि राज्य-संस्था विलीन हो जायगी, इसके पहले मनुष्य के नियत्रण की जगह वस्तुओं का नियंत्रण हो। लेकिन यहाँ आत्मनियत्रण की बात आयी। एक-दूसरे का नियंत्रण नही, आत्मनियंत्रण हो। आत्मनियत्रण की, 'संयम' की, यह शक्ति पहले नागरिक को किसीने बतलायी नही थी। राज्यवादी और अराज्यवादी और सत्याग्रही मे मुख्य अन्तर यही पड़ता है। सत्याग्रही कहता है कि राज्य-संस्था होगी या नही, इसका विवाद करने की अपेक्षा आत्मनियंत्रण पर जोर दो। इसलिए सत्याग्रही को आप अराज्यवादी, पुराणमतवादी या उदारमतवादी नही कह सकते।

'लिबरल' (उदारमतवादी) कहता है कि राज्य की सत्ता कम-से-कम हो। नागरिको की स्वायत्त संस्था मे अधिक सत्ता हो। इंग्लैंड मे ये सस्थाएँ सार्वजनिक मनोवृत्ति के आधार पर चलती है। यहाँ सार्वजनिक वृत्ति नहीं है, तो इसका अर्थ यह नही कि विकास की संभावना नहीं है। जो व्यक्ति ब्रह्मविद्या की बात करता है, जो सत्य की बात करता है, जो दुनिया को दो दिन का बसेरा कहता है, उसके लिए यह कहना ठीक नहीं कि उसका विकास नही हुआ या उसमें सार्वजनिक मनोवृत्ति का बीजारोपण नहीं हुआ है। उसमे इसकी ग्रहण-शक्ति कम है, ऐसा भी नहीं है। एक अर्थ मे उसकी ग्रहण-शक्ति बहुत है। वह सत्य को समझता है, अहिंसा की बात सुनता है, त्याग के लिए, तप के लिए उसके मन मे आदर है, ऐसी उसकी परम्परा है। सत्य, करुणा, तपस्या का नाम सुनता है, तो उसके मन मे आदर पैदा होता है। यहाँ यह एक अनुकूलता है। यह गाधी के लिए अनुकूलता थी। लेकिन इसके साथ जो आधुनिक सार्वजनिक मनोवृत्ति है, उसकी कलम इस पर लगानी थी।

इसीलिए गांधी का जो विचार या प्रक्रिया है, वह भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग से बनी है। वह संयुक्त चीज है। पश्चिम की सारी आधुनिक सामाजिकता में समाज-सेवा है, स्वातन्त्र्य की भावना है, समानता की भावना है। वहाँ स्वतन्त्रता, समानता और नागरिकता है। पर भारत की परम्परा है—सत्य, अहिंसा और तपस्या के लिए निष्ठा। इनके संयोग से भारतीय विचार बना है। अभी तक के अराज्यवादियों के पास ऐसी कोई पद्धति और साधन नहीं था, जो सामान्य मनुष्य में शक्ति जाग्रत करे, जो शासन-मुक्ति तक पहुँचे। शस्त्र या सम्पन्नता से यह शिक्षण नहीं आयेगा। आयेगा कहाँ से ? सत्याग्रह से।

उदार-मतवादी

इसके बाद के उनके साथी हैं—उदार राज्यवादी। वे कहते हैं कि स्वायत्त संस्थाएँ बढ़ेंगी और राज्य के पास सत्ता और शक्ति कम-से-कम होगी। मोरले, टी० एच० ग्रीन, टी० एल० हॉबहाउस—ये तीन बहुत बड़े उदार-मतवादी हैं। इसके बाद का नाम है, जॉन स्ट्रेची। यह आधुनिक विचारक है। उसकी किताब है—'काण्टेम्पोरेरी केपिटलिज्म'। मोरले कहता है कि राज्य को बहुत ज्यादा शक्ति का प्रयोग न करना पड़े, इसके लिए राज्य का आधार क्या हो ? चर्चा हो यह तो हो गया, लेकिन यह कहता है कि समझना काफी नहीं, समझौता होना चाहिए। इसलिए लोक-जीवन का आधार-तत्त्व है समझौता। अब समझौते में क्या है ? समझौते में यह होता है कि आपको और मुझे कुछ छोड़ना पड़ता है। आप कुछ छोड़ते हैं, तो उसको सही मानकर छोड़ते हैं। मैं जो छोड़ता हूँ, वह यह समझकर कि अपनी सही बात छोड़ता हूँ। दोनों ने थोड़ी-थोड़ी सही चीज छोड़ी और दोनों के बीच थोड़ी-थोड़ी सही चीज रह गयी। जहाँ दोनों का एक मत हो, वहाँ छोड़ना नहीं पड़ता। जहाँ मतभेद हो, वहाँ छोड़ना पड़ता है। लोग अपने भिन्न मत को छोड़ देते हैं। फिर दोनों को जो मंजूर है, वह रह जाता है। इसे कहते हैं समझौता।

सत्याग्रह में क्या है ? सत्याग्रह में समझौता नहीं, समन्वय होता है। सत्याग्रह का परिणाम समन्वय में होता है, समझौते में नहीं। सत्याग्रही क्या करता है ? "मैं सत्याग्रह क्यों कर रहा हूँ ? सत्याग्रह में अपनी बात मनवाने का नहीं, समझाने का प्रयत्न है। समझाने की शक्ति काफी नहीं हुई, इसलिए अहिंसक शक्ति की मदद ले रहा हूँ। फिर भी आपकी बात समझने की लगातार कोशिश करता रहता हूँ। जिस क्षण मेरी गलती मालूम हो जाय, उसी क्षण कहूँगा कि मेरा सत्याग्रह गलत है।" यह सत्याग्रही की असली भूमिका है। सत्याग्रह

व्यक्ति के मत-परिवर्तन का साधन है। साथ-साथ उसमे यह विनय है कि आपकी बात समझने की मेरी प्रामाणिक चेष्टा है। ईमानदारी से कहता हूँ कि समझाते रहे, मेरी गलती होगी, तो मान लूँगा।

सत्याग्रह की अहिंसक प्रक्रिया

सत्याग्रह अगर विरोधी मतो के लिए करेगे, तो ठीक नही होगा। एक कहता है कि 'मै आपको मदिर में नहीं जाने दूँगा' और ऐसा कहकर वह दरवाजे पर लेटा रहता है। दूसरा कहता है कि 'मै मदिर मे जाऊँगा' और वह भी दरवाजे पर लेटा रहता है। तो, दोनो अनतकाल तक लेटे रहेगे। यह असल मे सत्याग्रह नहीं। यह निःशस्त्र प्रतीकार है। सत्याग्रह मे दोनो एक-दूसरे को समझायेंगे। अहिंसक प्रक्रिया मे समझाने की तत्परता से अधिक समझने की तत्परता रहती है। उसकी बात समझने की कोशिश मे हम जैसे ही यह समझ लें कि हमने अपनी जो बात कही थी, उसमे तत्त्व नही है, तो उसी वक्त उसे छोड़ देना चाहिए।

सत्याग्रह में अह-प्रतिष्ठा नही हो सकती, आत्म-मर्यादा होती है। सत्याग्रह किसीको अपमानित करना नही चाहता। उसमे विनय होती है। मेरी माँ कहती है कि अछूतो के साथ भोजन न कर। उसके खिलाफ सत्याग्रह करना हो, तो उस वक्त यह सवाल नही आयेगा। विनय और प्रेम न हो, तो सत्याग्रह नहीं हो सकता। प्रेम सपर्क से आता है। सार्वत्रिक प्रेम की भूमिका सत्याग्रह मे होनी चाहिए। सत्याग्रही मे विनय तो चाहिए ही, उसे प्रतिपक्षी की इज्जत भी बढानी है, उसे घटाना नही है।

आत्म-प्रत्यय

जॉन मोर्ले ने जो सिद्धान्त बताया, उससे राज्य-सत्ता का विलीनीकरण नही हो सकता था। लोग शासन-मुक्ति की ओर नहीं जा सकते थे। इस लिबरल राज्यवाद मे अतिम अधिष्ठान फौज ही रह जाता था। राज्यवाद को क्षीण करने का एकमात्र साधन है, लोगों का आत्म-प्रत्यय। आत्म-प्रत्यय का मतलब है, एक-दूसरे के प्रति विश्वास। इसे सामुदायिक सत्याग्रह कहते है। सेना के सिपाहियो मे सैनिक कार्य के लिए विश्वास है, लेकिन जब शराब पीते है तब, जब एक ही स्त्री की तरफ दोनो का ध्यान जाता है तब और जब दोनो मे से एक किसी मित्र का अपमान करता है, तब वे लड पड़ते हैं। सैनिको मे पारस्परिक विश्वास नहीं बैठता। सत्याग्रह में हर नागरिक एक-दूसरे का

अभिभावक है, संरक्षक है। मै तुम्हारा अभिभावक हूँ, संरक्षक हूँ; तुम मेरे अभिभावक हो, सरक्षक हो।

नागरिक जब एक-दूसरे के अभिभावक होते है, तब उनमें परस्पर विश्वास, आत्म-प्रत्यय होता है। उसका एक साधन सत्याग्रह है। सत्याग्रह के एक पहलू का नाम विधायक कार्य है, जिसमें आप सत्ता-विहीन राज्य-व्यवस्था का प्रयोग करते है। ऐसी व्यवस्था, जिसमे शासन कम हो गया होगा, व्यवस्था अधिक होगी। ये प्रयोग नागरिकों मे एक-दूसरे के प्रति विश्वास और हर नागरिक मे आत्म-विश्वास पैदा करने से हो सकते है। इस तरह के नागरिक जब सत्याग्रह करते हैं, तो उसमे से शासन-मुक्त लोकनीति का उदय होता है। यह आवश्यक नहीं कि सत्याग्रह प्रतिकारात्मक ही हो। प्रतीकार हो सकता है और नहीं भी। अगर विधायक कार्य प्रामाणिकता से पूरा होता है, तो भी काफी है। वह विधायक वृत्ति पैदा करता है। इसमे से लोकनीति का विकास होता है। इसलिए गाधी ने कहा था कि रचनात्मक कार्यक्रम अपने में काफी है। इसको पूरा करो, तो इसीका नाम स्वतन्त्रता है। यह भाषा का अलंकार नहीं है। जितने अराज्यवादी हुए हैं, उन्होंने राज्य की मर्यादा बतलायी, दोष बतलाये; लेकिन शासन-मुक्त अवस्था में पहुँचने के साधन वे ठीक नहीं बता सके। एक ने कहा समझाना, दूसरे ने कहा हिंसा और तीसरे ने कहा समझौता ! इनमे से कोई लोकनीति के विकास का साधन नहीं बतला सके और राज्य-सस्था-निवारण का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सके।

लोकनीति का विकास

गाधी ने इसके लिए सत्याग्रह का मार्ग बतलाया। सत्याग्रह का आधार समझाना नहीं, मत-परिवर्तन है। दूसरे के मत-परिवर्तन के प्रयास मे अपने मत-परिवर्तन की तत्परता होनी चाहिए। यह प्रामाणिकता है। इसमें से लोकनीति का विकास होता है। गांधी के सत्याग्रह को प्रतीकारात्मक साधन माना, इससे लोकनीति के बदले सघर्ष पैदा हुआ। इसलिए विनोबा को राज्य-निरपेक्ष लोकनीति की बात करनी पड़ती है। प्रूधों ने तंग आकर कहा था कि सवाल राजनीतिक स्वतत्रता का नहीं, राजनीति से स्वतत्र होने का है। विनोबा भी ऐसी ही बात कह रहा है, लेकिन कितने भिन्न अर्थ में ! राजनीति से स्वतंत्रता का अर्थ है, राज्य-निरपेक्ष लोकशक्ति। राज्य-निरपेक्ष लोक-शक्ति तटस्थ है। वह इसलिए कि नागरिकों में परस्पर विधायक सहायक वृत्ति का निर्माण करना है। अर्थात् तटस्थ शक्ति का निर्माण करना है। इसमें से शासन-मुक्ति आयेगी।

केवल प्रतिकार से एक राज्य-संस्था को हटाकर दूसरी कायम करने की शक्ति आती है, लेकिन राज्य-परिवर्तन की शक्ति अलग चीज है और शासन-मुक्ति अलग चीज। शासन-मुक्ति प्रतीकार से नही आती। उसके लिए लोक-नीति का विकास करना पड़ता है। लोकनीति कायम करने का उपाय है—पारस्परिकता। परस्पर सहायता होगी, लेकिन इसमे प्रतिदान की अपेक्षा नही होगी। गाधी कहेगा कि यह सब ईश्वरार्पण-बुद्धि से करो। विनोबा भी कहेगा कि ईश्वरार्पण-बुद्धि से करो। आप कहेगे कि समाज को अर्पण करो। सेवा का, सहकार्य का और सहायता का बदला नहीं होता। उपकार के बदले उपकार नहीं होता, सेवा के बदले सेवा नही होती और सहायता के बदले सहायता नही होती। उपकार, सेवा और सहायता, तीनो निरपेक्ष होते है।

राज्य-निरपेक्षता क्यो ?

प्रश्न है कि राज्य-निरपेक्ष क्यो ? इसलिए कि राज्य की तरफ से कोई अपेक्षा नहीं। तो, क्या राज्य का विरोध है ? राज्य का विरोध नहीं है। सहयोग सबका होगा, आश्रय किसीका नहीं—राज्य का भी नही, संस्था का भी नहीं। दोनों से मुक्त होना है, इसलिए नागरिकता न तो संस्थाश्रित हो और न राज्याश्रित ही। सवाल है कि ऐसी स्थिति आने तक क्या हो ? संस्था से व्यक्ति शुद्ध भूमिका से सहायता ले लेता है। वह देखता है कि सहायता के साथ सत्ता तो नही आती ? नियंत्रण तो नही आता ? यदि नियत्रण आता है, तो सहायता नही लेता। समूहवाद का सबसे बड़ा प्रतीक राज्य है। उसकी सत्ता का आकर्षण सबको है, लेकिन वह इस प्रकार का है कि राज्य की सत्ता मेरे हाथ में हो, पर वह मेरे ऊपर न चले। राज्य का नियंत्रण मेरे हाथ में हो, पर मुझ पर न हो। राज्य की बागडोर मेरे हाथ हो। मै सारथी रहूँ, घोड़ा नहीं। सत्ता का ऐसा आकर्षण दूषण है, पुरुषार्थहीन है। ऐसे लोग राज्य से रक्षण चाहते हैं, लेकिन हस्तक्षेप नहीं चाहते। इन सारी भिन्न-भिन्न भावनाओ को समझने की आवश्यकता है। प्रभुत्ववाद क्षीण हो, उसकी रक्षणाकांक्षिता क्षीण हो तब शासन-मुक्ति की अवस्था प्राप्त होगी। केवल राज्य के विरोध या प्रतीकार से यह अवस्था प्राप्त नही होगी। राज्य के प्रतीकार से राज्य-परिवर्तन हो सकता है। आज के सबके सब पक्ष केवल शासन-परिवर्तनवादी है, शासन-मुक्तिवादी नही। लोकनीतिवालो की भूमिका पक्ष-निरपेक्ष रहेगी। वे सबसे अभिमुख रहेगे, लेकिन रहेगे निरपेक्ष। सहायता सबकी स्वीकार करेगे, आश्रित किसीके नहीं रहेंगे।

राज्य ऐसा नागरिक चाहता है, जिसके पूरे जीवन पर उसका नियत्रण हो। पक्ष मानता है कि नागरिक के मत पर उसका नियत्रण रहे। पक्ष अपनी मर्जी के मुताबिक मतदाता के मत का उपयोग करता है और इस तरह नागरिक के व्यक्तित्व को क्षीण करता है। राज्य केवल भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक नियंत्रण भी चाहता है। वह रक्षण, पोषण और शिक्षण—तीनों पर अपना नियत्रण चाहता है। पक्ष कहता है कि राज्य-निर्माण की आपकी शक्ति पर उसका नियत्रण होना चाहिए। आपका व्होट आपका प्रतिनिधित्व का अधिकार है। वही राज्य-निर्माण का अधिकार है। उस पर वह इसलिए कब्जा चाहता है कि उसे अपनी मर्जी के मुताबिक मोड़े। तो, पक्ष के लिए आप कौन है? सिर्फ व्होट है। आपकी तरफ पार्लियामेंट मे कितने आदमी हैं, ऐसा पूछेंगे तो जवाब मिलेगा—आदमी न पूछो, व्होट पूछो। 'आदमी क्यो नहीं?' 'आदमी तो सौ हैं, लेकिन व्होट नहीं देते', तो क्या लाभ?

व्यक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूप

कारखाने मे व्यक्ति 'सिगल फक्शन' है, बाजार मे सौदा बन गया है। राज्य में वह इकाई बन गया है और पक्ष मे आकर व्होट। इसलिए हमारे लिए सारी सस्थाऍ विषम है। वे मनुष्य के व्यक्ति को सीमित ही नहीं करतीं, कुचल देती है, जकड़ देती है। उसका विकास नहीं होने देती। इसलिए हमे इन तीन चीजो का—मनुष्य की प्रतिष्ठा का, उसकी आत्म-मर्यादा का और उसके व्यक्तित्व का सरक्षण करना है। व्यक्तित्व मे एक अक्षर जोड़कर मैंने जो 'व्यक्तिमत्त्व' (पर्सनालिटी) कहा था, उसका भी संरक्षण करना है। आज तो सस्थावाद और राज्यवाद के कारण इनका ह्रास होता है। तीसरी चीज है मनुष्य का दायित्व। सस्था और राज्य जितनी जिम्मेवारी अधिक लेगा, व्यक्ति की जिम्मेवारी उतनी कम होगी। जितनी जिम्मेवारी कम होगी, उतना कर्म-स्वातन्त्र्य कम होगा। अपने भले-बुरे कामो के लिए जिम्मेवारी ही गुण है। हर व्यक्ति का व्यक्तित्व रहे। व्यक्ति की प्रतिष्ठा, आत्म-मर्यादा, जिम्मेवारी और उसके व्यक्तित्व का सरक्षण होना चाहिए। समूहवाद से यह सरक्षण नहीं होता, सामाजिकता से होता है। समूहवाद और सामाजिकता अलग-अलग चीजें है। समूहवाद धर्म नहीं, सामाजिकता मनुष्य का धर्म है। समूहवाद अपने मे ऐसी चीज है, जो मनुष्य का गला घोट देती है। हमें विश्वव्यापी समूहवाद की तरफ नहीं, विश्व-कुटुम्ब की तरफ जाना है। ●

५-२-'६०

निर्विकार होने की प्रक्रिया : सत्याग्रह : १७ :

सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम मे तत्त्वज्ञान का विकास किस प्रकार हुआ, इसकी चर्चा हमने दो-तीन तरह से की है। शिक्षण और समाज-परिवर्तन की तरफ देखने के कितने ढग होते है, यह हमने देखा। शिक्षण प्रचार का साधन है। विशिष्ट व्यक्ति के जो विशिष्ट विचार होते है, उसी आकार से अन्य सब व्यक्तित्व बनाने की कोशिश करता है। लेकिन हर मनुष्य अपने मे एक विशिष्ट व्यक्ति है, इसका विचार होना चाहिए। पर यह इन दोनो में नही रहता।

गुण और कुशलता का विकास

उपकरणो का स्थान क्या होगा ? अर्थ-व्यवस्था मे दो चीजे है। एक तो आवश्यकता-पूर्ति होनी चाहिए और दूसरे, मनुष्य की उत्पादन की प्रक्रिया से उसके व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए। व्यक्तित्व के दो अग है—गुण का विकास और कुशलता का विकास। ये दो चीजे टक्नालॉजी और सर्वोदय के विषय मे बतायी। इसके बाद छोटे-बड़े पैमाने का वाद-विवाद व्यर्थ है। पैमाना इतना बड़ा हो कि उसमे 'कम्युनियन' प्रत्यक्ष सबंध, 'कम्युनिकेशन' प्रत्यक्ष निवेदन और 'शेयरिंग' सह-उपभोग हो सके। ये चीजें जहॉ होती है, उसे हम 'विश्व-कुटुम्ब' कहते है। फिर एटम का उपयोग, बिजली का उपयोग कितना हो, यह गौण चीज है।

लेकिन इस तक पहुॅचने मे कौन-सी दिक्कत है ? दुर्भिक्ष। यहॉ मनुष्य वैभवलोलुप होता है और दुर्भिक्ष से जो लोग निकले है, वे विश्रामवादी बन जाते हैं। इस तरह पश्चिम में विश्रामवादी लोग बन गये और यहाँ वैभववादी। इसलिए फिर 'यान्त्रिक जीवन' का मोह हो गया।

अहिंसात्मक प्रक्रिया के प्रतिरोधात्मक और रचनात्मक दो पहलू है, दो भाग नहीं। अहिंसात्मक कार्यक्रम विधायक ही होता है। उसमे जो प्रतिरोध होता है, वह भी सहयोग से प्रेरित होता है। जो प्रतिरोध सहयोग से प्रेरित नही होता, वह बहुत जल्दी निःशस्त्र प्रतीकार में बदल जाता है। सहयोग किस चीज मे

होता है ? या तो मैं मान जाऊँ, 'कन्व्हर्ट' हो जाऊँ या फिर दूसरे को मनवा लूँ। मैं मान जाऊँ, इस पर जोर आता है। अभिक्रम हमारे हाथ मे होना चाहिए। सत्याग्रही उसे कभी नहीं छोड़ता।

अभिक्रम प्रथम प्रवृत्ति का नाम है। इसलिए स्वय मानने की तत्परता पहले उसकी होती है। दूसरे की बात मे समझ जाऊँ और प्रतीकार छोड़ सकूँ, तो मुझे आनद होता है। इसलिए इन दोनो पहलुओं में विरोध नहीं है। दोनो एक-दूसरे के पूरक है। अगर कार्य पूरा हो जाता है, तो प्रतीकार की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। लेकिन कभी-कभी प्रतीकार के अवसर आ जाते हैं। उसमें यह वृत्ति रहेगी कि यह प्रतीकार जितनी जल्दी खत्म हो, उतना अच्छा होगा। लेकिन सत्याग्रह 'समझौता' नहीं, मत-परिवर्तन करता है।

'समझौते' मे दोनों अपनी-अपनी अच्छाइयाँ भी छोड़ सकते हैं। मत-परिवर्तन में ऐसा नहीं होता। दोनों का एक ही संयुक्त मार्ग हो जाता है। इसमें जय किसीकी नहीं और पराजय भी किसीकी नहीं। अहिंसा मे जय-पराजय नहीं होती। उसमें विषाद किसीको नहीं, हर्ष किसीको नहीं। एक जय से उन्मत्त है और दूसरा पराजय से खिन्न—ऐसा नहीं होता।

प्रभाव और दबाव

देखना चाहिए कि जिसके खिलाफ सत्याग्रह होता है, उस पर उसका क्या असर होता है ? उसके व्यक्तित्व का विकास होता है या वह दब जाता है ? अगर उसका व्यक्तित्व दब जाता है, तो इसमें दबाव है। अगर नहीं दबता, तो उसमें प्रभाव है, दबाव नहीं। हम उसे दबाते नहीं, प्रभावित करते हैं। सत्याग्रह में भी थोड़ा दबाव है, लेकिन उद्बोधन अधिक है। उसकी आत्मा को हम जाग्रत करते हैं, उसे किसी प्रकार परास्त नहीं करते।

जहाँ दूसरे की आत्मा परास्त होती है, वहाँ दबाव होता है। दबाव ही हो, तो नैतिक दबाव हो सकता है। नैतिकता का प्रभाव पड़ना चाहिए। जैसे सूर्य के प्रकाश का, चन्द्र के प्रकाश का, फूल की सुगंध का, जल की शीतलता का प्रभाव होता है, वैसे ही सहज जो नैतिक प्रभाव होता है, वह अहिंसक प्रभाव है। मेरे प्रेमपूर्ण कष्ट-सहन का प्रभाव जरूर होगा, लेकिन उसमें दबाव की भावना नहीं है। इतना दोनों मे अन्तर है।

सत्याग्रही की बुद्धि तटस्थ होनी चाहिए। वह अपने विषय में यह निर्णय कर सके कि इस वक्त मैं जो कर रहा हूँ, उसमें स्वार्थ नहीं है और विकार भी नहीं है। इससे सत्याग्रह का स्वरूप निर्धारित होता है। ऐसे सत्याग्रह में

समझाने का प्रयत्न अवश्य होगा, लेकिन तत्परता समझने की अधिक होगी। जहाँ मनुष्य का हृदय-परिवर्तन करना है, वहाँ दबाव नहीं होना चाहिए, समझाने की लगातार कोशिश होनी चाहिए। लेकिन उसके साथ-साथ समझने की कोशिश अधिक होगी, स्वयं 'कन्व्हर्ट' होने की कोशिश अधिक होगी। वह अगर समझता नहीं है, तो वह क्यो नहीं समझता, यह समझने की हम कोशिश करेगे।

अगर आपने किसीको मालकियत-विसर्जन की बात समझायी और वह उसे नहीं करता, तो इसका मतलब यह है कि उसकी इच्छा-शक्ति कम है। इच्छा-शक्ति से परिस्थिति अधिक प्रबल हो जायगी, तो परिस्थिति उसको बदलेगी। मनुष्य परिस्थिति का दास हो जायगा। परिस्थिति स्वयं मनुष्य ने बना दी है, जिसे वह काबू मे नहीं रख सकता। भूत जगा दिये और उन्हे काबू मे रखने का मन्त्र नही आता, तो जगे हुए भूत इधर-उधर दौड़ेंगे। इस तरह मनुष्य ने अबुद्धिपूर्वक रचना की है। दुनिया को उसने अपनी नाप से बड़ी बना दिया, लेकिन अपने को वह उसके नाप का नही बना सका।

पाँच साल का लड़का मोटर मे बैठ गया। गियर में मोटर रखना और उसे चालू करना सीख गया। लेकिन बन्द करना नहीं जानता, स्टीयर करना नही जानता, तो जाकर गिरेगा।

मनुष्य दुःख सहना नही चाहता, यह ठीक है। लेकिन अगर सुखी मनुष्य के आसपास दुःखी लोग रहेंगे, तो फिर उनके सुख का संरक्षण कौन करेगा? अधिक दुःखी लोगों के बीच थोड़े सुखी लोगो के सुख की हिफाजत कौन करेगा? इसे राज्य को करना होगा।

मार्क्स ने कहा था कि जो वर्ग प्रतिष्ठित है, उसकी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए राज्य की आवश्यकता है। राज्य यह कब तक कर सकेगा? तब तक, जब तक मतदाता अपने स्वार्थ के खिलाफ मत देता चला जायगा—फिर वह मोह के कारण दे या अज्ञान के कारण। जिस दिन मतदाता जाग्रत हो जायगा, उस दिन वह व्होटों से सरकार को बदल देगा। यदि वह अपने स्वार्थ के खिलाफ व्होटिंग करता रहेगा, तब विप्लव होगा। जाग्रत जन-मत सरकार को विधिपूर्वक बदल देगा।

समझना ही मुख्य साधन

समझाने के लिए आप अपना त्याग और बलिदान जोड़ते है और दूसरी तरफ रचनात्मक कार्य। यह केवल बौद्धिक प्रयत्न नही है। इसमें मनोबल और

आत्मबल के प्रयोग है। दो प्रकार के प्रयोग हैं—एक विधायक और दूसरा प्रतीकारात्मक। इन प्रयोगो के लिए आपको सयम और त्याग की आवश्यकता होती है। संयम और त्याग भी धार्मिक गुणो के अर्थ मे नहीं, आत्मा के गुणों के अर्थ मे।

आप मालकियत छोडने के लिए कह रहे है। आपकी मालकियत नहीं होगी, आपके हाथ में सग्रह नहीं होगा। अगर आप स्वयं संग्रहशील हैं, तो आपके चरित्र मे शक्ति नहीं है, प्रभाव नहीं है। ये निरपेक्ष चारित्र्य के गुण नहीं। ये सामाजिक गुण हो गये। ये सारे-के-सारे गुण समाज-परिवर्तन के लिए आवश्यक है। क्रान्ति में इसके साथ एक नया परिमाण दाखिल होता है। यह केवल समझाना नहीं है, लेकिन उस समझाने में श्रद्धा, त्याग, सयम अधिक है। त्याग और सयम मनुष्य को अभिमुख कर सकते हैं। लेकिन जो अभिमुख ही नहीं है या अभिमुख होने पर भी जिसकी बुद्धि में शक्ति नहीं है, उसको समझाने मे और वक्त लगेगे। इसलिए समझाना ही मुख्य साधन है।

एक तो विधायक पहलू है जिसमे आप समाज का एक ऐसा नमूना सामने रखते है, जिसे देखकर मनुष्य समझता है कि एक-दूसरे के साथ इस तरह के सम्बन्ध रहेंगे। दूसरा प्रतीकारात्मक पहलू आपके बलिदान का है। अगर मैं ऐसे किसी काम में लगा हूँ, जो समाज-क्रान्ति के लिए प्रतिकूल है, तो उसमे आप मेरे साथ असहयोग करते है। अगर असहयोग काफी नहीं है, तो आप अन्य उपायो से काम लेते है। कहीं पिकेटिंग, कहीं हडताल, तो कहीं सविनय अवज्ञा कर देते है। जो साधन उपलब्ध है, उनसे काम लेते हैं और लेना चाहिए। लेकिन काम लेनेवाला विजयाकांक्षी न हो, दूसरे को हराने की, नीचा दिखाने की उसकी आकाक्षा न हो। अकेला जब वह यह करता है, तो उसके लिए उसका आत्म-प्रत्यय काफी है।

सत्याग्रह के दूध में कितना पानी हो?

हम जानते है कि शुद्ध सत्याग्रह नहीं हो सकता, थोडी-बहुत मिलावट आ ही जायगी। सावित दूध बच्चे को नहीं पिलाया जा सकता। अतः दूध मे कितना पानी मिलाया जाय, इसका निर्णय माँ पर छोड़ना चाहिए। माँ मे दोनों गुण हैं। बच्चे के लिए उसके हृदय मे नितान्त स्नेह है। उसको खिलाने की इच्छा है और साथ-साथ उसके स्वास्थ्य की चिन्ता भी।

प्रश्न है कि सत्याग्रह के दूध में कितना पानी मिलाया जाय, यह कौन तय करे? अगर सत्याग्रह व्यक्तिगत है तो सत्याग्रही स्वयम् करेगा; क्योंकि भुगतेगा

भी वही। यह उसकी शक्ति पर निर्भर है। लेकिन दूसरो के मन मे डर कब पैदा होता है? जब सत्याग्रह सामुदायिक हो। जिस सत्याग्रह से आशा के बदले आशंका पैदा होती है, भरोसे के बदले डर पैदा होता है, उसमे दोनो पक्षो का कसूर हो सकता है। एक तो आप अपनी सख्या के प्रभाव से डर पैदा करना चाहते हैं, अपनी सत्याग्रह की उग्रता से आप डराना चाहते हैं, या फिर दूसरे पक्ष के मन मे लोभ है, इसलिए डर पैदा होता है।

इनमे से कौन-सा कारण वास्तविक है, यह कौन तय करेगा? यह वही तय कर सकेगा, जिसके मन मे भय और लोभ नही है, जिसका अपना मन बहुत तटस्थ होगा। इसलिए गाधी कहता था कि सत्याग्रह करना हो, तो मुझसे पूछो। आज जो मैं उपवास करता हूँ, उसे आज सही समझता हूँ; लेकिन हो सकता है, कल गलत समझूँ।

गलती की स्वीकृति

अबालाल साराभाई गाधीजी के दोस्त थे। उनकी बहन अनसूयाबहन मजदूरो के सत्याग्रह मे थी। अबालाल साराभाई मिल के मालिक थे। झगडा इन दोनों के बीच था। गाधी ने उपवास शुरू कर दिया। अबालाल साराभाई जो उस वक्त तनकर बैठे थे, पिघल गये। गाधी ने उपवास छोड़ा और कहा कि 'मुझे मालूम है, तू मुझसे प्रेम करता है, इसलिए पिघल रहा है, मेरी बात समझा, इसलिए नहीं।' फिर 'यग इडिया' मे उन्होंने लिख दिया कि 'मेरा यह उपवास गलत था।'

राजकोट का दीवान ठीक आदमी नहीं था। गाधी ने उपवास शुरू किया। व्हाइसरॉय ने दीवान को लिखा कि 'देखो, गाधी का उपवास शुरू हुआ, इससे सँभलो।' गाधी ने उपवास बन्द किया और 'यंग इंडिया' मे छाप दिया कि 'मेरा यह उपवास गलत था।' तो, जो आदमी अपनी गलतियो को महसूस करता है और अपने अखबार में छापता है, वह दूसरो को सलाह भी दे सकता है। इसीलिए गाधी कहता था कि अगर किसीको सत्याग्रह करना हो, तो मुझसे पूछे।

ये कुछ उदाहरण हैं। हम कहते हैं कि जिस तरह पूजा, उपासना और जप है, उसी तरह मनुष्य के लिए निर्विकार और नि स्वार्थ होने का एक साधन सत्याग्रह है। लेकिन वह कब? वह तब, जब सत्याग्रही अहिंसा की दृष्टि से हर सत्याग्रह में अपनी गलती खोजता रहता है। इसका पैमाना सफलता-असफलता का नही होता। अगर सत्याग्रह शुद्ध हो, तो वह साधन है और अगर शुद्ध न हो, तो वह शस्त्र है। अब वह साधन है या शस्त्र, यह हर सत्याग्रही को अपने लिए तय करना होता है।

अहिंसक संगठन के तीन भाग

सर्वोदय समाज-रचना के लिए अहिंसक संगठन की आवश्यकता है और उसके स्वरूप के तीन हिस्से हैं : १. इंस्टीट्यूशन (संस्था), २. आर्गनाइजेशन (संगठन) और ३. डिसिप्लिन (अनुशासन)। शासन और व्यवस्था का हिस्सा धीरे-धीरे कम होता चला जाना चाहिए। व्यवस्थापकों की संख्या कम होनी चाहिए और अन्त में व्यवस्थापक कोई नहीं रहना चाहिए। अनुशासन नियन्त्रण से नहीं, स्वेच्छा से होना चाहिए।

संस्था और संगठन का अहिंसक स्वरूप क्या होगा? शासन मनुष्यों का नहीं, वस्तुओं का होगा। नियंत्रण बाहरी नहीं, भीतरी होगा। नियंत्रण की जगह संयम रहेगा। अनुशासन स्वेच्छया रहेगा। अनुशासन की जगह संयम रहेगा। वस्तुओं का नियोजन होगा, लेकिन उसमें व्यवस्थापक की सत्ता नहीं रहेगी।

बहुत बड़े-बड़े शहर बनते हैं, तो मनुष्य उनमें खो जाता है। जितना आकार विशाल होगा, उतना ही मनुष्यों का एक-दूसरे के साथ संपर्क कम होगा। मनुष्य गुमनाम होता चला जाता है। ग्राम और शहर का झगड़ा व्यर्थ है। उपनगर और उपनगरवाद मनुष्य को न तो घर का रखता है, न घाट का। शहरों में से उद्योगों को दूसरी जगह ले जाना होगा। एक उद्योग एक जगह हो, यह हम नहीं चाहते। उसे व्यापक कर देना चाहिए। उद्योगों को हम इस तरह संगठित कर सकते हैं कि दो-तीन उद्योग विकेन्द्रित होकर एक जगह रहें। विश्वविद्यालय, शिक्षण-संस्थाएँ इधर-उधर फैल सकती हैं। समाजवाद में ब्याज, किराया, टाँका, दलाली नहीं रहनी चाहिए। ये नहीं रहेंगे, तो शहर इतना बड़ा नहीं रहेगा। इसलिए यह सोचना गलत है कि जो बड़े शहर बने हैं, उनका क्या करें। शहरों को क्रान्ति के बिना बदलना मुश्किल है। भगवान् भी उनको नहीं बदल सकता। अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन होगा तो शहर भी इतने विशालकाय नहीं रहेंगे। ●

६-२-’६०
प्रात:

ट्रस्टीशिप या थातीदारी : १८ :

ट्रस्टीशिप का अर्थ है, थातीदारी। थाती शब्द का मतलब है 'धरोहर'। संस्कृत मे इसके लिए शब्द है 'न्यास'।

शाकुंतल मे कण्व का वाक्य है : **प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा**। शकुंतला को अपने पति के घर भेजकर कण्व कहता है कि अब मैं स्वस्थ, शान्त हो गया हूँ। मेरे मन में बहुत समाधान है, क्योकि जैसे किसीकी धरोहर मेरे पास रही हो, उसे मैं लौटा रहा हूँ। **अर्थो हि कन्या परकीय एव**। 'कन्या पराया धन है।' दूसरे का धन मेरे पास रखा था, उसका मैंने प्रत्यर्पण कर दिया, उसे लौटा दिया।

समाज को प्रत्यर्पण

विनोबा का 'दान' भी एक अर्थ मे प्रत्यर्पण है। जिन लोगो ने सम्पत्ति और स्वामित्व अपने पास रख लिया, उनका यह काम है कि वे उसे लौटाये। यह दान मौलिक दान नहीं, प्रत्यर्पण है। जो चीज हमने ले ली थी, जिस चीज का हमने अपहरण किया था, उस वस्तु का अब हम प्रत्यर्पण करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आज दुनिया मे व्यक्तियों और सस्थाओ के पास जितनी सम्पत्ति और स्वामित्व है, वह सब 'न्यास' है। वह उनके पास सँभालने के लिए रखा हुआ है, धरोहर है। न्यास प्रत्यर्पण के लिए होता है, उपभोग के लिए नही। यह ट्रस्टीशिप की केन्द्रीय कल्पना है।

दूसरा उदाहरण 'रामचरितमानस' मे कैकेयी का है। कैकेयी राजा दशरथ से कहती है : 'मेरे दो वरदान आपके पास थाती हैं। अब तक मैंने माँगे नहीं, भँजाये नही है। मेरे वरदान आपके पास धरोहर है।' इस प्रकार मेरे पास जो वस्तु है, उसे मैं समाज या ईश्वर की धरोहर मानता हूँ। वह अन्त मे धरोहर ही है। ट्रस्टीशिप की मूलभूत भावना यही है।

स्वामित्व और सम्पत्ति में प्रतिष्ठा

असल मे समाज-परिवर्तन के जितने विचार हुए और जितनी आर्थिक योजनाएँ बनीं, उनमें मुख्य विचार यह था कि स्वामित्व के प्रति मनुष्य का

क्या रुख हो और संपत्ति के विषय में दो मनुष्यों के परस्पर संबंध क्या हों। सम्पत्ति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध क्रान्ति-विचार का एक मुख्य आधार रहा। उसकी बहुत-सी अन्य बुनियादों में यह एक मुख्य बुनियाद रही कि मनुष्य का मालकियत और मिल्कियत की तरफ से क्या रुख हो। पुराने जमाने में माना जाता था कि स्वामित्व और सम्पत्ति प्रतिष्ठा के आधार हैं। मेरा स्वामित्व और मेरी सम्पत्ति—दोनों ही मेरी प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं। कारण यह था कि सम्पत्ति और स्वामित्व का उपार्जन पराक्रम का द्योतक था। मालकियत और स्वामित्व-उपार्जन दो प्रकार से होता था—एक पराक्रम से और दूसरे मित-व्ययिता, संयम से।

भर्तृहरि का वाक्य है : उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपैति लक्ष्मी:। जो उद्योगी पुरुषसिंह है, उनके पास लक्ष्मी जाती है। दैवेन देयम् इति कापुरुषाः वदन्ति। जो कायर हैं, निकम्मे हैं, आलसी हैं, वे कहते हैं कि दैव देगा, तो लक्ष्मी मिलेगी। क़िस्मत, मुकद्दर चमकेगा—ऐसा जो कहते हैं, वे कापुरुष हैं, पुरुषार्थ-हीन पुरुष हैं।

आप कहते हैं कि हाथ कुछ तंग है। तंग का मतलब पैसा कम है, ऐसा नहीं, मुट्ठी कुछ चुस्त है। यह सद्गुण नहीं है। क्योंकि सूम है, कंजूस है। जो आदमी बचा-बचाकर खर्च करता है, उसके बारे में हम कहते हैं कि वह खुले दिल का आदमी नहीं है। उसकी मुट्ठी खुली हुई नहीं होती; वह अपनी थैली की रस्सियाँ बहुत कसकर रखता है। लेकिन मितव्ययिता अलग चीज है। पुराने जमाने में वह चारित्र्य का लक्षण समझा जाता था। व्यवस्थित खर्च, अभिक्रम, उद्योगशीलता और पुरुषार्थ से मनुष्य को संपत्ति और स्वामित्व मिलता था। इसलिए उपार्जन में उसका पुरुषार्थ और संयम प्रकट होता था। लोग कहते थे कि 'प्रापर्टी इज प्रोप्राइटी', 'सम्पत्ति ही शिष्टता है'। पुराने अर्थशास्त्र में स्वामित्व और सम्पत्ति दोनों की प्रतिष्ठा है। यह मनुष्य का ऐसा अधिकार था जिसे कोई छीन नहीं सकता था। तीन अधिकार मुख्य समझे जाते थे : १. जीवन २. सम्पत्ति और ३. सुख का शोध। मनुष्य का मालकियत रखने का और सुख की योजनाएँ बनाने का अधिकार माना जाता था।

समाजवाद का अर्थशास्त्र

इसके बाद समाजवाद का अर्थशास्त्र आया। क्यों आया, कैसे आया, यह तो सब लोग जानते ही हैं। स्वामित्व और सम्पत्ति के अर्थशास्त्र में जब यन्त्रीकरण का युग आया, तब सम्पत्ति के पैमाने का कोई ठिकाना नहीं रह

गया। सम्पत्ति के उपार्जन की एक ऐसी विधि मालिकों के हाथ में आ गयी, जिससे मालकियत केन्द्रित होती गयी और श्रम का समाजीकरण होता गया। इसमें से फिर अन्तर्विरोध पैदा होता गया। वह धीरे-धीरे बढ़ता गया।

जब यह विरोध भीतर-ही-भीतर लगातार बढ़ता चला जाता है, तो परिणाम-स्वरूप समाज का छिलका यानी पके हुए फल का ऊपरी सख्त कवच अपने-आप फूट जाता है। इसे वे 'क्रान्ति' कहते हैं। मार्क्स अपनी 'केपिटल' में बड़े रोमांचकारी शब्दों में पूँजीपतियों को चेतावनी देता है। पूँजीवादी पद्धति का परिणाम यह होता है कि वह कवच फट जाता है और उसमें से क्रान्ति होती है। 'दी एक्स्प्रोप्राइटर्स आर एक्स्प्रोप्रिएटेड।' जिसने आज तक अपहरण किया था, जिसने परिहरण किया था, उनका अब अपहरण होता है। वे कहते हैं कि हम सारे अपहरणकर्ताओं का परिहरण करेंगे।

तो, ट्रस्टीशिप में हमने यह माना कि जितनी भी सम्पत्ति और स्वामित्व है, वह न्यास है और यह न्यास प्रत्यर्पण के लिए है। प्रत्यर्पण न करेंगे, तो जो अपहर्ता हैं, उनका परिहरण होगा। समाजवाद ने क्रान्ति की इस प्रक्रिया को, क्रान्ति के इस तर्क को पूँजीवादियों के सामने रखा।

सम्पत्ति और शोषण

समाजवादियों में पहले सुधारवादी, आर्थिक सुधारवादी आये। एक पुराने समाजवादी ने कहा था कि 'मोस्ट प्रापर्टी इज इम्प्रापर्टी'! अधिकांश स्वामित्व और सम्पत्ति 'इम्प्रापर्टी' है, अशोभनीय है। समाजवादियों ने कहा कि 'प्रापर्टी इज थेफ्ट'। सम्पत्ति चोरी है। इससे आगे जो और बढ़े, वे तीव्र समाजवादी या आत्यंतिक मतवादी थे। उन लोगों ने कहा कि 'प्रापर्टी इज मर्डर' (सम्पत्ति हत्या है), क्योंकि इसमें शोषण है। एक ने मालकियत, स्वामित्व को अशोभनीय कहा, तो दूसरे ने चोरी कहा और तीसरे ने हत्या।

परिग्रह में चोरी

हमारे एकादश व्रतों में अस्तेय और अपरिग्रह साथ-साथ आते हैं। जब हम स्तेय और परिग्रह को एक साथ रखते हैं, तो उसका मतलब यह होता है कि परिग्रह स्तेय है—'प्रापर्टी इज थेफ्ट।' जितना परिग्रह है, वह अपने में चोरी है। परिग्रह के दो ही कारण हैं: एक लोभ और दूसरा अरक्षितता। कारण, समाज में आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन नहीं है।

ऐसा नहीं मानना चाहिए कि केवल लोभ ही परिग्रह का कारण है। ऐसा मानेंगे, तो हम आइडियालिस्ट (प्रातिभासिक) बन जायँगे। प्रातिभासिक सत्तावाद का मतलब यह है कि सारी-की-सारी दुनिया स्वप्नवत् है। जाग्रति में दिखाई देती है, लेकिन स्वप्नवत् है, वह प्रातिभासिक है। अगर हम मानेंगे कि मनुष्य के केवल लोभ नाम के एक विकार से सारी-की-सारी पूँजीवादी रचना बन पड़ी और पनपी तो वह गलत होगा, अवैज्ञानिक होगा।

सारी दुनिया कुछ मनुष्यों के लालच का परिणाम है, ऐसा नहीं मान सकते। सम्पत्ति केवल मनुष्य के पुरुषार्थ का या केवल उसकी मितव्ययिता का परिणाम है, यह भी हम नहीं मानते। यह है कि पूँजीवादी समाज में मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन नहीं है। इसलिए संग्रह आया। संग्रह और परिग्रह चोरी इसलिए है कि दूसरी तरफ अभाव है, आवश्यकता है। एक तरफ कहीं-कहीं विपुलता है, तो दूसरी तरफ आवश्यकता और दुर्भिक्ष दोनों हैं। इसलिए यह सही है कि जितनी सम्पत्ति और स्वामित्व है, वह चोरी है।

सम्पत्ति चोरी इस अर्थ में है कि लोगों को आवश्यकता है और उन्हें मिलता नहीं है, फिर भी हम अपने पास संग्रह रखते हैं। यहाँ दोनों में वस्तुस्थिति के कारण जो भेद या विषमता पैदा हुई है, उस आधार पर हम कहते हैं कि यह चोरी है। आपके मन में लालच हो या न हो, शोषण हो या न हो, लेकिन परिणामतः यह स्तेय है, यह चोरी है। वस्तुतः परिग्रह चोरी है।

दक्षिण अफ्रीका में, पूर्व अफ्रीका में पहले-पहल गोरा आदमी गया, तो क्या लेकर गया? वह तराजू और बाइबिल लेकर गया था। पर अब दक्षिण अफ्रीका निवासी क्या कहता है? 'पहले जब गोरा आदमी आया, तो उसके पास बाइबिल थी, हमारे पास जमीन। पर अब उसके पास जमीन है, हमारे पास बाइबिल।' जो लोग बाइबिल लेकर गये थे, वे जमीन छीनने के लिए नहीं गये थे, लेकिन जो लोग तराजू लेकर गये थे, उन्होंने एक पलड़े में बाइबिल को रख दिया।

ऐसा नहीं है कि जिसके पास परिग्रह होता है, वह हमेशा ही दुष्ट होता है। अहिंसक प्रक्रिया में इस बात को समझ लेना बहुत आवश्यक है। बहुत-सी बूढ़ी स्त्रियाँ अस्पृश्यता की पक्षपाती हैं, वे अपने-आपमें व्यक्ति के नाते दुष्ट नहीं होतीं। वे बहुत दयावान् हो सकती हैं।

तो, परम्परा में यह जो मालकियत और स्वामित्व आये, इनका निवारण किस प्रकार हो, यह मुख्य सवाल है। इस पर जब आप सोचें, तो

ये दो चीजें ध्यान मे रखे कि एक तरफ तो थातीदारी है और दूसरी तरफ अपरिग्रह का सिद्धान्त। जब लोग यह कहते है कि स्वामित्व और सपत्ति की संस्था को हम चिरस्थायी बनाना चाहते है या इसे हम पूरी तरह स्थायी बनाना चाहते है, तब उनको इन दो चीजो को मिलाकर विचार करना चाहिए। मुख्य सिद्धान्त अपरिग्रह का है। अस्तेय और अपरिग्रह आर्थिक रचना के मूल सिद्धान्त है। समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त है—आवश्यकता के अनुसार लेना और सामर्थ्य के अनुसार देना। यहाँ मुख्य सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत आचरण का नही, सामाजिक आर्थिक सयोजन का भी है। संयोजन का आधार क्या होगा ? अस्तेय होगा। संयोजन का स्वरूप क्या होगा ? अपरिग्रह होगा।

इन सिद्धान्तो के साथ हमे ट्रस्टीशिप को जोडना चाहिए। राजाजी, मसानी, रंगा और दूसरे लोग कहते है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व की सस्था को बनाये रखना आवश्यक है। क्यो ? समाज के विरोध मे आपके पास कोई आश्वासन नही है। समाज के खिलाफ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आश्वासन का अगर कोई सबसे बड़ा आधार हो सकता है, तो वह व्यक्तिगत स्वामित्व और व्यक्तिगत संपत्ति ही।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्वामित्व

सवाल है कि व्यक्तिगत सपत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व की मर्यादा क्या हो ? ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त तब अमल मे आयेगा, जब मनुष्य सग्रह करेगा और यह समझेगा कि यह सग्रह मेरे अपने उपभोग के लिए नही है, समाज के लिए इसका विनियोग करना है। समाज के लिए विनियोग करना है, तो सग्रह क्यो करता है ? मनुष्य कहता है—संग्रह इस भय से करता हूँ कि समाज के और मेरे मन्तव्य मे जिस दिन आत्यंतिक विरोध होगा, उस दिन समाज के खिलाफ मेरे पास कौन-सा सरक्षण रहेगा ? यह सरक्षण मालकियत और मिल्कियत का है। सरक्षण के लिए मेरे पास मालकियत और मिल्कियत का कवच है। यह अगर नही होगा, तो मनुष्य का सारा-का-सारा व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता समूहवाद मे खो जायगी। इस बात को अगर ठीक समझना हो, तो इसे अस्तेय और अपरिग्रह के साथ मिलाना होगा। अगर नही मिलायेगे, तो इसके विकास को नहीं समझ सकेंगे।

समाजवादी विचार विकसित होता गया है, पर उसमे एक दरार रह गयी। वह यह कि उसमे किसान का विचार नहीं आया। समाजवाद ने इसका विचार

नहीं किया। इसका विचार 'फिजियोक्रेट्स' ने किया। वे समाजवाद से कुछ अलग समझे जाते थे, लेकिन मैं इन लोगों को समाजवादी मानता हूँ। इनमें से दो नाम महत्त्व के हैं : एक सिसमंडी और दूसरा है हेनरी जार्ज। हेनरी जार्ज की 'प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी' किताब पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है कि कोई भूदानी ही लिख रहा है।

अस्तेय, अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप को जब हम साथ-साथ लेते हैं, तब हमें यह समझ लेना चाहिए कि आधारभूत सिद्धान्त अस्तेय और अपरिग्रह है। ट्रस्टीशिप व्यक्तिगत है। व्यक्तिगत इस तरह है कि संयोजन और समाज-परिवर्तन दोनों का आधार है—ट्रस्टीशिप।

सत्ता और सम्पत्ति दोनों श्रमिक-वर्ग के हाथ में हों। इसे 'डिक्टेटरशिप ऑफ दी प्रोलितारियत' कहते हैं। इसका मतलब यह है कि सत्ता भी श्रमिक-वर्ग के हाथ होगी और सम्पत्ति भी। क्यों ? तो इसका जवाब यह है कि अब तक वह पूँजीपति के हाथ में थी। जिस वर्ग को हमें मिटाना है, उस वर्ग के हाथ में अब वह नहीं रहेगी। जिस वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ानी है, उस वर्ग के हाथ में वह रहेगी। और जब वर्ग ही नहीं रहेंगे, तो राज्य की आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

संक्रमण-काल की स्थिति

सवाल है कि समाज-परिवर्तन के संक्रमण-काल में क्या होगा ?

आक्षेप यह है कि संक्रमण की अवस्था में जिनके हाथ में सत्ता और सम्पत्ति दोनों केन्द्रित हो जायेंगी, वे क्या फरिश्ते होंगे जो अपनी मर्जी से उन्हें छोड़ देंगे ? वर्ग-निराकरण के लिए जितने दिन लगेंगे, उतने दिन में एक नया वर्ग पैदा हो जायगा, जिसको सत्ता और संपत्ति दोनों के स्वामित्व का अभ्यास हो जायगा। इस अभ्यास के कारण 'ये मेरे अधिकार हैं' यह संस्कार उसके मन में पैदा होगा और इसमें से एक नया वर्ग पैदा होगा। पहले का वर्ग सम्पत्ति-धारियों का, मालिकों का, अमीरों का वर्ग था। सारी सत्ता उसके हाथ में होती थी। धीरे-धीरे लोकशाही आयी और राज्य-सत्ता उसके हाथ से क्षीण होने लगी। राज्य-सत्ता को वह खरीद सकता था, लेकिन सारी-की-सारी राज्य-सत्ता का हकदार नहीं रह गया।

बाद में क्या होगा ? विधान से, कानून से और क्रान्ति-सिद्ध अधिकारों से मुट्ठीभर आदमी, जो अपने को श्रमिकों के प्रतिनिधि कहलायेंगे, सत्ता और

संपत्ति दोनो के अधिकारी बन जायँगे। एक अनर्थ को मिटाने के लिए वे एक दूसरा भयानक अनर्थ दुनिया में स्थापित करेंगे। यह आक्षेप है।

सम्पत्ति मेरी नहीं, समाज की

इस आक्षेप से बचने का रास्ता ट्रस्टीशिप है। ट्रस्टीशिप मे यह योजना है कि जो सम्पत्ति मेरे पास है, उसे मैं अपनी नही मानूँगा। यहाँ स्वेच्छा के लिए परिस्थिति मे भी प्रेरणा है। परिस्थिति का दबाव है। केवल नैतिक या हृदय की उदारता की प्रेरणा नहीं, बल्कि एक भौतिक प्रेरणा भी है। यह भौतिक प्रेरणा कौन-सी है ? पूँजीवाद के अन्तर्गत विरोध प्रकट हो रहा है। पूँजीवादियों ने विरोध पैदा कर दिया। राज्य साधारण मनुष्य के हाथ मे दे दिया। सत्ता सार्वत्रिक है और सम्पत्ति सार्वत्रिक नहीं है, यह विरोध ज्यादा दिन नही चल सकता। उसमे स्वेच्छा तो अवश्य है। लेकिन स्वेच्छा के लिए परिस्थिति मे प्रेरणा भी है। तो, जितनी सम्पत्ति आज मेरे पास है, उतनी सम्पत्ति मै अपनी नहीं, समाज की मानूँगा।

अब इसमे कौन-सी मर्यादा आती है ? ट्रस्टीशिप की क्या पहचान है ? हर अमीर कहेगा कि मैं ट्रस्टी हूँ, मै अपनी सम्पत्ति समाज के लिए मानता हूँ। आज किसीके पास दो लाख रुपये हैं। दो साल बाद आप उससे पूछने गये : 'कितनी सम्पत्ति है ?' तो कहता है · 'दस लाख !' यह ट्रस्टीशिप नहीं है।

जो सम्पत्ति मेरे पास परिस्थिति या जन्म से आयी है, उसका अगर मै अपने-आपको ट्रस्टी मानता हूँ, तो उसको बढ़ाने की कोशिश नहीं करूँगा। क्योकि उसे तो मुझे कभी-न-कभी समाज को सौंपना ही है। समाज के लिए ही मैं रख रहा हूँ। लेकिन जिस समाज मे वह रहता है, वह समाज अगर कहेगा कि इतनी-इतनी सम्पत्ति आप हमे बढाकर दे दीजिये, तो वह बढ़ाकर दे सकता है। किन्तु समाज विवेकी होगा, तो ऐसा नहीं कहेगा। क्यो ? उसके लिए संपत्ति पर व्याज लेना पड़ेगा। नतीजा यह होगा कि मूलधन ज्यो-का-त्यो बना रहेगा और समाज यह चाहेगा कि व्याज पर ही हमारा काम चले। अगर समाज समाजवाद की तरफ जा रहा हो, तो वह यह चाह नहीं सकता। हाँ, पूँजीवादी समाज हो, तो कोई बात ही नही। उसमे भी कर लगाना होता है। तो, समाज बहुत जल्दी यह कह देगा कि इस तरह तुम सम्पत्ति बढा रहे हो, यह ठीक नहीं करते।

सम्पत्ति बढ़ाना बन्द करें

जितनी सम्पत्ति है, उसे मनुष्य बढ़ा सकता है या नहीं, इसमें मुख्य विचार यह करना होगा कि सम्पत्ति बढ़ाने का साधन क्या होगा—मुनाफा, किराया या टीका ? इसका आरम्भ करना होगा अपनी संस्थाओं में। उसके बाद ट्रस्टी से कह सकेंगे। आज तो हमने उल्टे पैमाने लगाये हैं। गांधी-स्मारक निधि के लिए यह लागू नहीं है, कस्तूरबा ट्रस्ट के लिए यह लागू नहीं है, पी० एस० पी० के फण्ड के लिए यह लागू नहीं है, सर्व सेवा संघ के लिए यह लागू नहीं है, ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। पहले आप संस्थाओं से कहेंगे कि सम्पत्ति को बढ़ाने की कोशिश न करें।

दूसरा सवाल यह आता है कि कोई अपने-आपको ट्रस्टी कहता है और अपनी सम्पत्ति भी बढ़ाता जाता है, तो क्या किया जाय ? अगर वह ट्रस्टी है, तो अपनी सम्पत्ति की घोषणा करेगा। उसमें जितनी अभिवृद्धि होगी, वह समाज को दे देगा। तो, इसमें से लाभ की जो प्रेरणा है, वह कम हो जाती है। इसके बाद भी व्यवहार में जो दुष्टता रहेगी, उसके लिए अलग उपाय सोचने होंगे। जैसे, आपने परिस्थिति में एक दबाव पैदा किया कि उसको ट्रस्टी घोषित करने की प्रेरणा हुई। दूसरे, ट्रस्टीशिप आनुवंशिक नहीं हो सकती। हाँ, समाज अगर कहे कि तुम्हारा पिता ट्रस्टी था, अब तुम भी रहो, तो ठीक है। समाज को हरवक्त दोबारा विचार करना होगा। एक ट्रस्टी की मृत्यु के बाद अगर उसके पास संपत्ति बच गयी हो, तो समाज उसके विनियोग पर विचार करेगा। अगर न रही हो, तो सवाल ही नहीं है।

इस तरह कई तरीके सोचे जा सकते हैं।

ट्रस्टी होने की एक पहचान यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति में वृद्धि नहीं होनी चाहिए।

८-२-'६०
प्रातः

ट्रस्टीशिप का समग्र सिद्धान्त : १९ :

सामाजिक परिस्थिति या अपने पुरुपार्थ से हमे जो कुछ प्राप्त हो, उस सबको हम न्यास, थाती या धरोहर मानेंगे। इस वृत्ति का नाम है 'ट्रस्टीशिप'।

दूसरी चीज यह भी है कि जो कुछ हमे प्राप्त है, वह अपने उपभोग के लिए नही, 'प्रत्यर्पण' के लिए है। 'प्रत्यर्पण' इसलिए कि आज की जितनी सम्पत्ति और स्वामित्व है, उसका अधिकाश भाग अपहरण का है। अपहरण चोरी है। परिग्रह चोरी है, स्तेय है। अस्तेय और अपरिग्रह दोनो साथ-साथ चलते है। अस्तेय और परिग्रह दोनो साथ-साथ नही रह सकते। इसलिए सम्पत्ति और स्वामित्व के विषय मे समाज मे अलग-अलग धारणाएँ और सिद्धान्त उत्पन्न हुए।

क्रान्ति की बुनियाद

सारे क्रान्तिकारियो मे से जो सुधारवादी थे, उन्होने यहाँ तक कहा कि हम यह नहीं जानते कि सारा-का-सारा परिग्रह चोरी है या नही; लेकिन इतना हम जानते है कि बहुत-सा परिग्रह ऐसा है, जिसे 'चोरी' कहा जा सकता है या जो चोरी का परिणाम है। इसलिए सम्पत्ति और स्वामित्व की तरफ से मनुष्य का रुख बदलना, मनुष्यो का सम्पत्ति के आधार पर आज जो पारस्परिक सम्बन्ध है, उसमें आमूलाग्र परिवर्तन करना, क्रान्ति की बुनियाद मानी गयी।

संक्रमणकाल में आज मुझे जो सम्पत्ति और स्वामित्व प्राप्त है, वह समाज को प्रत्यर्पित करने के लिए है, लौटा देने के लिए है। अपने उपभोग के लिए वह नही है। मैं उसमे अभिवृद्धि, इजाफा नहीं करूँगा। बल्कि जो है, उसे कम करने की कोशिश करूँगा। अगर समाज के लिए उसे बढाना ही हो, तो व्याज, किराया, मुनाफा, टीका या दलाली इन साधनो से मैं उसे नही बढाऊँगा।

ट्रस्टीशिप के विचार मे क्रान्ति

जिस समाज मे ट्रस्टी रहता है, उस समाज ने ट्रस्टी से अगर कहा कि अपनी सम्पत्ति हमे बढ़ानी है और इसे बढाने की सिफत हमसे ज्यादा तू जानता

है, तो इसे बढ़ा। वह बढ़ा देता है, पर सम्पत्ति जितनी बढ़ेगी, वह सारी-की-सारी समाज की होगी। अगर यह नहीं होता, तो ट्रस्टीशिप का विचार क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।

ट्रस्टीशिप समाज-परिवर्तन का साधन होना चाहिए। याने ट्रस्टीशिप से सम्पत्ति के प्रति, स्वामित्व के प्रति मनुष्य का रुख बदलना चाहिए और सम्पत्ति पर आधारित मनुष्यों के जो सम्बन्ध है, उनमें परिवर्तन होना चाहिए। अगर यह नहीं है, तो ट्रस्टीशिप एक प्राचीन परम्परागत संस्था बन जाती है, जिसे हम दान-वृत्ति की सस्था कहते है। उसमे किसी प्रकार की समाज-परिवर्तन की शक्ति पैदा नहीं होती।

जब हम कहते हैं कि ट्रस्टीशिप होनी चाहिए तो उस ट्रस्टीशिप का आधार होगा—अस्तेय और अपरिग्रह। आधार होगा अस्तेय, उसका स्वरूप होगा अपरिग्रह। अगर अपरिग्रह और अस्तेय का सिद्धान्त नहीं माना गया, तो ट्रस्टीशिप और व्यक्तिगत स्वामित्व में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। पुरातन-मतवादी, जिन्हें मैं जीर्ण-मतवादी कहा करता हूँ, कहते थे कि सम्पत्ति और स्वामित्व का अधिकार मनुष्य का मूलभूत अधिकार है। तो, क्या उनका विचार ट्रस्टीशिप में आता है? अगर उनके लिए ट्रस्टीशिप में स्थान है, तो आप ट्रस्टीशिप को समाज-परिवर्तन का साधन नहीं मान सकते।

स्वामित्व की प्रेरणा का प्रश्न

व्यक्तिगत स्वामित्व और व्यक्तिगत सम्पत्ति का आयोजन इसलिए किया गया था कि समाज के विरोध मे व्यक्ति के लिए कुछ स्वतन्त्रता का आश्वासन दे। उसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आधार माना गया था। व्यक्ति और समाज इन दोनों में विरोध पैदा हो जाता है, तो समाज के विरोध में अपनी स्वतन्त्रता का संरक्षण करने के लिए क्या व्यक्ति के पास कोई साधन है? जवाब मिलता है कि व्यक्ति के पास ऐसा साधन है, मनुष्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति। समाज में वह जो परिश्रम करता है, उसके लिए क्या उसके पास कोई प्रेरणा है? इसका जवाब मिलता है कि प्रेरणा स्वामित्व की है।

आरम्भ मे यह विचार गाधी का भी रहा, उनके साथियो का भी रहा। इसलिए ऐसा एक भ्रम पैदा हुआ कि गाधी के विचार मे व्यक्तिगत स्वामित्व एक अनिवार्य स्थान रखता है। दूसरा भ्रम यह पैदा हुआ कि उनके आदर्श समाज में वर्ग रहेंगे और वर्ग का समन्वय होगा, वर्ग का निराकरण नहीं होगा। यही भ्रम स्वतन्त्र पक्ष आज हमारे सामने बार-बार रखता है। लेकिन

हमने देखा कि गाधी और उनके सहयोगियो के मन मे ट्रस्टीशिप के विचार का विकास हुआ। इसका कारण यह था कि समाज की रचना के लिए उन्होंने जो आधारभूत सिद्धान्त माने थे, वे अस्तेय और अपरिग्रह के थे। ये सिद्धान्त मान लेने के बाद सम्पत्ति और स्वामित्व की भावना मे कई प्रकार का परिवर्तन चलता है।

ब्रह्मचर्य का व्रत

एक उदाहरण लीजिये। ब्रह्मचर्य का व्रत विवाह का विरोध करने के लिए नहीं है। लेकिन आश्रम के नियमो मे कहा गया कि वहाँ 'विवाहित ब्रह्मचर्य' होगा। विवाहित ब्रह्मचर्य जब कह देते हैं, तब विवाह का जो प्रयोजन था, वह स्वतः नष्ट हो जाता है। दोनों साथ-साथ रहते है, लेकिन पति-पत्नी के नाते साथ नही रहते। विवाह का सम्बन्ध गौण हो जाता है और ब्रह्मचर्य मुख्य। उसी प्रकार संतान-निरोध का सवाल आता है, तो कहते है कि वह संयम से होना चाहिए। इसका अर्थ है कि विवाहित अवस्था में भी ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए कि सन्तान पैदा होने की सम्भावना ही न रहे। साफ है कि ब्रह्मचर्य के आधार पर विवाह होता है, तो विवाह की भूमिका गौण होती है। जहाँ पति-पत्नी का शरीर-संबंध गौण होता है, वहाँ प्रेम मुख्य होता है।

विवाह की भूमिका यह है कि स्त्री और पुरुष के शरीर-सबंध की अपेक्षा उनका प्रेम-सबध अधिक महत्त्व का है। नहीं तो विवाह का कोई प्रयोजन नही रहता। इस तरह जब हम आर्थिक क्षेत्र मे अस्तेय और अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धान्तो को लेते हैं, तो स्वामित्व और संपत्ति की भूमिका, उसका आशय इतना बदल जाता है कि स्वामित्व और सम्पत्ति का लगभग विसर्जन हो जाता है।

कला, प्रतिभा और श्रम

आज सम्पत्ति के विषय मे कानून मे जो शब्द है, वह बडा अन्वर्थक है। वह है 'होल्डिंग प्रापर्टी'। 'आइ होल्ड'—मैं धारण करता हूँ। कानून मे प्रापर्टी के लिए दूसरा शब्द भी है। वह है—'पजेशन'। कानून मे आपके कब्जे मे अगर कोई चीज है, तो वह ९० प्रतिशत आपकी हो ही गयी। दस प्रतिशत वह इसलिए नहीं है कि शायद कोई यह साबित कर दे कि आपने उस चीज का अपहरण किया है। सवाल है कि जिस समाज में अस्तेय और

अपरिग्रह होगा, क्या उस समाज मे भी 'ट्रस्टीशिप' का कोई स्थान होगा ? इसका उत्तर समाजवादियों ने दिया है, दूसरे अर्थशास्त्रियों ने भी दिया है और सदाचारवादी नीतिवादी लोगों ने तो दिया ही है। अर्थशास्त्री कहते है कि पूँजी आज श्रम से काम लेती है। मेहनतवाले को, मजदूर को पूँजी काम देती है। पूँजी मालिक है, मजदूर नौकर है। असल में मालिक कौन है ? परिश्रम मालिक है और परिश्रम पूँजी का उपयोग करेगा। श्रम के लिए पूँजी का उपयोग होना चाहिए, पूँजी के लिए श्रम का नहीं। मुख्य वस्तु है—कला, प्रतिभा और श्रम।

श्रम भी प्रत्यर्पण की वस्तु

ट्रस्टीशिप की मॉग यह है कि जिसके पास श्रम-शक्ति है, उसे उसको भी प्रत्यर्पण की वस्तु मानना चाहिए। श्रम-शक्ति भी उपभोग के लिए नही है। 'मेरे श्रम का मुझे जो फल मिलता है, वह मेरा है', ऐसा माननेवाला ट्रस्टी नहीं है। कारीगर अपने को अपने औजारो का और अपनी मेहनत का ट्रस्टी मानेगा। वह यह नहीं कह सकेगा कि यह मेरा औजार है, मैं इसके साथ चाहे जो कर सकूँगा। 'मै इसे तोड दूँगा या नदी मे फेंक दूँगा', वह ऐसा नहीं कह सकता। अगर वह ऐसा कहता है, तो वह ट्रस्टी नही है। पूँजीवाद के युग में पूँजीवादी मालिक अपने को जिस तरह का मालिक मान रहा है, उसी तरह वह छोटा मालिक है। छोटा है, इसलिए वह कम पूँजीवादी नही हो जाता। वह उतना ही बडा पूँजीवादी बन जाता है, जितना बड़ा वह, जो कहता है कि यह मेरी फाउंटेनपेन है, इसका चाहे जो उपयोग मैं करूँगा। यह मेरी रोटी है, मैं इसे चाहे जहाँ फेंकूँगा। समाज कहेगा कि समाज मे वस्तु का अपमान सास्कृतिक दोष है।

ये सारी जीवन की विभूतियाँ है और इनके लिए भी आदर होना चाहिए। इस ससार में जीवन सम्पन्न करनेवाली जितनी-जितनी वस्तुएँ है, वे सब जीवन की विभूतियाँ है। जो वस्तुएँ जीवन सपन्न करनेवाली नही है, वे भी जीवन की विभूतियाँ है। मनुष्य कहता है कि 'नल मे पानी है, मैं इसे चाहे जैसा बहने दूँगा, क्योंकि मैने उसका टैक्स दिया है।' यह ठीक नहीं। ट्रस्टीशिप में सृष्टि के प्रति जैसा आदर रहेगा, उसी तरह का आदर वस्तु के प्रति, उपकरण के प्रति और श्रम के प्रति भी रहेगा।

आत्महत्या : शरीर और आत्मा

शरीर के प्रति आदर की बात बताते हुए मैंने कहा था कि अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा, तुच्छता का भाव न धार्मिक है, न आध्यात्मिक, न नैतिक है, न

सास्कृतिक। दूसरे का शरीर अवध्य है, अनाक्रमणीय है, दूसरे के शरीर पर कोई आक्रमण नही कर सकता, कोई उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके शरीर का उपयोग नही कर सकता, करना भी नही चाहिए। जिस प्रकार दूसरे का शरीर अनाक्रमणीय है, अवध्य है, उसी प्रकार मेरा अपना शरीर भी अनाक्रमणीय है, अवध्य है। कानून से आत्म-हत्या को गुनाह करार कर दिया गया है, यह अलग चीज है। अगर यह गुनाह पूरा हो गया, तो कानून कुछ नहीं कर सकता। बच गये, तो सजा होती है। आत्महत्या का गुनाह पूरा हो जाता है, तो कानून से परे हो जाते है। कानून मे 'सुइसाइड' (आत्महत्या) की जो परिभाषा है, वह एक सकेत है। हर मनुष्य अवध्य है, किसी मनुष्य को आप नही मार सकते—यह सकेत है।

दूसरे मनुष्य का शरीर अनाक्रमणीय और पवित्र है। वह जीवन मे प्रतिभा और कला का विकास कर सकता है। इसलिए भगवान् के मदिर से अधिक पवित्र है। दूसरे के शरीर के प्रति जैसा मै मानता हूँ, वैसा ही अपने शरीर के प्रति भी मानूँ।

मनुष्य आत्महत्या करने की चेष्टा करता है। वह बच जाता है, तो कानून सजा करता है और वह उस प्रयत्न मे सफल हो जाता है, तो कानून क्या करता है? कानून की कमजोरी की पूर्ति मनुष्य के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से होती है। अपने को अपने शरीर का वह ट्रस्टी मानता है। 'यह शरीर गधा है, मै उसके साथ चाहे जो कुछ करूँगा। इस शरीर से ऊब गया हूँ, यह बदसूरत है। इस शरीर मे क्या है, आज मर जाऊँ, तो अच्छा है!'

अरे, तो तू क्यो नही मर जाता? शरीर को क्यो मारना चाहता है? लेकिन शरीर उसके साथ इतना जुडा है कि उसके बिना मरना भी मुश्किल है।

'इस शरीर से ऐसा तंग आ गया हूँ कि इसे छोड जाऊँ, ऐसा लगता है।'

'शरीर तो मणिकर्णिका चला जायगा। लेकिन तू कहाँ जायगा?' उसने सोचा कि इससे छूटकर अच्छी जगह जाऊँगा।

एक तरफ तो इतना ऊब गया कि उससे छूटना चाहता है और दूसरी तरफ बगैर शरीर के मर नही सकता! ट्रस्टीशिप कहती है कि शरीर से इतना अभिमान नहीं होना चाहिए। 'यह मेरा शरीर है, इसके साथ मै चाहे जो करूँगा', यह तटस्थता नही है, नम्रता नही है। हर मनुष्य दूसरो के लिए शक्तिभर काम करेगा और केवल आवश्यकता के लिए उपभोग लेगा। 'प्रतिग्रह आवश्यकता के अनुरूप और काम क्षमता के अनुरूप'—जब इस सिद्धान्त पर अमल होगा, तब मनुष्य अपनी क्षमता को 'अपनी' नही मानेगा।

हमने ऐसे समाज की कल्पना की है, जिसमें मनुष्य स्वतन्त्र प्रेरणा से अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार काम करेगा, कलापूर्ण काम करेगा और काम करने की अपनी कुशलता बढ़ायेगा। दूसरी तरफ जितनी आवश्यकताएँ हैं, उतना ही वह प्रतिदान लेगा। अगर समाज में दुर्भिक्ष है, तो प्रतिग्रह कम करता चला जायगा, काम करने की क्षमता बढ़ाता चला जायगा। याने वह अधिक-से-अधिक देगा और कम-से-कम लेगा। जीवन के ये मूल्य अवान्तर प्रेरणाओं से पैदा नहीं हुए। अवांतर प्रेरणाओं से, अवांतर कारणों से जीवन के मूल्यों पर आवरण आ गया है। ऐसा है, तो उसके कारण ढूँढ़ने चाहिए। लेकिन जीवन के जो प्रधान मूल्य हैं, वे जीवन की प्रवृत्ति में से आते हैं। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि हम संयम की बात कर रहे हैं। प्रेम मनुष्य का स्वभाव है और प्रेम में जितने अवांतर प्रयोजन होंगे, उतना वह कलुषित होता है। उसमें दोष पैदा होता है। इसलिए कहते हैं कि मित्र का प्रेम, सखा का प्रेम सबसे शुद्ध प्रेम है।

सगुण मूर्ति

सामने कुछ सगुण मूर्ति चाहिए। तेरी कला, तेरी प्रतिभा, तेरा श्रम प्रत्यर्पण के लिए है। किसके प्रत्यर्पण के लिए? वह है पड़ोसी के लिए। इसका नाम गांधी ने 'स्वदेशी' रखा। मानव का कोई सगुण रूप चाहिए, जिसके लिए सब कुछ है। यह ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त समाज-परिवर्तन और समाज-धारणा का सिद्धान्त है।

दोनों तरह से हमने इस प्रश्न पर विचार किया। हमारे पास सम्पत्ति और उसे रखने की इच्छा है, तो ऐसी कौन-सी पद्धति होगी, जिसमें हम सम्पत्ति रख सकेंगे और इससे समाज में प्रतिष्ठा भी मिल सकेगी? 'इसके लिए यह ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त सुविधाजनक है'—इस तरह की जिसकी मनोवृत्ति होगी, उसके लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त नहीं है, फिर वह किसान हो या बड़ा भारी पूँजीपति।

जो किसान मालकियत से चिपका हुआ है, वह छोटे पैमाने पर पूँजीपति है, बुर्जुआ है। आकार छोटा भले ही हो, लेकिन उसकी वृत्ति पूँजीपति की ही है। स्वामित्व का विसर्जन करना अगर किसी क्षेत्र में सबसे अधिक मुश्किल है, तो वह जमीन के क्षेत्र में। जमीन के साथ किसान का याने जमीन जोतनेवाले मालिक का जो स्नेह होता है, जो प्रेम होता है, वह केवल भौतिक वस्तु नहीं

है। जो महान् निरीक्षक है, उन्होने इसका गहराई के साथ अध्ययन किया है। पर्ल बक ने बहुत छोटी उम्र से किसान का जीवन देखा। उसने बताया है कि किसान का उसकी भूमि के साथ क्या सम्बन्ध होता है।

भूमि और किसान

गोल्डस्मिथ ने देखा कि बड़े-बडे जमींदार हजारो एकड जमीन अपने पास रखकर घेरे डालने लगे है। किसान अपनी जमीने छोड-छोडकर बेघर हो रहे है। उनमे से कई अमेरिका जा रहे हैं। इन सब बातो का उसने 'डेजर्टेड व्हिलेज' मे वर्णन किया है। वह जब किसान का वर्णन करता है, तो उसकी वेदना का वर्णन करता है। किसान का जमीन के साथ सम्बन्ध उतना ही सजीव है, जितना देशभक्त का अपने देश के साथ होता है। जिस भूमि मे मनुष्य पैदा हुआ है, उसके प्रति उसकी एक भावना होती है। यह भावना केवल भौतिक नही होती।

किसान के मन मे अपनी जमीन के लिए जो भावना रहती है, उसके दो पहलू हैं। एक तो यह कि किसान अपनी जमीन नही छोड़ेगा। आज स्वतन्त्र-पार्टीवाले और दूसरे लोग कहते है कि किसान का जमीन से जो लगाव है, इसको अगर आप समझे और देखे, तो किसान की मालकियत कायम रहनी चाहिए। आप यह मत समझिये कि वह अपनी मालकियत छोड़ देगा।

इससे ठीक उल्टा पहलू विनोबा ने लिया। माता के लिए किसान की जितनी पूज्य बुद्धि है, उतनी ही भूमि के लिए है। तीन माताएँ मानी गयी हैं—जननी, जन्मभूमि और गाय। भावना की दृष्टि से सबसे पहले जननी, फिर जन्मभूमि और बाद मे गाय। जन्मभूमि के लिए जो भावना है, उस भावना के प्रतिकूल मालकियत की भावना है, यह चीज उसे समझाना चाहिए। जमीन के विषय मे किसान की जो भूमिका है, वह मालकियत के विसर्जन के अनुकूल है। कही-कहीं गाधी के विचार मे भी इसकी ध्वनि आती है। वे कहते हैं कि पंचतत्त्वो मे से भूमि एक तत्त्व है और भगवान् के सब पुत्रो को समान रूप से प्राप्त होना चाहिए।

गाधी की बातो में यह ध्वनि निकलती है कि किसान अपने को ट्रस्टी मान सकता है और यह कह सकता है कि भूमि मे जो परिश्रम होता है, वह अनमोल है। क्यो ? एक दूसरा सकेत इसके साथ जुड़ा हुआ है। हमारे देश मे अन्न का दान शुद्ध दान माना जाता है। इतना शुद्ध दान दूसरा कोई है नहीं। कारण आप पूछिये, तो यह बतलाते है कि अन्न का दुरुपयोग नहीं हो सकता। अन्न

के दान का एक ही पात्र है--उदर-पात्र। तो, उदर के पात्र में अन्न का दान बहुत निर्दोष माना जाता है। अन्न का विक्रय सदोष माना जाता है। एक जमाने में दूध का विक्रय भी सदोष माना जाता था। इसमें यह तत्त्व छिपा हुआ है कि अन्न का उत्पादक अपने उत्पादन का मालिक नहीं माना जायगा। अर्थात् उसका श्रम अनमोल है। परन्तु अर्थशास्त्र का गणित बिलकुल उलटा है। दुनिया अन्न सस्ते में माँगती है। जिस देश में भूख है, उस देश में अन्न सुलभ होना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से अन्न से ज्यादा महँगा कच्चा माल, कच्चे माल से पक्का माल और पक्के माल से व्यापारी माल महँगा होता है। यह जो आज का अर्थशास्त्र है, इसे बदल देना होगा या फिर यह जो अन्न का उत्पादन करता है, उसे अन्न के उत्पादन के लिए कोई भौतिक प्रेरणा नहीं होगी। भौतिक प्रेरणा नहीं होगी, तो फिर अन्न उत्पादन कैसे होगा ?

सामाजिक प्रेरणा

अब तक की समाज की प्रेरणा धार्मिक थी। उसकी जगह सामाजिक प्रेरणा दाखिल करनी होगी। अगर अन्न कच्चे माल के साथ, पक्के माल के साथ और व्यापारी माल के साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकता, तो अन्न की और उसके उत्पादन की भी एक विशिष्ट भूमिका होनी चाहिए। इस दृष्टि से लोग कहते और उदाहरण भी देते हैं कि किसान एक सेर बोता है और एक मन लेता है। बगैर मेहनत से इतना गुना किसीका उत्पादन नहीं होता। मुट्ठीभर कपास डाला और धोती निकल आयी हो, ऐसा नहीं होता। एक फिजियाक्रेट अर्थशास्त्री का कहना था कि सबसे ज्यादा टैक्स किसान से लेना चाहिए। दूसरों से क्यों लें ?

रेशनिंग के पीछे की भावना

किसान की भूमिका में और दूसरे की भूमिका में यह जो अन्तर है, उसमें अद्भुत रहस्य है। अकाल के जमाने में जो अन्न पैदा होता है, वह सारा का सारा ट्रस्ट बन जाता है। एक तरह से सारी सम्पत्ति ट्रस्ट बन जाती है। आप कण्ट्रोल करते हैं। कहते हैं कि जो सामग्री है, उसे हम बाँटेंगे। बाँटने का मतलब यह नहीं कि जो ज्यादा दाम देकर खरीदेगा, उसे देंगे। आज का बाजार नीलाम का बाजार है। सौदे की अपेक्षा नीलाम ज्यादा है। उसमें वस्तु उसे मिलती है, जो सबसे अधिक दाम दे सकता है। लेकिन समाज में वस्तुओं के दाम निश्चित करने की आवश्यकता पैदा होती है। सबसे बड़ी आवश्यकता तब

होती है, जब आवश्यकता अधिक और वस्तु कम हो। तब आप कण्ट्रोल, रेशन करते है, नियत्रण करते है और वितरण को व्यवस्थित कर देते है। समाज मे यह जो आवश्यकता पैदा होती है, उसके पीछे छिपी हुई भावना ट्रस्टीशिप की की भावना है।

तीन प्रकार के स्वामित्व

यह ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त अपने विकसित रूप मे क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। ट्रस्टीशिप के विचार को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। आज तीन तरह के स्वामित्व की बात चल रही है—राज्य-स्वामित्व, संस्था-स्वामित्व और व्यक्ति-स्वामित्व या कौटुम्बिक स्वामित्व। एक चौथा स्वामित्व भी है, जो समाजवाद और कम्युनिज्म मे सही माना गया है, वह है—भोग्य वस्तुओं का व्यक्तिगत स्वामित्व। अब ये दो चीजे हुई। सम्पत्ति निर्माण करने के साधनो का स्वामित्व कौटुम्बिक न हो, व्यक्तिगत न हो। उपभोग करने की चीजो का स्वामित्व व्यक्तिगत और कौटुम्बिक हो सकेगा। समाजवाद और साम्यवाद मे यह जो विशेष बात है, उसे समझ लेना आवश्यक है। भोग्य वस्तु और उपयोगी वस्तुओं का व्यक्तिगत और कौटुम्बिक स्वामित्व रहेगा। केवल आपके कपड़े ही नहीं, आपका रहने का मकान, आपकी मोटरकार, आपकी टेबल-कुर्सी, आपका पलग, आपकी थाली–इन सब वस्तुओं पर आपका स्वामित्व रहेगा।

अति संग्रह कुसंस्कार

उपभोग की वस्तुओ का अति संग्रह कुसस्कार है। मनुष्य का यह स्वभाव नही है, क्योकि उसकी भोग-क्षमता सीमित है। मराठी में खाडिलकर का एक नाटक है। एक पात्र दस अँगुलियो मे दस अँगूठियाँ पहनकर आता है। उसके पास बीस अँगूठियाँ है। भगवान् से कहता है कि दो हाथ और माँगूगा, तो मै भगवान् ही बन जाऊँगा, चतुर्भुज बन जाऊँगा। दो पैर और माँगूगा—नूपुर बाँधने के लिए। चतुर्भुज नहीं तो चतुष्पाद ही सही।

आपके पास कुर्ते पचास है, तब भी पीठ एक ही है। मोटरे सौ है, तब भी सीट एक ही है। तो अब पचास कुर्ते क्यो रखेगे? शान के लिए। जिस दिन उसमे शान नही रहेगी, उस दिन कोई क्यों व्यर्थ ही रखेगा? आपसे कोई कहे कि चौक मे घूम आओ, तो आप बिस्तरे मे रखे हुए इस्तरी के कपडे निकाल लेंगे। पर शंकररावजी से मिलने जायेंगे, तो क्या कोई इस्तरी के कपडे पहनकर जायेंगे?

जहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा उपभोग के साधनों की बहुलता में नहीं होती, वहाँ मनुष्य उपभोग के साधन जुटाने में दिलचस्पी नहीं रखता। मनुष्य का जैसे-जैसे सांस्कृतिक विकास होता है, वैसे विलास की चीजों की सामाजिक प्रतिष्ठा कम होती चली जाती है। इसका उदाहरण है कम्युनिज्म। उसमें एक पुरुष की चार स्त्रियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा का लक्षण नहीं है। कम्युनिज्म भोगवादी है, तो भी एक पति की चार स्त्रियाँ प्रतिष्ठा का साधन नहीं है। समाजवादी देश मानते हैं कि वेश्या किसी शहर की शोभा का साधन नहीं है। शराब विलास का साधन नहीं है।

मानवीय प्रकृति

मनुष्य की भोग-क्षमता सीमित है। लोग कहते हैं कि उसकी आकांक्षा अनन्त है। आकांक्षा के पीछे भोग के साधन चलते हैं, क्षमता नहीं। भोग-क्षमता अपने में मनुष्य के संग्रह को मर्यादित कर देती है। सभी जानते हैं कि भोग के साधन जितने बढ़े, समाज में भोग की आकांक्षा उतनी बढ़ी; लेकिन भोग की क्षमता उस अनुपात में नहीं बढ़ी। मान लीजिये कि इस वक्त मेरी आकांक्षा पकौड़ी खाने की है, लेकिन क्षमता नहीं है। दो मोटरें रखने में सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं होगी, तो मनुष्य दो मोटरें नहीं रखेगा। क्योंकि दो मोटरें रखने पर भी वह एक ही सीट पर बैठेगा। मनुष्य की संग्रहशीलता उसका स्वभाव नहीं है। वह नाहक का बोझ नहीं ढोना चाहता।

हर वस्तु के लिए आदर

मनुष्य की उपभोग और संग्रह की इच्छाओं में अन्तर है। समाजवाद और साम्यवाद आपके उपयोग की वस्तुओं और उपभोग की वस्तुओं की मालकियत क्षम्य मानता है। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त है कि उसके भी आप अपने को ट्रस्टी मानें। पांडेचेरी में हर चीज पर एक चिप्पी लगी हुई है कि 'इस चीज का अपना व्यक्तित्व है कृपा करके इसे बिगाड़िये मत'। यह है वस्तु के लिए आदर।

हर साहित्यिक और कवि जब उपमाएँ देता है, तब वह कहाँ से लाता है? वह हर वस्तु को विभूति मानता है और तब उपमा देता है। नहीं तो उसके साहित्य में शोभा नहीं आती। सारी सृष्टि को जिसने विभूति न माना हो, उसके साहित्य में शोभा कहाँ से आयेगी? कालिदास, वाल्मीकि आदि में आप किसी वेदना का दृष्टान्त पाते हैं तो वह भी विभूति बनकर आती है। सारी सृष्टि

अपने मे विभूति है। ट्रस्टीशिप, सृष्टि, जीवन के साधन और उत्पादन के उपकरण, उपभोग्य वस्तुओ आदि पर भी हमे इसी दृष्टि से विचार करना होगा। कोई आदमी कुर्ता फाडता है। ट्रस्टी कहेगा कि 'यह कुर्ता क्यो फाड रहे हो?'

'अरे, कपड़े की इफरात है, चाहे जितना कपड़ा बनेगा।'

'नही, कपड़ा बनाने के साधन अपरिमित है, फिर भी तुझे कपड़ा फाड़ना नही चाहिए। गगाजल अपरिमित हो, तो भी उसे फेकने का तुझे कोई अधिकार नहीं है।'

विदेशी वस्त्र जब जलाये गये, तो दीनबधु एण्ड्र्यूज ने गाधीजी पर आक्षेप किया और लिखा कि 'एक बंधु के बनाये हुए सुन्दर वस्त्र को, गाधी, तुम जलाते हो?' गाधी ने इसका जवाब दिया : 'हर वस्तु मेरे भाई की कला-कृति है। मैं अपनी बेटी की बनायी हुई रोटी का आदर करता हूँ। उसी तरह हर मनुष्य की बनायी हुई जो वस्तु है, उसके लिए मनुष्य के मन में आदर होना चाहिए। परन्तु उस रोटी मे अगर विष या रोग के बीज पड गये हो, तो मै उसे नष्ट करूँगा।' मैने गाधी की बात अपने ढंग से रखी है।

सृष्टि के लिए आदर का अर्थ

सृष्टि के लिए आदर की बात जब हम कहते है, तो उस सृष्टि मे 'केपिटल रिसोर्सेस' उत्पादन का मूलधन,—जमीन, लोहा, कोयला, आसमान, प्रकाश, तेल आदि सबका समावेश होता है। उपकरणों के लिए आदर हो। जिन वस्तुओ का निर्माण हुआ है, उन वस्तुओ के लिए भी आदर हो। यह ट्रस्टीशिप का समग्र सिद्धान्त है। हमने उसको बहुत सीमित कर दिया था। ट्रस्टीशिप की मनोवृत्ति मे और उसके समग्र सिद्धान्त मे ये सारी चीजे आती है। इसमे सभ्यता को लेकर संयम अपने-आप आ जाता है। वस्तु के लिए आदर होगा, तो हम उसका नाश और दुरुपयोग नही होने देगे।

८-२-'६०

भोग-क्षमता की एक सीमा है। उसका अर्थ यह है कि उपभोग ऐसा होना चाहिए, जिससे भोग-शक्ति क्षीण न हो। भोजन ऐसा होना चाहिए, जिसमें हाजमा कमजोर न हो। बगैर संयम के शरीर-धारणा नहीं होती।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

गीता में योग का ऐसा लक्षण किया है। आहार-विहार युक्त होना चाहिए। युक्त से मतलब है—मर्यादित और सन्तुलित। कर्म और बाकी दूसरी सारी चेष्टाएँ, अन्य व्यापार भी मर्यादित हों—जागरण और सोना भी मर्यादित हो। ऐसा जो पुरुष होता है, उसके लिए योग 'दुःखहा' याने दुःख का हरण करनेवाला होता है। यह योगयुक्त जीवन मनःस्वास्थ्य और शरीर-स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। इतनी बात ट्रस्टीशिप के विचार में जोड़नी चाहिए।

कौटुम्बिक जीवन में ट्रस्टीशिप

एक सवाल उठाया गया है कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त मामूली कौटुंबिक जीवन में कैसे लाया जा सकता है? इसके लिए हमें व्यापकत्व की ओर बढ़ना होगा। अपने कुटुंब में तो जो मुख्य पुरुष होता है, वह ट्रस्टी के नाते होता है। अब इस मनोवृत्ति का विस्तार करना है। इसे और अधिक व्यापक बनाना है। इसके दो-तीन प्रकार के रूप हो सकते हैं।

एक प्रकार तो यह होगा कि उसकी अपनी खेती में शोषण नहीं होगा। न तो पशु का शोषण होगा और न मनुष्य का। आज हमारी मनोवृत्ति बड़ी अजीब है। कभी-कभी मनुष्य की सम्पत्ति और उसके स्वामित्व की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति उसकी सहानुभूति क्षीण कर देती है। बच्चे के पैर में चोट आ जाय, तो मनुष्य को उतना दुःख नहीं होता, जितना काँच का प्याला टूट जाने से होता है। वस्तु के लिए आदर तो होना ही चाहिए, लेकिन उसका यह मतलब नहीं कि जीवन के प्रति वस्तु से कम आदर हो। सम्पत्ति की भावना में यह बात आ जाती है। इसी-लिए, मालकियत के लिए एक भाई दूसरे भाई का खून भी कर डालता है।

मनुष्य ट्रस्टी बनना चाहे, तो ये तीन भावनाएँ प्रमुख हो जाती है--एक तो उसके यहाँ बैल को कम-से-कम तकलीफ होनी चाहिए; दूसरे, जो लोग उसके साथ काम करते हैं, उनके प्रति उसकी भावना यह होनी चाहिए कि वे लोग भी जमीन के उतने ही मालिक है, जितना मै हूँ। कानूनी मालकियत में शायद वह उन्हे शामिल न कर सके, लेकिन उसकी यह भावना होनी चाहिए कि ये लोग भी मेरी ही तरह जमीन के मालिक हैं। इसलिए इनके और मेरे व्यवहार मे यह नहीं होना चाहिए कि मै हमेशा इनसे ज्यादा काम लूँ और दाम कम दूँ। इनकी और मेरी भूमिका शेयरिंग की--हिस्सेदारी की होनी चाहिए। तीसरे, उसका संकल्प होना चाहिए कि मेरे कुटुब मे अगर कोई जोतनेवाला न हो, तो कम-से-कम मेरे बाद यह जमीन मेरे पास न रहे। इस बात के लिए अपने जीते-जी उसे अपने कुटुब को तैयार करना चाहिए। ये तीन बाते अगर वह करता है, तो ट्रस्टीशिप की तरफ कदम बढाता है।

गाँव की मालकियत का अर्थ

ट्रस्टीशिप आनुवशिक नही होगी। किसान का जोतने का अधिकार आनुवशिक मान सकते है। जो किसान आज जोत रहा है, उसका लडका अगर जोतना चाहता है, तो गाँव को चाहिए कि जहाँ तक हो, वह जमीन उसीको दे। उसका अधिकार पहला मानना चाहिए। लेकिन गाँव अगर यह समझे कि वह जोतने के लिए तैयार तो है, लेकिन उसके योग्य नहीं है, तो उसे यह कहने का अधिकार होगा कि वह किसान ट्रस्टी नही हो सकता। बाप के बाद बेटा ट्रस्टी हो या नही, इसका विचार करने का अधिकार समाज को दिया जाय। अत मे तो हम समाज का भी स्वामित्व नहीं मानते, समाज को भी अपरिग्रही बनाना चाहते हैं।

ग्रामदानी गाँववालो से यह कहना चाहिए कि तुम्हारे गाँव की जितनी उपज होगी, उसमे से तुम्हारी आवश्यकता के लिए जितना चाहिए, उतना ही तुम्हे मिलेगा। फालतू उपज बाजार के लिए नहीं है और विनिमय के लिए भी नहीं है। जमीन गाँव की है, इसका मतलब इतना ही है कि जोतने के लिए वह गाँव की है। गाँव उसे बेच नही सकता।

गाँव की मालकियत की मर्यादा यह है कि गाँव चाहे भी तो जमीन को बेच या बिगाड नही सकता। एक गाँव मे कम जमीन है, दूसरे गाँव में ज्यादा। एक गाँव मे कम आदमी है, दूसरे मे ज्यादा, तो दोनो गाँव मिलकर एक क्षेत्र होगा। आपको अनाज चाहिए और दूसरे को कपास, तो दोनों अदल-बदल

कर लेंगे। अदल-बदल का मतलब यह नहीं है कि जितनी कीमत की चीज आप लेंगे, उतनी कीमत की चीज उसे देंगे। फालतू उपज जहाँ आवश्यकता है, वहाँ जानी चाहिए। विकास के लिए जितना आवश्यक है, वह आपके पास रहेगा। जो अतिरिक्त होगा, वह वहाँ दे दिया जायगा, जहाँ विकास के लिए उसकी आवश्यकता है।

मानवीय प्रेरणा

आदमी भूखा हो, तो पहले वह अपनी भूख का विचार करता है। कहा जायगा कि उसमें अभी मानवता का आरंभ नहीं हुआ। पर उसमें मानवता का आरम्भ हो सकता है। भगवान् ने मनुष्य को इतनी अद्भुत शक्ति दी है कि भूखा आदमी भी मंदिर में जाकर कुछ चढ़ाता है, यह हम रोज देखते हैं। मनुष्य की इस प्रेरणा को हम साथ-साथ जाग्रत करते चले जायँ। ऐसा न हो कि वह प्रेरणा नष्ट हो जाय, वह आज ही सक्रिय भले ही न हो सके। दुर्भिक्ष है, तो पहली प्रेरणा उसीके निवारण की होती है। वह अधम प्रेरणा नहीं, सही प्रेरणा है।

हम उपभोग क्यों मर्यादित करते हैं? कहते हैं कि हमें चारित्र्य का विकास करना है, यह एक प्रेरणा हुई। लेकिन दूसरी प्रेरणा, भोग-क्षमता सौ साल तक हमें रखनी है—शरीर-स्वास्थ्य सौ साल तक रखना है। तो ऐसा उपभोग नहीं होना चाहिए, जो भोग-शक्ति को क्षीण करे।

विभूतियाँ और गुण

कार्लाइल जैसे कुछ लोगों ने माना है कि इतिहास के निर्माता और इतिहास के विधाता वीर पुरुष होते हैं। कार्लाइल ने फ्रांसीसी क्रान्ति के बारे में एक किताब लिखी। उसकी दूसरी प्रसिद्ध किताब है 'हीरो एण्ड हीरो वर्शिप'। एक अंश तक यह सही है कि संसार में कुछ विभूतियाँ आती हैं। विभूतियों का मतलब है जीनियस, जिनमें कोई गुण ऊर्जित अवस्था में होता है। जहाँ गुण प्रकट होता है, उसे ऊर्जित गुणवान् मनुष्य कहते हैं। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने कहा कि 'अर्जुन, तू जहाँ-जहाँ गुण का वैभव और तेज देखेगा, वहाँ-वहाँ मेरा अंश मान।' ये विभूतियाँ आती हैं और संसार में परिवर्तन करती हैं, यह सही है। लेकिन केवल विभूतियों से समाज में परिवर्तन होता है, यह कहना गलत है। वीर पुरुष संसार का इतिहास बनाता है, यह सत्य है; लेकिन वह आंशिक सत्य है। सन् १९१०—१३ में रेम्झे मैकडोनाल्ड ने

एक किताब लिखी। उसने कोयले की खान मे कोयले से तख्ती पर लिखना-पढ़ना सीखा था। बाद मे वह इग्लैंड का प्रधानमत्री हुआ। वह लेबर-पार्टी का था। उसने 'सोशियलिस्ट मूव्हमेट' पर एक किताब लिखी। उसमे उसने महापुरुषों की जीवनियो को 'रोमेटिक हिस्टरी', 'काव्यमय इतिहास' कहा है। लेकिन इतिहास मे एक दूसरा हिस्सा है, जिसमे लोगो की प्रेरणा और लोगो का पराक्रम मुख्य होता है।

जिन लोगो को भोजन नही मिलता था, उनके मन मे समाज-परिवर्तन की प्रेरणा हुई। लेकिन जिनको मिलता था, उन लोगो के मन मे भी ऐसी प्रेरणा हुई। ये दोनो बाते सही है। जिसके पास है, उसका हृदय-परिवर्तन हो सकता है, साथ ही उसका भी, जिसके पास नही है। आवश्यकता इस बात की है कि मेरे पास क्या है, इसकी अपेक्षा मै क्या हूॅ, इस पर सोचा जाय। प्रतिकूल परिस्थिति मे भी जो ठहरता है, वह चारित्र्य है। हमारे यहॉ पॉच स्त्रियॉ चारित्र्यवान् मानी गयी—अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मदोदरी। इनमे से ऐसी एक भी स्त्री नहीं है, जो कलकित न हुई हो। या तो वे कलकित हुई है या उन पर कलक का आरोप हुआ है। चारित्र्य सजीव वस्तु है। जीवन मे वह केवल निषेधात्मक नही है। इन स्त्रियों को प्रतिकूल परिस्थितियो मे लोभ और भय का सामना करना पड़ा। उसके लिए यत्रणा सहनी पडी। दड सहन करना पडा। इसमे से खरी उतरी तो वे चारित्र्यवान् कहलायी।

टामस हार्डी ने दो किताबे लिखी। एक है 'मेयर ऑव्ह कैस्टरब्रिज' और दूसरी 'टेस ऑफ डर्बर विलेस'। दोनो दोषी है, अपराधी है—टेस नाम की लड़की और कैस्टरब्रिज का मेयर। लेकिन दोनो मे विलक्षण चारित्र्य है। प्रतिकूल परिस्थिति मे ठहरने का जहॉ माद्दा होता है, जीवट होता है, वहॉ सत्त्व होता है। यह सत्त्व मनुष्य का चारित्र्य है। यह चीज साधारण मनुष्य मे विकसित हो सकती है। साधारण मनुष्य निर्दोष शुकदेव नहीं बन सकते। हमारे यहॉ एक भी ऋषि निर्दोष नही है।

दोष और चारित्र्य

एक भाई ने प्रश्न किया था कि जो मास खाता होगा, उसमे कुछ-न-कुछ क्रूरता तो आती ही होगी। परम करुणामूर्ति राम हिरन का शिकार करने गया। वह मास खाता था या नहीं, यह सवाल छोड दीजिये, लेकिन इतना तो मानना ही पडेगा कि वह हिरन का शिकार करने गया और शिकार मे उसने उसे मारा। सीता को तो पता नही था कि वह मारीच था। इस हिरन की छाल

लाकर मुझे दो, पत्नी की ऐसी मॉग सुनकर राम हिरन को मारने गया, इसमें कोई शक नहीं। फिर भी वह परम कारुणिक अतिकृपालु था, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। इसी तरह हमारे तमाम ऋषि काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष से ग्रस्त रहे हैं, शुकाचार्य जैसा एकाध भले न रहा हो। फिर भी इन ऋषियों ने वेद-मन्त्र प्रकट किये। जो परपरागत अर्थ मे सद्गुणी नहीं होते, उनकी वाणी शुद्ध नहीं होती—यह उन लोगों का भ्रम है, जिन्होंने अपने जीवन को तग फीते से कस लिया है। मैं ज्यो-ज्यो सोचता हूँ, त्यो-त्यो भगवान् की विलक्षणता मे अभिभूत होता हूँ।

टेनिसन ने 'इन मेमोरियम' मे गाया है।

"द ओल्ड आर्डर चेंजेथ यील्डिंग प्लेस टु न्यू।
एण्ड गॉड फुलफिल्स हिमसेल्फ इन मेनी वेज़,
लेस्ट वन गुड कस्टम शुड स्पॉइल द वर्ल्ड।"

कहीं ऐसा न हो कि एक सदाचार ही दुनिया का सर्वनाश करे। यह एक बहुत बडी चीज है, जो हम सबको सोचनी चाहिए। जहॉ दोष है, वहॉ हमें यह नहीं मानना चाहिए कि चारित्र्य नहीं है। ऐसा मानना नास्तिकता होगी। जहॉ दोष है, उसके नीचे चारित्र्य छिपा हुआ है। यह वस्तु साधारण मनुष्य मे और दुर्जन मे भी हमारी श्रद्धा बढ़ाती है।

चारित्र्य का प्रकट होना अलग चीज है और चारित्र्य का प्रवृत्त होना बिलकुल अलग चीज। प्रवृत्त मुझमें, अपने में हो सकता है और प्रकट दूसरे मे। उसका तेज मेरे व्यक्तित्व मे न फैले, लेकिन मेरे अपने हृदय के भीतर वह प्रकट हो सकता है। समाज उसे प्रकट नहीं होने देता। एक दफा जो अपराधी हो गया, उसे समाज हमेशा के लिए अपराधी और दुर्जन बना देता है।

'ला मिजरेबल' का नायक

विक्टर ह्यूगो ने 'ला मिजरेबल' मे चित्रण किया कि एक मनुष्य एक दफा अपराध करने के बाद लगातार कोशिश करता है कि मै अच्छा बनूं। बार-बार अपराध की प्रवृत्ति प्रकट होती है, वह गिरता है, फिर उठने की कोशिश करता है। लेकिन जितनी दफा वह गिरता है, सज्जन उसे दबाने की कोशिश करते है। इसके बाद भी अगर वह उठ सका है, तो केवल अपने दृढ निश्चय के कारण।

नियतिवाद और इतिहासवाद का आश्रय लेकर मार्क्स ने इसकी आवश्यकता को समाप्त कर दिया। उसने समाज-परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया

और ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्तो का आविष्कार या स्वीकार किया, जिनके कारण क्रातिकारी के चित्त से इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता समाप्त कर दी। इतिहास के विकास-क्रम मे सृष्टि की नैसर्गिक नियति है, तो वहाँ चारित्र्य का आकर्षण कम हो गयी। अगर मुझसे कोई यह कह दे कि तुमने उम्रभर जितने पाप किये हैं, एक दफा गंगाजी मे नहाने से समाप्त हो जाते हैं, तो पाप न करने की मेरी प्रवृत्ति क्षीण हो जायगी। उल्टे गगाजी के घाट तक या पानी तक जितने पाप होते जायँगे, मन मे यही कहता चला जाऊँगा कि होते है तो होने दो, मै जा ही रहा हूँ डुबकी लगाने, वहाँ तो वे समाप्त होने ही वाले हैं। इस तरह मनुष्य की जिम्मेवारी कम हो जाती है और जिम्मेवारी का कम होना ही मनुष्यता का क्षीण होना है। इस जिम्मेवारी की भावना का, दायित्व का विकास भले-बुरे दोनो मे हो सकता है। इसके लिए इतिहास साक्षी है।

अग्रेजी मे एक कहावत है : 'इट्स बेटर टु वेस्ट आउट देन टु रस्ट आउट।' 'जग लगने की अपेक्षा घिस जाना बेहतर है।' गाधी के सामने यह सवाल था कि मैं अपनी जिदगी मे मोर्चा लगने दूँ या घिस-घिसकर खत्म हो जाऊँ। वे अपने जीवन की ज्योति जगाये रखना चाहते थे, लेकिन जहाँ दूसरो का जीवन मुहाल हो रहा था, वहाँ वे अपना जीवन समर्पण करना चाहते थे। गाधी जैसा मनुष्य परिमित भोग लेकर जीवन का आनद उठाना चाहता है और जितने साल जीता है, उतने साल वह आनद से जीना चाहता है। लेकिन अवसर आने पर आनदपूर्वक आत्मोत्सर्ग कर देता है।

इतिहास का विकास-क्रम

आप हमसे कहते है कि इतिहास का यह विकास-क्रम है कि अब पूँजीवादी पद्धति में से अंतर्विरोध पैदा होगे, उन अतर्विरोधो का परिणाम यह होगा कि श्रमिक-वर्ग संगठित होगा, क्योकि बहुत से श्रमिक कारखाने मे एक जगह काम करते है। मालकियत कम होती जायगी, श्रमिको की सख्या बढ़ती जायगी। ये श्रमिक सगठित होते चले जायँगे। तब इनके पुरुषार्थ से क्रान्ति होगी। ऐसा होना अवश्यम्भावी है। यह इतिहास का क्रम है, यही नित्य नैसर्गिक सिद्धान्तो की नियति है। इतना आप मानते हैं, तो ठीक है। लेकिन, यहाँ आप मनुष्य को नियति का खिलौना तो नही बना रहे है? यह प्रश्न विचारणीय है।

हर व्यक्ति एक विभूति

हर व्यक्ति अपने मे विभूति है, यह कहने का मतलब यह है कि हर व्यक्ति मे कुछ ऐसी चीज है, जो मुझमे नहीं है। यह जिस दिन आप मान लेगे, उस

दिन आप सारे भूतों के सामने नम्र हो जायँगे। शेर में, हाथी में, चींटी में, हर प्राणी में और हर मनुष्य में कोई विशेष शक्ति है, जो मुझसे कुछ विशेषता रखती है। यह शक्ति कहाँ से आती है? अन्धा अँधेरा क्या देखेगा? अँधेरा देखने के लिए आँख में रोशनी चाहिए। अन्यत्र शक्ति के दर्शन के लिए भीतर शक्ति होती है। एक गा रहा है। गाने की यह शक्ति मुझमें विशेष नहीं है। फिर गाने का आनन्द लेने की शक्ति मुझमें कहाँ से आयी? इसका अर्थ है कि संगीत मुझमें छिपा हुआ है। ये सारी सुप्त शक्तियाँ हैं। कुछ शक्तियाँ व्यक्त होती हैं। किसीमें गायन की विभूति है, किसीमें नृत्य की। इस तरह दुनिया में एक-एक जीनियस, एक-एक विभूति आती है।

कर्म-स्वातंत्र्य और कर्म-फल

अपने बुरे कामों का फल मनुष्य नहीं लेना चाहता। उसमें कर्म-स्वातन्त्र्य है। जिम्मेवारी का अर्थ यह है कि अपने बुरे कामों के लिए मैं जिम्मेवार हूँ और अच्छे कामों के लिए भी। अक्सर होता यह है कि मनुष्य अपने अच्छे कामों का फल चाहता है, बुरे कामों का फल नहीं चाहता। वह सत्कर्म का फल चाहता है, लेकिन सत्कर्म करना नहीं चाहता। पाप का फल नहीं चाहता, लेकिन पाप करता है। मनुष्य जो बुरा काम करता है, उसके लिए क्षमा चाहता है, जो अच्छा काम करता है, उसके लिए इनाम चाहता है। 'मैंने भला काम किया, पर आपने धन्यवाद भी नहीं भेजा! तो मेरा उत्साह कैसे बढ़े? आप कुछ कद्र तो करते! माला न पहनाते तो न सही!'—इतनी अपेक्षा मनुष्य रखता है।

कर्म अपने में जड़ है। कर्म करते ही फल हो, ऐसा हमेशा नहीं होता। परिणाम होता है, फल नहीं होता। मैंने किसी मनुष्य को तलवार मार दी। वह मर गया, यह परिणाम हुआ; लेकिन इस काम का जो फल मुझे मिलना चाहिए, वह उसी वक्त नहीं मिलता। मैं उस फल से भागता हूँ। तब यह फल देनेवाला कौन हो? तो कहा, यह ईश्वर है। योगशास्त्र में ईश्वर को माना है। ईश्वर की आवश्यकता इसलिए हुई कि मनुष्य जिम्मेवार है। उसे अपने भले-बुरे कर्मों का फल मिलना चाहिए। वह स्वयं तो लेना नहीं चाहता। तब कौन दे? एक ऐसी शक्ति चाहिए, जिसका अपना कर्म कुछ नहीं है, जो तटस्थ है, नित्य-तृप्त है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। वह शक्ति कौन-सी होगी? वह ईश्वर होगा, नियन्ता होगा, विधाता होगा।

भले-बुरे कर्म ईश्वरार्पण

पुण्यकर्म अहंकार का कारण अधिक होता है। पर जो पापकर्म होता है, उसमे से अहकार पैदा नही होता, यह विलक्षणता है। पापी डीग नही हॉक सकता। पापी अपनी नजर से गिर जाता है, दूसरो की नजर से गिर जाता है, इसीलिए पाप मे से अहकार पैदा नही होता। पुण्य मे से अहकार पैदा होता है, इसलिए पुण्य अधिक बंधनकारक होता है। पाप कम बॉधता है। अब पुण्य के इस सुनहले, रेशमी बंधन मे से छूटने का क्या रास्ता है ? रास्ता यह है कि हम उसे भगवान् को समर्पित कर दे। हम कहें कि जो कुछ होता है, तेरी कृपा से होता है, मैं नही कर रहा हूॅ।

सवाल है कि भगवान् को क्यो समर्पित करे ? बुरा काम मनुष्य समर्पित करने को तैयार ही है। अपराध हो जाता है, तो कहता है कि भाई गलती हुई, मुझे माफ करना। आप पेसिल छील रहे थे और चाकू हमारी नाक मे लगा। यह कोई कम गलती नहीं है, भयानक गलती है। परिणाम भी जो होना था हो गया, लेकिन फल उसका आप भुगतना नहीं चाहते। आप कहते हैं कि माफ कर दीजिये, याने इसे सह लीजिये। अपराध तो आप समर्पित करने को पहले ही तैयार बैठे हैं, आपके सत्कर्म भी समर्पित होने चाहिए। सत्कर्म किसे समर्पित हो सकते हैं ? उसीको, जिसमे सत्कर्म हजम करने की शक्ति है। सत्कर्म को हजम करना बहुत कठिन है। तो, वह ऐसे को समर्पण करो, जिसका अपना कोई कर्म न हो। इस तरह ईश्वर की प्राप्ति हुई। यह एक औपाधिक कल्पना है। यह कब तक वास्तविक है ? जब तक मेरे जीवन मे उसका स्थान है। अतिम वास्तविकता यही है कि उसमे और मुझमें अंतर नही। मेरे पिताजी कल्पनात्मक भी है और वास्तविक भी। वास्तविक हैं मेरे जनक के नाते। भावनात्मक है मेरे पिताजी के रूप मे।

अन्तर्यामी की पुकार

जिस क्षण मै यह मान लेता हूॅ कि अपने कर्मों के लिए मै ही जिम्मेवार हूॅ, ईश्वर नही, उसी क्षण यह बाहर का ईश्वर मेरे भीतर आकर बैठ जाता है। वह अन्तर्यामी हो जाता है। अन्तरात्मा की आवाज का रूप ले लेता है।

अच्छे और बुरे का आधार आप अपने समाज को बनाते है और पडोसी को बनाते है। आपका जो स्वार्थरहित और विकाररहित स्वरूप है, इसीको आपने ईश्वर कहा है। जब तक आपके जीवन मे यह आकाक्षा है कि मै अपने

को बुरे कामो का फल नहीं दे सकता, अपने पड़ोसी के अच्छे कामों की कद्र मे नहीं करता, तब तक मनुष्य के लिए ईश्वर की आवश्यकता है।

आध्यात्मिक चंचलता

आप दस आदमियों के दस तरह के आध्यात्मिक सन्देश सुनते हैं। इसमें आप असावधान रहे, तो आध्यात्मिक चंचलता पैदा होती है। आपको अभिभूत नहीं होना चाहिए। जो व्यक्ति अभिभूत होता है, उसके पैर उखड जाते है। अगर आपने यह मान लिया कि किसी विभूति के दर्शन से, विना आपके प्रयत्न से कुछ होनेवाला है, तो सारी आध्यात्मिकता से आप हाथ धो वैठेंगे। किसीके दर्शन से कुछ होनेवाला है, ऐसा आप मानते है, तो यह ईश्वर की नियति के विरुद्ध है। ईश्वर की नियति यह है कि अपने कर्मों का फल मैं भोगूं। ईश्वर की करुणा अदना-से-अदना इन्सान मे भी पैदा हो सकती है और महान्-से-महान् विभूति में भी। उनके अनुग्रह से यह सम्भव है कि मेरे चित्त में परिवर्तन हो।

मेरे कर्मों का फल दूसरों को भुगतना पडता है, तो इसका आशय यह है कि मैं कुकर्म न करूँ। मैं सड़क पर केले का छिलका न फेंकूँ, यह उसका अर्थ है। छिलका फेंकने के वाद कोई गिरा, तो ऐसा तर्क गलत है कि हजारों आदमियो में से यही क्यों गिरा? दूसरा क्यों नहीं गिरा? यहाँ दिमाग की शतरंज के ऊँट की-सी चाल हो जाती है। सीधी गति यह है कि जिनके साथ मैं रहता हूँ, उनका कर्म मेरे कर्म में शामिल है, मै उनके कर्म में शामिल हूँ, क्योंकि वह 'सह-कर्म' कहलाता ही है। उसका नाम ही 'सहयोग' है। एक-दूसरे पर कर्म का परिणाम होगा ही, क्योंकि सह-जीवन है, सहकर्म है। इसीलिए कुछ दार्श-निकों ने यहाँ तक माना कि वैयक्तिक मुक्ति असमव है, क्योंकि हमारा सहकर्म है और सह-जीवन है। इसलिए सहमुक्ति होनी चाहिए। श्री अरविंद का सिद्धान्त कुछ इसी प्रकार का है। वे ऐसा मानते हैं कि सह-मुक्ति का आरम्भ वही करता है, जो स्वय मुक्त होता है। जो मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है, अपनी मृत्यु अपनी आँखों देख लेता है, वह सामुदायिक और सामाजिक मुक्ति का आरम्भ करता है। यह श्री अरविंद का अवतारवाद है। वे मानते हैं कि समाज के लिए जो नया जीवन आरंभ होता है, उसमें कुछ अतीन्द्रिय या विलक्षण शक्ति आती है। इस प्रकार परम योगी का फिर अवतार होता है।

साधन और साध्य दोनों में प्रकार-भेद नहीं है। साधना जब परिपूर्ण हो जाती है, तो उसका नाम सिद्धि है। सिद्धि जब तक प्रायोगिक अवस्था में है, तब तक साधना है।

चित्त का संतुलन आवश्यक

तो, इस बात की आवश्यकता है कि चित्त का सतुलन रहे, समत्व रहे। हम मुक्त रहें, अहंकार न हो, लेकिन खुले रहने का यह अर्थ नही कि चंचल रहे। पानी की तरह बेरग भी न रहे। जिसमे चाहे जैसा रग मिलाकर उस रग मे रँग लो, यह चित्त के प्रसाद का लक्षण नही।

भौतिकता और वैज्ञानिकता की प्रतिक्रिया मे से आध्यात्मिकता की आकाक्षा सारे संसार मे पैदा हो गयी है। प्रतिक्रियाजनित होने से यह बहुत उपद्रव कर रही है। यह चित्त की समता को नष्ट कर रही है।

पहले मनुष्य अपने सामने ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सपने रखता था। आज उस पर आध्यात्मिकता की धुन सवार है। जीवन्मुक्ति का भ्रम तो उसे जीवन में हजारो बार होता है। हम सिर्फ अपना विचार करे, औरों का नही। औरो के बारे में हमसे लोग पूछते है कि ये महापुरुष है, उनके विषय मे आपका क्या विचार है? वे जीवन्मुक्त है या नहीं, हमे इसका क्या पता है? तुम दूसरो के बारे में पूछने आये हो, लेकिन तुम अगर अपने मन मे चालबाज और दगाबाज हो, तो इसका पता लगाने की क्या जरूरत है? इस बात का पता चल भी गया, तो क्या मिल गया? क्या ब्रह्म-ज्ञान मिल गया? इसे मैं आध्यात्मिक चंचलता कहता हूँ। पर मनुष्य विभूतियो को खोजने लगता है, सस्थाओ को खोजने लगता है, पचासो जगह जाता है और अत मे लौटकर आता है, तो वही शालिग्राम का शालिग्राम। •

९-२-'६०

क्रान्ति के दौरान मे संपत्ति और स्वामित्व के विसर्जन के लिए ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का अपने से आरंभ होना चाहिए। व्यक्तिगत संपत्ति और मालिकी के विसर्जन के लिए ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का उपयोग होगा। अहिंसक समाज मे ट्रस्टीशिप के लिए हम अपनी श्रम-शक्ति, बुद्धि-शक्ति और अन्य शक्ति को अपनी धरोहर मानेंगे अपने स्वामित्व की वस्तु नहीं। साथ ही उपकरणों के प्रति, नैसर्गिक संपत्ति और शक्तियों के प्रति, निसर्ग मे जो धन है, उसके प्रति भी हमारी वही श्रद्धा होगी। वस्तुओ के प्रति भी एक आदर और निष्ठा होगी। यह आदर की भावना मनुष्य के स्वभाव में मौजूद है। आप जब बाजार मे जाते है, तो किसी चीज को पसंद करने मे देखते है कि वह समूची, दमदार, चमकदार, सुडौल होनी चाहिए। किसी चीज में अगर दाग लगा हो, दरार पड़ी हो या वह देखने मे बेढब हो, तो आप उसे नहीं खरीदते। यह सौंदर्य की भावना मनुष्य में जन्मसिद्ध, स्वयंसिद्ध है।

स्वच्छता, सुंदरता और पवित्रता की भावना मनुष्य में है। उसके विकास के लिए अवसर चाहिए, संयोजन चाहिए। जहाँ वस्तुनिष्ठा की माँग होती है, वहाँ कभी-कभी स्वामित्व की भावना रहने पर वस्तु में, जीव मे और प्राणी मे लोग उचित विवेक नहीं करते। नतीजा यह होता है कि कभी-कभी वस्तु को जीव की अपेक्षा अधिक प्रधानता दे देते है। यह नहीं होना चाहिए। मनुष्य के जीवन का आदर करना चाहिए। दूसरे जीवधारियों के प्रति आदर मनुष्य के स्वभाव मे निहित है। हमे याद रखना चाहिए कि जिन लोगों ने करुणा का उपदेश किया है, वे सभी शाकाहारी नहीं थे। हमारे देश मे जितने धर्म-संस्थापक हुए, उनमें भी शाकाहारी बहुत कम हुए। विशेषकर जिन दो महान् विभूतियों ने, बुद्ध और महावीर ने, अहिंसा-धर्म की स्थापना इस देश में की, वे क्षत्रिय-वर्ण मे पैदा हुए। गीता के उपदेशक भगवान् श्रीकृष्ण भी ब्राह्मण नहीं थे। नानक ने सिख-धर्म की स्थापना की। वह अहिंसा और करुणा का धर्म भले ही न हो, लेकिन मानवीय सद्गुणों का उपदेश उस धर्म मे है। इतिहास में कुछ ऐसा संयोग हुआ है कि जीवन और जीव की प्रतिष्ठा के लिए

आदर-बुद्धि का उपदेश जिन लोगो ने दिया, वे शाकाहारी नहीं थे। तो, जीवन की प्रतिष्ठा मनुष्यमात्र मे है। वस्तु की प्रतिष्ठा जीवन की प्रतिष्ठा का अगला कदम है। मनुष्य की जो बनायी चीज है, उसका हम आदर करेंगे।

सार्वजनिक धर्म के सिद्धान्त

एक प्रश्न किया गया कि क्या गाधीजी की आश्रम-सस्था के मूल मे हमारी प्राचीन विचारधारा मे से कोई सिद्धान्त है ?

आश्रम-सस्था के मूल मे हमारी प्राचीन विचारधारा का कौन-सा विचार है, यह तो स्पष्ट ही है। आश्रम के जितने व्रत है, वे हमारे पुराने सार्ववर्णिक धर्म से लिये गये है। मनु ने अहिसा, सत्य आदि सार्ववर्णिक धर्म गिनाये है। ब्राह्मण का अलग धर्म, क्षत्रिय का अलग धर्म, वैश्य का अलग धर्म और शूद्र का अलग धर्म—इस तरह अलग-अलग जाति के, वर्ण के, अलग-अलग धर्म बतलाते हुए भी उन्होंने सारे वर्णो के लिए समान धर्म बतलाये। सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि ये सारे सार्ववर्णिक धर्म है—मनुष्यो के लिए धर्म है। इन्हे सामूहिक आचरण के व्रत का रूप दिया है। गाधी ने आश्रम-सस्था मे इन्हे सामाजिक मूल्य बनाने की चेष्टा की। यह उस संस्था की विशेषता है।

समाज-परिवर्तन के लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह की आवश्यकता है। इन व्रतो से परिवर्तन हो सकता है—यह बात किसीने नही कही। सामान्य रूप मे सबने यही कहा कि आरोग्य की आवश्यकता है। आरोग्य की आवश्यकता अपने व्यक्तिगत जीवन मे इसलिए है कि समाज मे उसकी प्रतिष्ठा हो। लोगो को उसमे विश्वास हो। समाज मे सेवा करनी है, काम करना है, तो ईमान चाहिए, सचाई चाहिए। इस प्रकार की बाते गाधी से पहले कही गयी थी; लेकिन सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि समाज-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त है, यह बात नहीं कही गयी।

इसमे दो चीजे है। एक तो ये शब्द परपरागत सकेत से लिये गये है, लेकिन उनमे आशय नया भर दिया गया है। इस प्रकार उनका सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन करने की चेष्टा की गयी है। दूसरी बात यह कि सस्था और कुटुम्ब, दोनो मे किसी प्रकार भी क्रातिकारी जीवन होना समाज मे असंभव पाया गया। कुटुब पुरानी परपरा के अनुसार चलते थे। कुछ कुटुब भले ही सुधारवादी बन जायँ, लेकिन सभी कुटुब क्रान्तिकारी सस्था बन सके, यह आज नहीं होता। तब क्या किया जाय ? तो, गाधी ने यह कोशिश की कि

इस प्रकार का प्रयोग किया जाय कि क्रान्तिकारी मूल्य हो और कौटुंबिकता भी। सोचा गया कि ऐसी कोई संस्था हो, जिसमें मूलभूत कौटुंबिक मूल्य भी आ सके, स्नेह हो, पावित्र्य हो और उसके साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति का कार्यक्रम उसका मुख्य कार्यक्रम बन सके। सामाजिक क्रान्ति के कार्यक्रम का नित्य आचरण हो और उसके साथ पवित्रता और स्नेह दोनों हों। यह प्रयोग आश्रम-संस्था के जरिये गांधी ने करने की कोशिश की।

कृष्णमूर्ति और गांधी

एक प्रश्न उठा है कि कृष्णमूर्ति का मत है कि जब तक पूर्णता न आये, तब तक व्यक्ति समाज-क्रान्ति नहीं कर सकता। तो, क्या पूर्णता पाने के बाद ही हमें समाज-क्रान्ति करनी होगी? गांधी और कृष्णमूर्ति का समन्वय यहाँ कैसे हो सकता है?

कृष्णमूर्ति पूर्णता और अपूर्णता को नहीं मानते। सामाजिक क्रान्ति जैसी कोई चीज उनके मन में नहीं है। समाज नाम की कोई वस्तु है, उसमें क्रांति करनी है—यह वे नहीं मानते। मनुष्यों के एक-दूसरे के साथ पारस्परिक संबंध हैं। यही वास्तविक है। समाज नाम की कोई एक स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। मनुष्य के मनुष्य के साथ ये जो संबंध हैं, उनमें प्रतियोगिता नहीं होनी चाहिए, ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए, लोभ नहीं होना चाहिए। सारे संबंधों का आधार प्रेम होना चाहिए। प्रेम मनुष्य में स्वाभाविक है ही। तब प्रतियोगिता कहाँ से पैदा होती है? प्रतियोगिता तुलना में से पैदा होती है। हम अपने साथ दूसरों की तुलना करते हैं, फिर दूसरे की बराबरी पर पहुँचना चाहते हैं। इससे ईर्ष्या आती है। प्रतियोगिता में ईर्ष्या होती है। आज मैं जैसा हूँ, वैसा न रहकर दूसरे की तरह बनना चाहता हूँ। कुछ हूँ और कुछ होना चाहता हूँ। इसके बीच जो द्वन्द्व है, उसीमें से ये सारी समस्याएँ पैदा होती हैं। द्वन्द्व का स्वरूप समझ लेने से द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। समस्याओं को समझना ही समस्या का अन्त कर देना है। समस्या का अन्त करने के लिए कोई जवाब नहीं खोजना पड़ता।

विनोबा मन से ऊपर उठने की जो बात कहते हैं, वह कोई अलग चीज नहीं। मन से ऊपर उठने के साधन भी ये ही हैं और प्रक्रिया भी यही है। मन से ऊपर उठने की साधना अलग चीज है और यह अलग चीज, ऐसा अगर आप मानेंगे, तो चालीस या पचास वर्ष तक सार्वजनिक सेवा करते रहने के बाद शायद यह कहने लगेंगे कि मन से ऊपर उठने का अभ्यास करने के

लिए मुझे अन्यत्र जाना चाहिए। तब कहना पडेगा कि ये पचास साल आपने व्यर्थ खो दिये ।

सत्य की शोध के लिए तपस्या

गाधी और कृष्णमूर्ति मे समन्वय की कोशिश ही नही करनी चाहिए। दो भिन्न विभूतियो मे समन्वय कहाँ होता है, इसका विचार हम न करे। उनके विचार मे जो अच्छाइयाँ है, उनको हम ग्रहण करते हों, तो पहली चीज हमे यह ग्रहण करनी होगी कि मनुष्य की आत्मा अंतिम प्रमाण है :

आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।

'सत्य क्या है, इसके विषय मे क्या कोई ग्रन्थ या कोई गुरु प्रमाण है ?' यह पूछने पर गांधी ने उत्तर दिया कि मेरी बुद्धि को सत्य का जो प्रकाश दिखाई देता है, मेरे लिए वही सत्य है। कृष्णमूर्ति कहते है कि 'हरएक का मार्ग अपना होगा, एक का मार्ग दूसरे के काम का नही।' तो, सत्य के विषय मे यह भूमिका है कि मेरी आत्मा मेरे लिए परम प्रमाण है। विकारहीन और स्वार्थ-निरपेक्ष बुद्धि ही सत्य की खोज का मेरा एकमात्र साधन है।

उस बुद्धि की शुद्धि के लिए मै सेवा करता हूँ। स्वार्थ के निराकरण के लिए मैं क्या करता हूँ ? अपना स्वार्थ छोडकर दूसरो का स्वार्थ और समाज के हित की तरफ देखता हूँ। इससे मेरा स्वार्थ कम होता चला जाता है। विकार कम करने के लिए मैं क्या करता हूँ ? सत्य की खोज मे जहाँ दूसरे के साथ विरोध आता है, वहाँ कष्ट उसको नही देता, स्वयं सहता हूँ। इस तरह मैं अपनी बुद्धि को तप से, बलिदान से और क्लेश-सहन से शुद्ध करता हूँ। सत्य की खोज मे मै लगा हुआ हूँ, सत्य की खोज मे सेवा करता चला जाता हूँ। अपने स्वार्थ से ऊपर उठने के लिए उस सेवा मे जहाँ दूसरो के साथ भेद या विरोध पैदा होता है, तो 'उसे भी सत्य को खोजने का उतना ही अधिकार है, जितना कि मुझे' ऐसा मानकर निर्विकार होने के लिए उसका क्रोध सहता हूँ। स्वय क्रोध नहीं करता। उसकी हिंसा सहता हूँ, स्वय हिंसा नही करता। कष्ट देने के बदले कष्ट झेलता हूँ—यह मेरा साधन है। व्यक्ति के लिए अपनी अन्तरात्मा ही प्रमाण होनी चाहिए। सत्य के निर्णय का साधन विकाररहित बुद्धि और स्वार्थरहित अन्तःकरण है। सेवा के पीछे निरपेक्षता की, प्रेम की भावना चाहिए। अन्य प्रेरणाओ मे विवेक आता है, विचार आता है, 'अगर-मगर' आता है; लेकिन प्रेम की प्रेरणा मे विवेक, विचार और 'अगर-मगर' कुछ भी नही आता।

मनवाने का प्रयोग

क्रान्ति में मनवाने का प्रयोग होता है। मनवाने के दो साधन हैं—एक है दबाव डालना, सत्ता का प्रयोग करना, अधिकार का प्रयोग करना। दूसरा है प्रभाव डालना। हमारी क्रान्ति में प्रभाव डालना आज क्षम्य माना जाता है, क्योंकि हमने यह माना और स्वीकार कर लिया है कि हममें समझाने की शक्ति नहीं है। इसके साथ-साथ हमने यह भी मान लिया है कि हमारी समझने की शक्ति भी कुछ मर्यादित है। ऐसी स्थिति में हम यह कोशिश करते हैं कि 'प्रेशर' का दबाव अलग तरह का हो और 'कोअर्शन' का दबाव अलग प्रकार का।

'प्रेशर' में हम ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करना चाहते हैं, जिससे उसकी सद्-भावना जाग्रत हो, मानवता जाग्रत हो, उसके स्वाभिमान को चोट न पहुँचे, उसके व्यक्तित्व का विकास न रुक जाय।

एक आदमी आता है। वह आँखें तरेरकर आपको छुरा दिखाता है। इसमें 'कोअर्शन' है। इससे भय और क्रोध, दोनों भाव जाग्रत होते हैं। दूसरा आदमी आता है। उसके व्यवहार से क्रोध और भय जाग्रत नहीं होता, करुणा जाग्रत होती है। आपका मत-परिवर्तन नहीं होता। वह चाहता है कि एक गरीब आदमी का मकान जल गया है, उसे आप बनवा दें। आप मानते हैं कि यह बनवाना मेरा कर्तव्य नहीं है। लेकिन उसने जो अनुनय की, जिस प्रकार उसने आपको समझाने की कोशिश की, उससे करुणा जाग्रत हो गयी। उसने दबाव तो रखा, लेकिन दबाव के साथ जो भावना जाग्रत हुई, वह आपके विकास के लिए अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं।

सत्याग्रह में 'प्रेशर' है और 'इन्फ्लुएन्स' भी। उसमें आप प्रभाव डालते हैं, लेकिन वह किसी सत्ता, संपत्ति और शस्त्र का नहीं। संख्या का भी नहीं। संख्या का कुछ प्रभाव तब होता है, जब आकार से मनुष्य को यह पता चलता है कि यह माँग व्यापक है। संख्या का एक कार्य यह भी है कि वह आपको यह बतलाती है कि अधिक लोग ऐसा चाहते हैं। संख्या डराने के लिए नहीं होती। हमारी तरफ ज्यादा आदमी हैं, तुम्हारी तरफ कम, यह संख्या का प्रतिकूल प्रभाव है। लेकिन उसका एक नैतिक प्रभाव भी है।

आप मुझे प्रवचन के लिए बुलाने आये। मैंने कहा कि भाई, इस वक्त मुझे प्रेरणा नहीं हो रही है, और यह कोई समय भी नहीं है। तो आप कहते हैं : "नहीं, यह तो सब लोगों की इच्छा है।"

'यह सब लोगो की इच्छा है', यह कहने का प्रभाव मेरे चित्त पर पड़ता है। आप जब यह कहते है कि 'मेरे अकेले की नही, यह सबकी इच्छा है', तो मै इसकी कद्र करता हूँ। मेरे मन मे एक मनुष्य की इच्छा के लिए लिहाज तो है ही, लेकिन अधिक मनुष्यो की इच्छा के लिए अधिक लिहाज है। यह भी एक स्वाभाविक वृत्ति है।

किसीने आपसे कहा कि वहाँ आपने जो भाषण किया, उसकी लोग बहुत तारीफ कर रहे थे। आप कहते है : "हाँ, एक-दो मित्रो ने तारीफ कर दी होगी।" वह कहता है : "नहीं साहब, कई आदमी थे और हरएक ने तारीफ की।" आप फूलकर कुप्पा हो उठते है; क्योकि तारीफ करनेवाले की सख्या अधिक थी। निंदा करनेवाला एक होगा, तो मनुष्य कहेगा : 'होगा एकआध कोई पागल।' पर, कहीं निंदा करनेवाले ५० हो, तो मनुष्य सूखकर काँटा हो जायगा। ये मनुष्य मे स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है।

मनुष्य के स्वभाव की खोज करनी चाहिए। मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान अगर न हो, तो मानवीय क्रान्ति असभव है। ईश्वर की खोज आसान है, परन्तु मनुष्य की खोज बहुत मुश्किल है, क्योकि वह अपनी खोज करता नहीं है। कोई हमसे कहे कि उसने आपकी निंदा कर दी, तो सुनते ही हम घबड़ा उठते है। किसीने हमारी तारीफ की, तो सुनते ही खुश हो उठते है। सोचते है कि तारीफ मे अगर दम है, तो निंदा मे क्यो नही? जो मनुष्य दूसरे के मत की कद्र करता है, वह निंदा-स्तुति की तरफ से लापरवाह नही रह सकता। हाँ, तटस्थ रह सकता है। निंदा-स्तुति के विषय मे तटस्थ हो जाय, यह नम्रता है, निरहकारिता है। लेकिन उनके विषय मे लापरवाह हो जाय, यह अहं है, अहंकार है। हमे सोच लेना चाहिए कि यह चीज भी हमारे भीतर छिपी हुई है।

हमारे सत्याग्रह मे, हमारी प्रक्रिया मे दबाव होगा। लेकिन वह शस्त्र का नही होगा, सख्या का नहीं होगा, धन और सत्ता का नही होगा। वह होगा—सदाचार और सद्गुण का।

आज एक-एक कर हजारों आदमी अपनी मालकियत छोड रहे है। इससे मालकियत छोड़ने के लिए परिस्थिति मे दबाव पैदा है। जिसे आप देखिये, गाधी टोपी लगाकर घूम रहा है। आप भी गाधी टोपी लगाते है। आपका बेटा आपसे पूछता है कि 'कल तक तो आप गाधी टोपी के खिलाफ थे, आज क्यो अनुकूल हो गये?' आप कहते है : 'अरे भाई, क्या कहूँ? हर आदमी लगा रहा है। मै नहीं लगाऊँगा, तो इन सबसे अलग दिखाई दूँगा। लोग मेरी ही

सूरत ताकेंगे। इसलिए अब मैं गांधी टोपी लगाता हूँ।' इस प्रकार हम कोई सदाचार या गुण समाज में जब प्रतिष्ठित कर देते हैं, तब उसका एक दबाव होता है।

आपने किसी समाज की इतनी सेवा की कि आपका प्रभाव जम गया। तब आप उससे कहें कि 'देखिये, यह काम हो जाना चाहिए। मेरे मन में बहुत दर्द है। अगर यह काम नहीं होगा, तो मैं अन्न नहीं खाऊँगा।' (यह मोह नहीं है, मोह अलग चीज है।) आपका चित्त व्यथित होता है, यह नैतिक दबाव है। इस प्रकार का नैतिक दबाव आ सकता है।

हाँ, याद रखने की बात इतनी ही है कि सत्याग्रह में समझने और समझाने के सिवा और कुछ नहीं है। प्रयोग के क्षेत्र में आत्मबल का स्थान है, अध्ययन के क्षेत्र में नहीं। मान लीजिये, भगवद्गीता का एक श्लोक मैं आपको समझा रहा हूँ। आप कहते हैं कि 'समझ में नहीं आ रहा है।' मैं कहता हूँ कि 'ठीक है, तो मैं उपवास करूँगा।' तो फिर आगे क्या होगा? दूसरे दिन आप कहेंगे कि 'समझ में आ गया, भोजन कर लीजिये।' झगड़ा खतम! तो, आपके त्याग और तितिक्षा का अध्ययन में स्थान नहीं है, क्रान्ति के प्रयोग में स्थान है। अध्ययन और शिक्षण के क्षेत्र में अगर यह नैतिक दबाव दाखिल होगा, तो उतने अंश में शिक्षण कलुषित होगा।

कार्यकर्ता और जन-सम्पर्क

एक प्रश्न किया गया है, 'कार्यकर्ता से कहा जाता है कि जन-संपर्क बढ़ाये। वह कैसे क्या करे?'

यह एक वास्तविक समस्या है। इसके दो तरीके हैं। एक तो यह कि कार्यकर्ता जनता की हर मुश्किल को अपना अवसर माने। पर हर संकट का जवाब कार्यकर्ता के पास नहीं है। तब कहा जाता है कि हर संकट का उपयोग संकटग्रस्त व्यक्ति का क्रोध बढ़ाने के लिए किया जाय। यह एक तरीका है। इसे वर्ग-संघर्ष का तरीका कहते हैं। संकट के हर प्रसंग का अपनी क्रान्ति के लिए उपयोग कर लो। और संकट न आये, तो संघर्ष के अवसर पैदा करो।

थोड़ी देर के लिए समझ लीजिये कि लोकेंद्र मेरे साथ रहा। इसके पहले जब मैं बीमार था, तो लवणम् मेरे साथ था। कहने लगा कि 'भगवान् की कृपा है कि हमें आपकी सेवा करने का यह अवसर मिला।' हमने कहा कि 'भगवान् करे, तेरी सेवा का अवसर हमें न मिले।' याने हमने यह प्रार्थना की

कि 'तुझे यह फोडा न हो।' हमे हो गया, इसमे तुझ पर तो भगवान् की भारी कृपा हुई, हम पर भगवान् की कृपा न हो।

जो क्रान्तिकारी है, वह जनता के सकट को क्रान्ति का अवसर मानता है। उसकी मनोवृत्ति अस्वास्थ्यपूर्ण हो जाती है, ऐसी स्थिति मे कार्यकर्ता क्या करे? गॉव मे संकट है, तो उसे साफ कहना चाहिए कि आपका सारा गॉव एक तरफ है, यह पटवारी एक तरफ है। गॉव के भरोसे वह जीता है और गॉव पर रोब गॉठता है। मेरी और पटवारी की कुश्ती हो, तो गॉववाले कहते हैं कि हम आपका साथ देने के लिए तैयार है। साथ देने की जरूरत नही है। तुम्हारे गॉव में अगर झूठा आदमी नही चल सकता, तो यह पटवारी कुछ नही कर पाता। पटवारी की चलती क्यो है? इसके पीछे जो अव्यक्त सत्ता खडी है, उसका गॉववालो को डर है। इस पटवारी के पीछे पुलिस खड़ी है, पुलिस के पीछे कलेक्टर खड़ा है और कलेक्टर के पीछे गव्हर्नर। इस सारी शक्ति का गॉववालो को डर है।

गॉववालो से कार्यकर्ता पूछे कि क्या इसे बदलने के लिए आप लोग कुछ करने को तैयार है या इसे रखते हुए कुछ करना चाहते है? इसको बदलने के लिए अगर आप कुछ करने को तैयार है, तो उसका तरीका हम बतलाते है। उसमे कुछ तकलीफ होगी, पर बगैर तकलीफ के कोई काम नही हो सकता। गॉव मे आपकी संपत्ति है, स्वार्थ है, आपको ज्यादा तकलीफ होनेवाली है।

हो सकता है कि कार्यकर्ता को पुलिस उठाकर जेल मे डाल दे। पर उसके बाद क्या होगा, यह बात गॉववालो को समझानी होगी।

आखिर क्रान्ति की आवश्यकता क्यो है? छोटी शिकायतो को हम दूर नहीं कर सकते। हर छोटी शिकायत को हम दूर कर सके, तो क्रान्ति की कोई आवश्यकता नही। अब सवाल इतना ही है कि क्या हर छोटी शिकायत का उपयोग हम क्रान्ति के कार्य के लिए करें? याने असंतोष को बढाने के लिए करे? क्या हम हर छोटी शिकायत को संघर्ष का मौका बनाना चाहते है? अगर ऐसा करना चाहते है, तो क्रान्ति के दूसरे तरीको से काम लेना होगा।

यह कहना ठीक नही कि हर साधारण आदमी इस तथ्य को नही समझ सकता। वह बहुत अच्छी तरह समझ सकता है। उससे आप यह पूछिये कि जब तक यह पटवारी है और जब तक आप हैं, तब तक समाज नही बदलता, तो आपके पास इसका कौन-सा उपाय है? या तो पटवारी गॉव मे रहे या आप, यही उपाय है न? वह आपसे क्या कहता है? यही कि 'पटवारी से

आप उलझते रहिये और काम हमारा हो जाना चाहिए।' इस पर उससे कहना चाहिए कि 'हम ऐसा करनेवाले नहीं है।'

गॉव मे कुछ लोग वडे होते है, पटवारी भी उन्हीके पक्ष मे होता है। ऐसे चन्द वडे लोगो का गॉव पर जादू रहता है। इस जादू के असर को आप कम करे। इस असर को कम करने के लिए एक साधन तो यह है कि आप वडों के खिलाफ खड़े हो जायॅ। लोग कहेगे : 'यह एक आदमी आ गया, किसीको कुछ नहीं समझता। मालगुजार को कुछ नहीं समझता, जमींदार को कुछ नहीं समझता, दारोगा को कुछ नहीं समझता। हमारे यहॉ यह एक तीरदाज आ गया।' यह एक तरीका है। इसमें से थोडी हिम्मत वढ सकती है। लेकिन गॉव के मनुष्यों मे ही सत्त्व जाग्रत करने का यह तरीका नहीं है। उन वडे आदमियो मे आप भी एक हो जायॅगे, वस। गॉव के कुल पाप-ग्रहो की जगह आप एक शुभ ग्रह वन जायॅगे। गॉव की कुडली में इतना परिवर्तन हो सकता है। इससे अधिक परिवर्तन इस प्रक्रिया से नहीं हो सकता।

'भिन्न' प्रकार का सत्याग्रह

इसलिए कार्यकर्ता को देखना चाहिए कि पचास, साठ या सौ शिकायतो मे से कौन-सी शिकायत ऐसी है, जिसमे से समाज-परिवर्तन हो सकता है ? उसे वह प्रतीकार का साधन वना ले।

जव गाधी थे और जव से गाधी नहीं रहे, तव से हम यह देखते है कि सत्याग्रह ही सत्याग्रह होते हैं। सत्याग्रह का नाम अगर कोई नहीं लेता, तो वह सिर्फ विनोवा है, जो गाधी का उत्तराधिकारी कहलाता है। वाकी जो लोग गाधी के मार्ग को गलत मानते है, विनोवा के मार्ग को अपर्याप्त मानते है, वे ही आज सत्याग्रह कर रहे है। इनके सत्याग्रह और आपके सत्याग्रह मे जो अन्तर होगा, वह लोगों को स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। लोग यह कह सके कि अव तक जो सत्याग्रह हम देख रहे थे, उससे यह सत्याग्रह कुछ अलग तरह का मालूम होता है। यह भिन्न सत्याग्रह है।

यह 'भिन्न' सत्याग्रह असफल होता है, तो क्यो ? कहते है कि यह वहुत ही शुद्ध सत्याग्रह है, इसलिए असफल हुआ। ये लोग जरा भी इधर-उधर करने को तैयार नहीं थे, तो सफलता कहॉ से मिलती ? फिर आप कहेंगे : हमारा जो जन-सपर्क हुआ था, उससे तो नुकसान ही हुआ।

अव तक के सव सत्याग्रह असफल हो चुके।

अगर आपका सत्याग्रह असफल हुआ तो याद रखिये, फिर सत्याग्रह का

नाम बाद मे कोई नहीं लेगा। आपका सत्याग्रह तो शुद्ध ही होना चाहिए। आप ऐसी परिस्थिति मे सत्याग्रह करना चाहते है, जहाँ लोग आपके सत्याग्रह मे शामिल भी होते है और जिनके खिलाफ सत्याग्रह होता है, उनको व्होट भी देते है। इस विरोध का विचार हमने नहीं किया है। लोकतन्त्र मे सत्याग्रह अवश्य हो सकता है। लेकिन जो लोग आपके साथ सत्याग्रह करे, वे उन्हीको व्होट दें, जिनके खिलाफ वे सत्याग्रह कर रहे है, तो वह सत्याग्रह की भूमिका नही है।

आज जिस प्रकार के सत्याग्रह हो रहे है, वे आपको बुलाते है कि आइये और हमारे सत्याग्रह मे शामिल होइये! हम कहते है कि ये सत्याग्रह ही नही है। वे कहते है कि ठीक है, हमारा सत्याग्रह अगर सही सत्याग्रह नहीं है, तो तुम सही सत्याग्रह करो। हम सही सत्याग्रह कर रहे हैं, तो लोग पूछते है कि हम तुम्हारे सत्याग्रह मे शामिल हो सकते है या नही? यदि आप कहते है कि नहीं शामिल हो सकते तो आपके सत्याग्रह मे जो शामिल हो सकते हैं, वे थोड़े-से ही आदमी होंगे।

सवाल है कि आप यह सत्याग्रह किसके नाम पर करते है? अपने नाम पर करते है, तो किसीको कुछ कहना नही है। लेकिन अगर यह कहते हैं कि यह विनोबा का सत्याग्रह है, तो वह सत्याग्रह ऐसा होना चाहिए, जिसे विनोबा स्वीकृति दे। वह तो कहता है कि 'मैं सत्याग्रह के नाम से ही घबड़ाता हूँ।' तो आप कहते हैं कि 'कायर हो गये, क्रान्तिकारी नही रहे।' 'तब तू मुझसे पूछने क्यो आता है? मेरे नाम पर क्यों करना चाहता है? अपने नाम पर कर, अपनी छाप का सत्याग्रह कर! यह तुझे अधिकार है, हरएक को अधिकार है।'

सत्याग्रह और हिंसा

बिलकुल शुद्ध सत्याग्रह तो शायद होगा ही नही। उसमें थोड़ी-बहुत हिंसा तो होगी ही। गाधी के वक्त मे हुई थी, हमारे सत्याग्रह में भी कुछ-न-कुछ होनेवाली है, भले ही वह कम-से-कम हो। आज परिस्थिति ऐसी है कि जहाँ सत्याग्रह होता है, वहाँ गाधी के जमाने में जितनी हिसा होती थी, उससे कुछ अधिक ही होती है, कम नही। ऐसी परिस्थिति मे जिसको हमने नेता माना, उसके हृदय मे सत्याग्रह का प्रत्यय नही है। इस परिस्थिति मे हमको सत्याग्रह करना होगा। दबाव से आप काम ले सकते हैं, लेकिन दबाव परिस्थिति का होना चाहिए प्रत्यक्ष बल-प्रयोग का नहीं। वह नैतिक होना चाहिए।

नैतिक दबाव तब होगा कि जिस दोष को मिटाने के लिए आप झगड़ा कर रहे हैं, वह दोष आपमें नहीं होना चाहिए। उस समूह में वह दोष नहीं होना चाहिए जो सत्याग्रह करता है। अंग्रेजों से हम कहते थे कि तुम्हारे साम्राज्य के खिलाफ हमारा सत्याग्रह है, तो उसके साथ-साथ यह भी कहते थे कि हमारा देश किसी देश पर हुकूमत नहीं करेगा। हम नहीं चाहते कि हमारा राज्य किसी दूसरे देश पर हो। जब हम यह कहते हैं कि मालकियत और मिल्कियत मिटेगी, तो वह सिर्फ कहने की बात नहीं रह गयी; हम भी मालकियत और मिल्कियत छोड़ देंगे।

सत्याग्रही में ये गुण आने चाहिए :

अस्पृश्यता-निवारण सत्याग्रही के जीवन में हो चुका है। हिन्दू-मुस्लिम एकता में उसका विश्वास है। वह कताई और खादी का आचरण करता है। सत्याग्रहियों के जैसे नियम गांधीजी ने बनाये थे, उसी तरह की कुछ आपकी शर्तें होंगी। उसमें सबसे बड़ी शर्त यह होगी कि जिस मालकियत और मिल्कियत को मिटाने के लिए यह सत्याग्रह है, वह सत्याग्रही के पास नहीं। जितनी थी, उसका विसर्जन करने के लिए वह तैयार है, उसका उसने संकल्प कर लिया है। उसके पीछे ये सारी शर्तें हों, तो कोई वजह नहीं कि सत्याग्रह न हो सके। यह अपनी सामर्थ्य की बात है।

संदर्भ बदल गया है, इतनी बात आपको खूब समझ लेनी चाहिए। प्रातिनिधिक सत्ता के खिलाफ जहाँ सत्याग्रह होगा, वहाँ आपको यह देख लेना होगा कि जिस संस्था के खिलाफ सत्याग्रह हो रहा है, उन्हीं आदमियों को व्होट दोबारा नहीं मिल जाता है। यह सारा विचार उसके साथ करना होगा।

किसान-मजदूरों की समस्या

एक प्रश्न किया गया है कि सर्वोदय-आन्दोलन में मजदूर और किसानों की समस्या का स्वरूप क्या है ? मजदूरों के काम के घंटे कम हों, उनकी मजदूरी बढ़े, उनकी सुख-सुविधा बढ़े, यह कैसे हो ?

मजदूर की समस्या के दो स्वरूप हैं। एक यह कि हम मजदूर को अधिक वेतन दिलायें, उसके काम के घंटे कम करें और जीवन की सुविधाएँ उसको अधिक दिलायें। लेकिन यह असली क्रान्ति का उपाय नहीं है। असली क्रान्ति का उपाय यह है कि 'वेज अर्नर'— मजदूर नाम का कोई व्यक्ति न रहना चाहिए। मजदूरी लेकर काम करनेवाला समाज में कोई न होना चाहिए। इसलिए कारखानों की मालकियत को हम समाप्त करना चाहते हैं। आज

कारखाने की मालकियत सार्वजनिक करने मे कम-से-कम इस देश मे राज्य की मालकियत मे उसे परिवर्तित करना होगा। हमारे देश मे अब तक ऐसी सार्वजनिक मनोवृत्ति नही है कि कोई सार्वजनिक कॉर्पोरेशन, सार्वजनिक मालकियत, बन जाय। मजदूरो का ही कॉर्पोरेशन, उत्पादको का ही कॉर्पोरेशन मालिक बन जाय और वह सार्वजनिक हित के लिए कारखाने चलाये, इस प्रकार की कोई परिस्थिति इस देश में हम नही बना सकते।

ये जो बड़े-बडे कारखाने है, उनका राज्यीकरण होगा। इन कारखानो के लिए दूसरा तरीका नहीं है। इनके लिए आज अगर आप कॉर्पोरेशन स्थापित करेंगे, तो वे भी कारखानेदार बन जायेंगे। कॉर्पोरेशनो का पूँजीवाद आ जायगा। राज्य मे कम-से-कम इतना है कि वह आपके प्रतिनिधि के हाथ मे रहता है। कॉर्पोरेशन अगर उत्तरदायी हों, 'फक्शनल' (व्यवसायाश्रित) हो— जैसे युगोस्लाविया मे बने हुए है, तो उसमे से बीच का एक रास्ता हो सकता है। समाजवाद आज इस कोशिश मे है कि राष्ट्र का स्वामित्व न हो और अन्य प्रकार से सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित हो सके। इसके मार्ग हमारे देश मे भी खोजे जा सकते हैं।

अभी हम तो उद्योग के क्षेत्र का विचार कर रहे है। इसके लिए इस बात की आवश्यकता है कि मालिको और मजदूरो का कोई निहित स्वार्थ न बन जाय। मान ले कि जूता बनानेवाले चमारों ने एक को-ऑपरेटिव्ह सोसाइटी बनायी और कहा कि दस रुपये से कम मे जूता नही बेचेंगे। उधर खरीदारों ने भी अपनी एक को-ऑपरेटिव्ह बना ली और कहा कि हम आठ रुपये से ज्यादा नहीं देंगे। इस तरह दो निहित स्वार्थ होते है, तो उसमे से सघर्ष पैदा होता है।

झगड़ा या सौदेबाजी करने की अपेक्षा अच्छा यह होगा कि मालिको के मत-परिवर्तन की कोशिश हो। उन लोगो को सार्वजनिक मालकियत की तरफ लाने का प्रयत्न होना चाहिए। मान लीजिये कि ट्रेड यूनियन है। कोई मालिक कहता है कि मजदूर से आठ घटे की जगह चार घंटे काम लेना है। उसके साथ-साथ वह यह भी कहता है कि आठ घटे का वेतन नहीं, सोलह घटे का वेतन दूँगा। सोलह घटे का वेतन और आठ घटे के बदले चार घटे काम! अगर मालिक ऐसा कर देता है, तो क्या मजदूर कोई क्रान्ति चाहेंगे?

मजदूर एक तो अपनी मजदूरियाँ मिलाकर एक कर ले, दूसरे, मजदूर-यूनियन यह कहे कि कोई मजदूर नियत घटो से कम काम नहीं करेगा और हमारी यूनियन मे कोई मजदूर अकुशल और काम-चोर नहीं होगा। ये ठोस

बातें उनके जीवन में आ जानी चाहिए। तब मजदूरों में सामर्थ्य आयेगी। गांधीजी के सामने अहमदाबाद में मजदूर-सत्याग्रह के वक्त मजदूरों ने निश्चय किया कि हम चंदे से नहीं जीयेंगे, कोई-न-कोई उद्योग करेंगे। नतीजा यह हुआ कि वे आश्रम के मकान बनाने के लिए ईंटें उठाते थे। जब ऐसी विधायक मनोवृत्ति आती है, तब उसका नैतिक दबाव पड़ता है। अगर यह नहीं होता, तो केवल संख्या का दबाव रहेगा और उससे उसकी भूमिका बदल जायगी। यह सोचना ठीक नहीं कि हमारे यहाँ मजदूरों के संगठन के लिए स्थान नहीं है।

असफलता से निराश न हों

यहाँ हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि जब तक समाज का ढाँचा नहीं बदलता, तब तक क्रान्ति के प्रयोग पूरी तरह सफल नहीं हो सकते। जैसे ग्रामदानी गाँव मँगरौट में ग्राम-स्वराज्य का संपूर्ण चित्र दिखाई देना चाहिए। पर आज यह संभव नहीं है। यह मान्यता असमर्थता में से नहीं आयी है, यह वैज्ञानिक मान्यता है। समाज का परिवर्तन आप करना चाहते हैं, पर आज समाज के नाप अलग हैं। आप अपने छोटे-से क्षेत्रों में एक प्रयोग कर रहे हैं और सोच रहे हैं कि यह प्रयोग क्रान्ति का संपूर्ण दर्शन करायेगा। उसके लिए आपको आज के पैमाने छोड़ देने होंगे। संपूर्ण दर्शन का मतलब क्या है? आपने खेती की, फसल हो गयी, यह संपूर्ण दर्शन हुआ। लेकिन आपने खेती की और आप स्वावलम्बी नहीं हुए, क्योंकि अन्न के भाव आपके हाथ में नहीं है, तब आप कहते हैं कि प्रयोग असफल हुआ। प्रयोग क्रान्तिकारी करते हैं, पर पैमाने लेते हैं बाजार के। ये कुछ ऐसी चीजें हैं, जिनके कारण हमारे प्रयोग असफल साबित होते हैं। आपके सत्याग्रह के प्रयोग हों या कोई भी प्रयोग हो, यह बात मान लीजिये कि अगर सत्याग्रह सफल होगा, तो वह अंतिम सत्याग्रह होगा या सत्याग्रह के बिना भी सफलता होगी। बयालीस के आन्दोलन में असफलता हुई, उसके बाद स्वराज्य आया। जब हम क्रान्ति का वैज्ञानिक विचार करते हैं, तो उसमें इतना अवश्य समझना चाहिए कि हर क्रान्ति में असफलता क्रान्ति का एक मुकाम है। असफलताओं की ऐसी कई मंजिलें होंगी। मुकाम कितने होंगे—यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है। जन-शक्ति पर, लोक-शक्ति पर और हमारे पुरुषार्थ पर यह निर्भर है। परन्तु इतना अवश्य है कि ऐसी मंजिलें बीच-बीच में आती रहेंगी। ●

९-२-'६०

खेतिहर मजदूर : कार्यकर्ता : चोरबाजारी :२२:

सवाल था कि कृषक-मजदूरो का सगठन हो सकता है या नही ? इस सवाल के दो पहलू है। एक तो यह कि कृषक-मजदूर क्या मजदूर ही बने रहना चाहते है या किसान बनना चाहते है, मालिक बनना चाहते है ? भूदान-यज्ञ मे हमारी जो योजना है, वह यह है कि कृषि के क्षेत्र मे मजदूर कोई न रहे, सभी मालिक बन जायँ। पहले सब मालिक बनें और बाद मे मालकियत का विसर्जन हो। दोनो प्रक्रियाएँ साथ-साथ चले। एक तरफ तो जो मालिक है, वे अपनी मालकियत का विसर्जन करे और दूसरी तरफ ये मालिक अपनी मालकियत में उनको शामिल करते चले जायँ जो गैर-मालिक है। ये दो प्रकार की प्रक्रियाएँ है और दोनो साथ-साथ चलनी चाहिए।

जब हम यह कहते है कि कृषक-मजदूरो का सगठन होगा, तो उसमे एक थोड़ी-सी नाजुक चीज आ जाती है कि मजदूर और छोटे मालिक, दोनो मे सघर्ष पैदा न हो। छोटे मालिक और बड़े मालिक एक हो जायँ और मजदूर एक तरफ हो जायँ—इस तरह अगर वर्ग-सघर्ष होने लगा, तो उसमें से लाभ नही होगा। गैर-मालिक और छोटे मालिक दोनो एक हो जाने चाहिए। दोनो मे एकता का मतलब है, इनकी प्रत्यक्ष व्यावहारिक एकता और हार्दिक एकता। यह अगर स्थापित हो सकती है, तब तो समझना चाहिए कि इसमे से क्रान्ति होगी। यह अगर नही हो सकती, मालिक एक तरफ और गैर-मालिक एक तरफ रहते है, तो उसका नतीजा यह होगा कि छोटे मालिको को गैर-मालिक बनाना पड़ेगा।

सारे किसान गैर-मालिक बन जायँ, किसान बन जायँ, तो एक तरफ 'प्रोलितारिएत' (सर्वहारा) और दूसरी तरफ 'बुर्जुआ' या मालिक रहेंगे। कृषि के क्षेत्र मे यह बहुत नाजुक समस्या है, क्योकि उस क्षेत्र मे छोटे मालिको की सख्या अधिक है। खेती मे केवल बडे मालिकों को हटा देने से मालकियत नहीं मिटती। बडे मालिकों की मालकियत समाप्त कर देना कृषि के क्षेत्र मे काफी नहीं है। जब हम किसानो के संगठन की बात करते हैं, तब इतनी बातो का ध्यान रखना आवश्यक है।

एक और समस्या है। मिल के मजदूरों के काम के घंटे कम हों और वेतन बढ़े, यह आन्दोलन आप करा सकते हैं, लेकिन खेती के मजदूरों के काम के घंटे कम हों और मजदूरी बढ़े, यह कराना बड़ी टेढ़ी खीर है। खेती के मजदूरों की मजदूरी जिस दिन बढ़ेगी, उस दिन छोटे मालिक परेशान हो जायँगे। वे अपनी मालकियत नहीं रख सकेंगे। आखिर यही तो देहाती क्षेत्र में हो रहा है। बीड़ी बनाने के काम में दो-तीन रुपये रोज मिल जाते हैं और सड़क पर काम करने के डेढ़ से लेकर दो रुपये तक मिल जाते हैं। कोई किसान यह मजदूरी नहीं दे सकता। इसलिए छोटे किसान को मजदूर नहीं मिल पाते। इसका एक उपाय सोचा गया है कि सभी मजदूरों की मजदूरी अनाज में दी जाय, पैसे में न दी जाय। लगान, मजदूरी और तनख्वाह तीनों के बारे में विनोबा एक सुझाव देते हैं। वे कहते हैं कि ये सबके सब अनाज के रूप में दिये जायँ। तनख्वाह का एक हिस्सा अनाज के रूप में दिया जाय। परिवार की अन्न की जो आवश्यकताएँ हैं, वे सब अन्न के रूप में पूरी की जायँ।

खेतिहर मजदूर

आज की वस्तुस्थिति यह है कि मजदूरी से पेट भर जाय, तो खेती का मजदूर मालिक नहीं बनना चाहता। आप उससे कहिये कि हम तुम्हें पाँच एकड़ जमीन देते हैं, पर उसके साथ तुम दूसरा कोई रोजगार नहीं कर सकते, तो वह कहेगा कि आज दूसरों की खेती में मजदूरी करके मुझे अपने लिए जो मिलता है, उतना भी शायद इससे पैदा न हो।

मजदूर को मजदूर रहने में तभी तक लाभ दिखाई देगा, जब तक उसको अधिक वेतन दे सकनेवाला मालिक है। जिस दिन बड़े मालिक बहुत थोड़े रह जायँगे और स्वयं खेती न कर सकेंगे, उस दिन ये सारे-के-सारे मजदूर या तो मालिक बनेंगे या फिर यह कहेंगे कि सारी खेती का राष्ट्रीकरण होना चाहिए। यह तो समाजवाद की प्रक्रिया है। उन्होंने यही चित्र देखा है। सन् १८४८ में छपे कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में यह कल्पना की गयी है।

कार्यकर्ताओं का सवाल

कार्यकर्ताओं के सम्बन्ध में एक प्रश्न किया गया है। कार्यकर्ताओं का सवाल मैं कुछ बुनियादी तौर पर आपके सामने रखूँ।

हमारे मन में व्यावहारिकता का एक भूत है। व्यावहारिकता असलियत नहीं, परछाँही है। हमारे देश में वेतनभोगी सार्वजनिक सेवकों की प्रतिष्ठा अब

तक कायम नहीं हुई। यहाँ पर दक्षिणा का महत्त्व है, भीख का महत्त्व है। अपने चरितार्थ के लिए समाज से प्रतिग्रह लेकर जो काम करता है और सार्वजनिक सेवा करता है, उसकी प्रतिष्ठा हमारे यहाँ नहीं है। गाँव के लोगो को गाली देकर बहुत अच्छा भोजन दो व्यक्ति पाते है—एक है पुलिस का सिपाही और दूसरा है बैरागी। एक डंडावाला, दूसरा चिमटावाला! वे गाँववालो को हमेशा कच्ची-पक्की बाते सुनायेगे और फिर भी आनंद से भोजन पायेगे। एक भगवान् को भोग लगाता है और दूसरा सत्ता को। लेकिन जो लोगो की सेवा करता है, उसकी कोई प्रतिष्ठा नही है। इस मूल्य की स्थापना हम अब तक नहीं कर पाये। प्रयोग यहाँ तक हुए है कि राजेन्द्र बाबू, राजाजी, प्रफुल्लचद्र घोष जैसे महान् कार्यकर्ता भी वेतन लेकर सार्वजनिक सेवा का प्रयोग कुछ दिन कर चुके है। फिर भी उनकी अपनी व्यक्तिगत जो प्रतिष्ठा थी, वह प्रतिष्ठा इस कारण कुछ कम हुई। सारा त्याग करने के बाद भी वे लोग कुछ न लेते, तो उसकी प्रतिष्ठा अधिक रहती। याने सारा त्याग करने के बाद अपनी सपत्ति मे से वे ऐसी योजना कर देते कि १५०-२०० रुपये उन्हे उम्रभर मिलते रहे, फिर सारी बची हुई सपत्ति समाज को दे देते, तो वे अधिक प्रतिष्ठित माने जाते; बनिस्बत इसके कि सारी संपत्ति समाज को अर्पित करके निर्वाह के लिए समाज से लेते। जो अपने लिए पहले बैक मे सौ रुपयो के हिसाब से पचास साल के लिए जमा कर ले, वह अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है और जो सारी संपत्ति समाज को देकर कहता है कि मेरा खर्च आप चलाइये, तो सभी लोग यह समझते है कि हम इस पर उपकार कर रहे हैं।

लोगो की नजर उसके बैंक पर तब जाती है, जब उसने अपने चरितार्थ से कुछ अधिक रखा हो। बहुत होगा तो लोग यही न पूछेगे कि आपका बैंक का अकाउंट क्या है? वह कहेगा कि इतना-इतना है, इतना खर्च करता हूँ। 'ब्याज लेते हो?' 'ब्याज नही लेता। जितना ब्याज मिलता है, वह सारा सार्वजनिक संस्थाओं को दे देता हूँ।' तो वह अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। आज समाज मे यह परिस्थिति है।

इस परिस्थिति मे हमे काम करना है।

एक दूसरी परिस्थिति है। जिस प्रकार की क्रान्ति आप करना चाहते है, उस क्रान्ति में अगर एक कोई ऐसी मद हो, जिसे समाज मान्य नहीं करता, तो जिस दिन आप उसका अमल करने लगेंगे, उसी दिन से समाज आपका भरण-पोषण नहीं करेगा। आपका विरोध शुरू हो जायगा और वह यहाँ तक जा सकता है कि रहने के लिए उसने जो मकान दिया है, उसमे वह आग

लगा दे। तो, हमारे परंपरागत संस्कारों का विरोध, उसमें से पैदा होनेवाले अपमान और परंपरागत रूढ़ियों के कारण पैदा होनेवाले विरोध और उसमें से पैदा होनेवाली यंत्रणाएँ जो कार्यकर्ता सह सकता हो, वही लोकाधारित हो सकता है। लेकिन लोकाधारित होने से पहले इतनी परीक्षाओं में से उसे उत्तीर्ण हो जाना होगा।

अप्पासाहब पटवर्धन रत्नागिरि जिले में काम करते हैं। रत्नागिरि के सारे लोग उन्हें पूज्य अप्पासाहब कहते हैं। लेकिन जिस दिन उन्होंने कहा कि संयुक्त महाराष्ट्र का झगड़ा नहीं करना चाहिए, उस दिन उनका आश्रम जलाने के लिए लोग पहुँच गये। उन्होंने कहा कि आपका अधिकार है। यह आश्रम आपने ही बनाया है। इस शरीर को भी जलाने का अधिकार आपको है। इस तरह जिसने अपने शरीर को ईश्वरार्पण करते हुए लोक-समर्पित कर दिया हो, परीक्षा के बाद उसके चरितार्थ का सवाल नहीं रहेगा। जिसके चरितार्थ का सवाल रहेगा, उसकी स्थिति यह रहेगी कि वह अपने सहयोगियों के ऊपर निर्भर रहेगा। परिवार में जिस तरह कमानेवाले पर सब निर्भर रहते हैं, उस तरह अपने सहयोगियों पर, साथी समर्थ कार्य-कर्ताओं पर वह निर्भर रहेगा। उनके मन में अहंकार हो और वे यह समझें कि हम इसका भरण-पोषण कर रहे हैं, तो वह उनका दोष है। लेकिन इसकी तो असमर्थता है ही। यह वस्तुस्थिति है। जो सामर्थ्यवान् है, उसे अभिमान हो रहा है, पर यह क्या सर्वोदय के अनुकूल है? नहीं, बिलकुल प्रतिकूल है। तो, क्या यह क्रान्ति के अनुकूल है? नहीं, बिलकुल प्रतिकूल है। मैं कहता हूँ, मेरे स्वाभिमान को ठेस लगती है। तो वह कहेगा कि फिर मुझ पर निर्भर मत रहो।

यह है कार्यकर्ताओं के निर्वाह की समस्या। जब-जब यह सवाल उठा है, मैं शब्दों में बतला नहीं सकता कि मेरे चित्त में कितनी वेदना होती है। जिस देश में हम क्रान्ति करना चाहते हैं और जहाँ कार्यकर्ता सर्वस्व का परित्याग करके आता है, वहाँ उसके निर्वाह की चिन्ता रहती है।

इसलिए कभी-कभी मैंने सोचा कि लोकाधारित होने की अपेक्षा संस्थाश्रित होना अधिक सुरक्षित है, क्योंकि वह अस्पृश्यता-निवारण कराता है, इसलिए संस्था उसका निर्वाह बन्द नहीं करेगी। हाँ, चारित्र्य-दोष के लिए वह ऐसा कर सकती है, पैसे के दुरुपयोग के लिए कर सकती है। ये सार्वजनिक दोष हैं। लेकिन क्रान्ति का कार्यक्रम वह जब तक ईमानदारी के साथ और अपनी शक्ति लगाकर कर रहा है, तब तक संस्था कम-से-कम उसका निर्वाह बन्द नहीं करेगी। यह बात मेरे मन में कभी-कभी आती है। लेकिन संस्था और संगठन

के आधार पर अगर कार्यकर्ता चलता है, तो उसका लोक-संपर्क कम हो जाता है। उसकी तरफ लोगों की निगाह यह होती है कि यह तनख्वाह लेनेवाला है। हम ऐसे अभागे देश मे रहते हैं कि जहाँ दो वक्त सूखी रोटी खानेवाला भी सुखी माना जाता है। साधु अगर लोगो से माँगकर हलुआ-पूडी खा लेता है और गाँजा पी लेता है, तो भी लोगो को शिकायत नही होती। पर कार्यकर्ता अगर किसी संस्था से थोडा-सा वेतन लेकर दोनो वक्त सूखी रोटी भी खाता है, तो गाँव का आदमी उससे ईर्ष्या करता है।

इतनी आपत्तियो मे से हमे कार्यकर्ता का सवाल हल करना है।

इसका जवाब क्या है ? मुख्य जवाब तो यह है कि वेतनभोगी कार्यकर्ता क्रान्ति कर सके, ऐसा बहुत कम होता है। क्रान्ति तो जनता करती है, नागरिक करते है या फिर क्रान्तिकारी दल करता है। उस क्रान्तिकारी दल मे, क्रान्तिकारी समूह मे, भी अधिकतर ऐसे व्यक्ति होते है, जो वेतनभोगी नही होते। कौन कहाँ से लाता है, कोई हिसाब नही। जहाँ चार आदमी रहते थे, खा लेते है। कौन लाता है ? सब मिलकर लाते है। जहाँ से ला सकते है, वहाँ से लाते है। कितना लाते है ? कोई कम लाता है, कोई ज्यादा। वह सब इकट्ठा कर लिया जाता है—इस प्रकार सारा काम चलता है। लेकिन ऐसे आदमी भी मुट्ठीभर होते है। तो, कार्यकर्ताओ मे परस्पर बन्धुत्व की भावना के सिवा और कोई उपाय नहीं है। जितना उपार्जन होता है, सबका माना जाय और जो निवास-स्थान है, वह भी सबका एक हो।

अब हम देखे कि इसका अनुभव क्या आता है ?

एक कार्यकर्ता सारा सपत्ति-दान इकट्ठा करता है। वह है, उसकी स्त्री है, उसका बच्चा है। दूसरे कार्यकर्ता लगातार यह सोचते रहते है कि इसके हाथ मे सारा पैसा आता है, तो यह अवश्य हम लोगो से कुछ अधिक लेता है। नहीं तो इसकी स्त्री के पास नयी साडी कहाँ से आयी ? कार्यकर्ताओ मे आपस मे ऐसा अविश्वास है।

हमने लोक-प्रतिनिधियों के चुनाव किये, लोक-सेवको के चुनाव किये। दूसरी पार्टियों के चुनाव से ये चुनाव बहुत अच्छे हुए, यह मैं नहीं मानता। इसलिए जब यह सविधान आया, तो मैंने पठानकोट मे कहा कि सर्व सेवा संघ के लिए यह अशुभ दिन है। कार्यकर्ताओ ने भी इसे माना। यह अशुभ दिन क्यो है ? इसलिए कि हमने स्नेह-सबध से वैधानिक सबध की दिशा मे कदम रखा।

एक प्रमुख शहर मे दगा हुआ। शाति-सैनिको ने काम किया। एक शांति-सैनिक ने लिखा कि ये दूसरे शाति-सैनिक झूठे है। दूसरे मुझे कहते है कि उन झूठों ने कह दिया और आपने उस बात को मान लिया। तो, अब मै क्या करूँ? एक शाति-सैनिक दूसरे शाति-सैनिक के बारे मे जितनी अच्छी बातें लिखता है, उतनी ही मैं मानूँ और बाकी छोड़ दूँ—इसके सिवा मै क्या कर सकता हूँ? जहाँ कार्यकर्ताओं मे आपस मे इस प्रकार की परिस्थितियाँ है, सत्ता की ईर्ष्या है, संपत्ति की ईर्ष्या है, वहाँ आत्म-परीक्षण का अवसर है कि हम किस द्रव्य के, किस धातु के बने है। हमने इस पर नहीं सोचा है, इसीलिए समस्या है। नहीं तो यह समस्या नहीं रहनी चाहिए थी।

इस देश मे बहुत बडे-बडे आन्दोलन हुए। स्वतन्त्रता के आन्दोलन में यह समस्या थी, पर वह इस रूप मे नहीं आयी। आती भी कैसे? किससे कहते कि अब मैं सत्याग्रह करने जा रहा हूँ? कौन जिम्मेदार होगा, कौन जानता है? उन्होंने शर्त लगा दी थी कि जो आदमी सत्याग्रह मे भाग लेगा, वह अपने परिवार के लिए कोई सहायता नहीं माँगेगा। यह पहली शर्त थी, जो प्रत्यक्ष रूप मे करनी पड़ती थी। जयप्रकाश बाबू ने जीवनदान के समय यह बात जाहिर की थी। फिर भी आपने देखा कि हजारों जीवनदान हो गये। इसका कारण यह है कि इस देश में सत्ता, संपत्ति और शस्त्र की जितनी कीमत रही है, उतनी जीवन की नहीं रही—न अपने जीवन की, न दूसरे के जीवन की। इसका मतलब यह नहीं कि वे सब शूर है, अपनी जान दे देने के लिए तैयार है। जीवन ही इतना शुष्क है कि उसे दे देने मे कोई हिचक नहीं है। निःसार हो गया है बहुत-सा!

एक अंश में तो मै जिंदगीभर एक सुखी सेवक रहा हूँ, अगर मुझे 'सेवक' कहा जाय तो। मुझे कोई तकलीफ कभी हुई ही नहीं। इसी कारण मेरा दृष्टिकोण आशावादी हो सकता है। मुझसे जिन लोगों का बहुत तीव्र मतभेद रहा, उन्होंने भी मुझे कभी सताया नहीं—न सरकार ने और न सनातनियों ने ही। सनातनियों ने क्वचित् मेरा सौम्य बहिष्कार किया, लेकिन कष्ट नहीं दिये। शायद इसी कारण मेरी ऐसी मनोवृत्ति बनी हो। फिर भी मैं जितने तटस्थ भाव से सोच सकता हूँ, उतनी तटस्थता से सोचकर कार्यकर्ताओं की यह समस्या मैंने रखी है।

कार्यकर्ता को जहाँ तक हो सके, आत्म-निर्भर ही होना चाहिए। आत्म-निर्भरता के दो पहलू है। एक पहलू यह कि वह किसीसे कुछ नहीं माँगता। दूसरे से जो पाता है, उसका बोझ उसके मन पर नहीं होता। दूसरा पहलू यह

है कि जिस क्षेत्र मे रहता है, उस क्षेत्र मे स्वाभिमान के साथ रहता है और वहाँ के लोग उसका निर्वाह चलाते हैं। ये दो प्रकार के पुरुषार्थ है, जिनसे उपार्जन हो सकता है। एक तो वह अपने लिए क्षेत्र बना लेता है—उपार्जन का क्षेत्र नहीं, कर्म और स्नेह का। दूसरे, उसे आनुवंशिक रूप से योगक्षेम प्राप्त हो जाता है। उसके लिए प्रयास नही करना पडता।

तीसरा तरीका यह है कि हमारा ऐसा कोई परिवार हो, जिसमे हम दूसरों पर निर्भर रह सके। पर यह खूब याद रखिये कि व्यक्ति का आश्रय होगा या संस्था का। व्यक्ति आपका सहयोगी कार्यकर्ता हो सकता है या सपत्तिदाता भी।

यह क्रान्ति का कार्य ही कुछ अद्भुत पराक्रम का कार्य है। प्राचीन वीर पुरुषो और साधु-संतों ने जो चमत्कार किये, उनसे कम मूल्य इस चमत्कार का नहीं है।

एक दफा केमिस्ट्री के एक प्रोफेसर से पूछा गया कि यह कठिन प्रयोग हम किससे करायें? इतना भयंकर प्रयोग है कि हमारी हिम्मत नहीं होती। तो उन्होंने जवाब दिया कि उसे ऐसे बेवकूफ से कराओ, जो यह नही जानता कि यह काम होना असम्भव है। यह बताने के बाद लेखक लिखता है, लेनिन ऐसा बेवकूफ आदमी निकला। कोई अक्लमद होता, तो सोचता कि यह कितनी अव्यवहार्य वस्तु है, जिसे मैं कर रहा हूँ। हिसाब करता, विवेक करता, आगे-पीछे की बात सोचता।

मैक्सिको का एक नेता था, उसका नाम था बालिव्हर। उसने मैक्सिको मे क्रान्ति की। मैक्सिको ऐसी जगह मानी जाती थी, जहाँ क्रान्ति होना असम्भव चीज थी। लेकिन बालिव्हर ने वहाँ क्रान्ति की। उससे पूछा गया कि तुम हिम्मत कैसे कर सके? तो उसने कहा कि आज तक के सारे इतिहास मे तीन मूर्ख-शिरोमणि हुए। कौन-कौन थे वे? ईसा, डॉन क्विकजोट और मै। दो मूर्ख-शिरोमणियो के पीछे मै गया, इसलिए यह काम कर सका।

तो, एक बात आप गाँठ बाँध लीजिये कि क्रान्ति जब शुरू होती है, तब व्यवहार्य कभी नहीं होती। व्यवहार्य तब मालूम होती है, जब वह सम्पन्न हो जाती है। सम्पन्न होने से पहले जिनको वह व्यवहार्य मालूम होती है, वे समाज में 'बुद्धिमान्' नही माने जाते। बुद्धिमान् से मतलब 'सयाने'। प्रतिभावान् माने जाते हैं, लेकिन वे व्यवहार-चतुर नही माने जाते। हम जिस क्रान्ति का विचार कर रहे हैं, वह क्रान्ति तो आज के क्रान्तियो से और भी थोडी मुश्किल है। परिस्थिति अनुकूल है, लेकिन मनुष्य की मनोवृत्ति परिस्थिति के साथ कदम नहीं मिला सकी है। विज्ञान का विकास अद्भुत हुआ है। उसके अनुरूप

एक प्रमुख शहर मे दंगा हुआ। शांति-सैनिको ने काम किया। एक शांति-सैनिक ने लिखा कि ये दूसरे शांति-सैनिक झूठे हैं। दूसरे मुझे कहते है कि उन झूठो ने कह दिया और आपने उस बात को मान लिया। तो, अब मैं क्या करूँ? एक शांति-सैनिक दूसरे शांति-सैनिक के बारे में जितनी अच्छी बातें लिखता है, उतनी ही मै मानूँ और बाकी छोड दूँ—इसके सिवा मै क्या कर सकता हूँ? जहाँ कार्यकर्ताओ में आपस मे इस प्रकार की परिस्थितियाँ है, सत्ता की ईर्ष्या है, संपत्ति की ईर्ष्या है, वहाँ आत्म-परीक्षण का अवसर है कि हम किस द्रव्य के, किस धातु के बने है। हमने इस पर नहीं सोचा है, इसीलिए समस्या है। नहीं तो यह समस्या नहीं रहनी चाहिए थी।

इस देश में बहुत बड़े-बड़े आन्दोलन हुए। स्वतन्त्रता के आन्दोलन में यह समस्या थी, पर वह इस रूप मे नहीं आयी। आती भी कैसे? किससे कहते कि अब मैं सत्याग्रह करने जा रहा हूँ? कौन जिम्मेदार होगा, कौन जानता है? उन्होने शर्त लगा दी थी कि जो आदमी सत्याग्रह मे भाग लेगा, वह अपने परिवार के लिए कोई सहायता नहीं मॉगेगा। यह पहली शर्त थी, जो प्रत्यक्ष रूप से करनी पडती थी। जयप्रकाश बाबू ने जीवनदान के समय यह बात जाहिर की थी। फिर भी आपने देखा कि हजारो जीवनदान हो गये। इसका कारण यह है कि इस देश मे सत्ता, संपत्ति और शस्त्र की जितनी कीमत रही है, उतनी जीवन की नहीं रही—न अपने जीवन की, न दूसरे के जीवन की। इसका मतलब यह नहीं कि वे सब शूर है, अपनी जान दे देने के लिए तैयार है! जीवन ही इतना शुष्क है कि उसे दे देने मे कोई हिचक नहीं है। निःसार हो गया है बहुत-सा!

एक अंश मे तो मै जिंदगीभर एक सुखी सेवक रहा हूँ, अगर मुझे 'सेवक' कहा जाय तो। मुझे कोई तकलीफ कभी हुई ही नहीं। इसी कारण मेरा दृष्टि-कोण आशावादी हो सकता है। मुझसे जिन लोगों का बहुत तीव्र मतभेद रहा, उन्होंने भी मुझे कभी सताया नहीं—न सरकार ने और न सनातनियों ने ही। सनातनियों ने क्वचित् मेरा सौम्य बहिष्कार किया, लेकिन कष्ट नहीं दिये। शायद इसी कारण मेरी ऐसी मनोवृत्ति बनी हो। फिर भी मैं जितने तटस्थ भाव से सोच सकता हूँ, उतनी तटस्थता मे सोचकर कार्यकर्ताओं की यह समस्या मैंने रखी है।

कार्यकर्ता को जहाँ तक हो सके, आत्म-निर्भर ही होना चाहिए। आत्म-निर्भरता के दो पहलू है। एक पहलू यह कि वह किसीसे कुछ नहीं माँगता। दूसरे से जो पाता है, उसका बोझ उसके मन पर नहीं होता। दूसरा पहलू यह

है कि जिस क्षेत्र मे रहता है, उस क्षेत्र मे स्वाभिमान के साथ रहता है और वहाँ के लोग उसका निर्वाह चलाते है। ये दो प्रकार के पुरुषार्थ है, जिनसे उपार्जन हो सकता है। एक तो वह अपने लिए क्षेत्र बना लेता है—उपार्जन का क्षेत्र नही, कर्म और स्नेह का। दूसरे, उसे आनुवशिक रूप से योगक्षेम प्राप्त हो जाता है। उसके लिए प्रयास नही करना पडता।

तीसरा तरीका यह है कि हमारा ऐसा कोई परिवार हो, जिसमे हम दूसरो पर निर्भर रह सके। पर यह खूब याद रखिये कि व्यक्ति का आश्रय होगा या सस्था का। व्यक्ति आपका सहयोगी कार्यकर्ता हो सकता है या सपत्तिदाता भी।

यह क्रान्ति का कार्य ही कुछ अद्भुत पराक्रम का कार्य है। प्राचीन वीर पुरुषो और साधु-सतों ने जो चमत्कार किये, उनसे कम मूल्य इस चमत्कार का नहीं है।

एक दफा केमिस्ट्री के एक प्रोफेसर से पूछा गया कि यह कठिन प्रयोग हम किससे कराये? इतना भयकर प्रयोग है कि हमारी हिम्मत नही होती। तो उन्होने जवाब दिया कि उसे ऐसे बेवकूफ से कराओ, जो यह नही जानता कि यह काम होना असम्भव है। यह बताने के बाद लेखक लिखता है, लेनिन ऐसा बेवकूफ आदमी निकला। कोई अक्लमद होता, तो सोचता कि यह कितनी अव्यवहार्य वस्तु है, जिसे मै कर रहा हूँ। हिसाब करता, विवेक करता, आगे-पीछे की बात सोचता।

मैक्सिको का एक नेता था, उसका नाम था बालिव्हर। उसने मैक्सिको मे क्रान्ति की। मैक्सिको ऐसी जगह मानी जाती थी, जहाँ क्रान्ति होना असम्भव चीज थी। लेकिन बालिव्हर ने वहाँ क्रान्ति की। उससे पूछा गया कि तुम हिम्मत कैसे कर सके? तो उसने कहा कि आज तक के सारे इतिहास मे तीन मूर्ख-शिरोमणि हुए। कौन-कौन थे वे? ईसा, डॉन क्विकजोट और मैं। दो मूर्ख-शिरोमणियो के पीछे मै गया, इसलिए यह काम कर सका।

तो, एक बात आप गॉठ बॉध लीजिये कि क्रान्ति जब शुरू होती है, तब व्यवहार्य कभी नहीं होती। व्यवहार्य तब मालूम होती है, जब वह सम्पन्न हो जाती है। सम्पन्न होने से पहले जिनको वह व्यवहार्य मालूम होती है, वे समाज मे 'बुद्धिमान्' नही माने जाते। बुद्धिमान् से मतलब 'सयाने'। प्रतिभावान् माने जाते है, लेकिन वे व्यवहार-चतुर नहीं माने जाते। हम जिस क्रान्ति का विचार कर रहे है, वह क्रान्ति तो आज के क्रान्तियो से और भी थोडी मुश्किल है। परिस्थिति अनुकूल है, लेकिन मनुष्य की मनोवृत्ति परिस्थिति के साथ कदम नहीं मिला सकी है। विज्ञान का विकास अद्भुत हुआ है। उसके अनुरूप

मनुष्य का मनोविकास नहीं हो सका। हृदय से भी नहीं और मन से भी नहीं। उसी प्रकार अहिंसक क्रान्ति के लिए आज कितनी परिस्थिति अनुकूल है, उससे अधिक अनुकूल कभी नहीं थी। लेकिन परिस्थिति की अनुकूलता के साथ मनुष्य की मनोवृत्ति उसके अनुरूप विकास नहीं कर सकी है। इसमें कार्यकर्ता भी शामिल हैं और लोक-समुदाय भी शामिल है। विज्ञान के कारण परिस्थिति की जो अनुकूलता प्राप्त हो गयी है, दुर्भाग्य से इसके लिए हम जिम्मेवार नहीं है। अगर हमारे पुरुषार्थ से परिस्थितियों में यह अनुकूलता उत्पन्न हुई होती, तो उसके अनुरूप हमारी मनोवृत्ति मे भी प्रगति हुई होती। वैज्ञानिक प्रगति के कारण परिस्थिति मे अनायास एक अनुकूलता पैदा हो गयी, लेकिन परिस्थिति के नाप का मानव नहीं बना—यह असली विरोध है।

और भी एक सवाल है। कार्यकर्ता हमारे लिए सगुण है, सजीव मूर्ति है। वह हमारे स्नेह और श्रद्धा का पात्र है। हमारे लिए दूसरे कोई साधु संत नहीं है। हमारे लिए ये कार्यकर्ता ही सब कुछ है। तो, इसका प्रश्न सजीव रूप लेकर सामने आता है।

सामाजिक अन्याय

सामाजिक अन्यायों के सम्बन्ध मे प्रश्न किये गये है। उनमे पहला प्रश्न है खाद्य-समस्या का। गल्ले का वितरण ठीक नहीं हो रहा है।

इसके बारे मे सोचना यह है कि क्या वितरण की जिम्मेवारी आप ले सकते है ? मैं यह केवल कोई तात्त्विक प्रश्न आपके सामने नहीं रख रहा हूँ। सातारा से मेरे पास एक पत्र आया कि 'यहाँ जो अन्न का वितरण होता है, वह ठीक नहीं हो रहा है। कृपा करके आप सर्वोदय के लोग इसको ले लीजिये।' यशवंतराव चह्वाण के पास जाकर अगर हम कहते, तो वे शायद कहते कि हम आपको सौंप रहे है। लेकिन जो आक्षेप सरकारी नौकरो पर होते हैं, क्या वे आप पर नहीं होते ? मुझे इसका अनुभव है।

मध्य-प्रदेश में जब रेशनिंग था, पाटिल साहब खाद्यमंत्री थे। हमारे जो मँजे हुए, परखे हुए कार्यकर्ता थे, उन लोगों को हमने लाइसेंस दिलाये। जनता ने आकर हमसे कहा कि 'पहले के व्यापारी कुछ होशियार थे, ये फूहड़ है। इससे ज्यादा इन दोनों मे कोई अतर नहीं है" हमारे यहाँ लोक-चारित्र्य का अभाव है। गुलजारीलाल नंदा जब मंत्री नहीं हुए थे तब वे राऊ के सर्वोदय-सम्मेलन मे एक लंबी शपथ-विधि की फेहरिस्त लेकर आये थे। हमने कहा था कि शपथ बहुत अच्छी है, लेकिन इनको पूरा कौन करेगा ?

यहाँ फिर वही दिक्कत आती है, जो मैने सब जगह पायी है। अगर कोई व्यक्ति मुनि सुशीलजी या मुनि तुलसीजी के सामने यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि वह रिश्वत नही लेगा, तो वह उस प्रतिज्ञा का पालन करता है, लेकिन वही प्रतिज्ञा किसी संस्था मे करता है, तो उसका पालन नही करता। इसका कारण यह है कि वह सोचता है कि मुनि सब जगह देखते हैं। यह डर उसे लगा रहता है। पर संस्था का सचालक सब जगह देख ही नही सकता। इसका उपाय हमे यह करना चाहिए कि जनता मे कुछ ऐसे लोग तैयार हो, जो अपने ऊपर जिम्मेवारी ले सके और ईमानदारी के साथ उसे निभा सके। तब यह काम होगा।

दूसरी समस्या सचय की है। व्यापारी सग्रह करके रखता है। उसके खिलाफ तीव्र लोकमत नहीं है। इसका कारण यह है कि सभी मनुष्य सग्रह रखना चाहते है—छोटे भी और बड़े भी। इसलिए लोकमत की तीव्रता पैदा नही होती। चीजों की जब कमी है, तब हमारी तरफ से 'सग्रह पाप है'—कम-से-कम इतना लोकमत बनाने की कोशिश होनी चाहिए। व्यापारियो मे भी ऐसी कोशिश हो और कृषको मे भी।

चोरबाजारी

चोरबाजारी के लिए कोई उपाय कम-से-कम मेरी समझ मे नही आता। मैने इस पर बहुत सोचा है। एक बार जवाहरलालजी ने चोरबाजारी करनेवाले को फॉसी पर लटका देने की बात कही थी। सऊदी अरेबिया और नजदीक के देशो में चोरो के हाथ काट देते है। वे लोग अपने हाथ जेब मे डालकर बाजार मे घूमते है। इसका मतलब यह हुआ कि एक दफा जिसने चोरी की, जिंदगी-भर उसके सुधार के लिए कोई गुजाइश नही। चोरबाजारी जिस समाज मे हो सकती है, उसमें दूकानदार जितना भ्रष्ट है, उतना ही ग्राहक भी है। इसके लिए जरूरी है कि समाज में से चोरबाजारिये की प्रतिष्ठा समाप्त हो। यह हम अपने समाज में कर नहीं पाये। यह एक ऐसा अद्भुत समाज है, जिसमे नैतिकता और आध्यात्मिकता की परपरा और सस्कार रहे है, लेकिन धनवान मनुष्य अनैतिक और दुराचारी हो, तब भी उसकी प्रतिष्ठा रही है। यहाँ दो बाते चाहिए। एक तो चोरबाजारिये की प्रतिष्ठा कम हो और दूसरे, घूसखोर की प्रतिष्ठा कम हो। दुर्भाग्य से हमारे देश मे ये दोनो चीजे नहीं रही। घूसखोरी करनेवाले अगर मंदिर या घाट बनवा दे, स्कूल के लिए पैसा दे दें या उसी घूस के पैसे से सत्यनारायण की कथा करा लें, तो वे लोक-निंदित नही होते।

यही बात चोरबाजारियों की है। चोरबाजार करनेवाले लोग अगर विश्वनाथजी के मंदिर में सोना मढ़वा दें, तो समाज उनको क्षमा कर देता है। दूसरों के साथ बैठकर भोजन न करना ही हमने सद्गुण माना है। व्यभिचारी मनुष्य जिस स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, उसके हाथ का भोजन वह न करे, तो वह पवित्र है। जाति-मर्यादाओं का पालन नैतिक सदाचार की अपेक्षा इस समाज में अधिक महत्त्व रखता है, यह इसका कारण है। ●

१०-२-'६०

गाँवों में शांति-कार्य : सहकार्य : २३ :

प्रश्न : गॉव मे शाति-सेना किस तरह काम करे ?

दादा : पहला काम यह होगा कि गॉव मे झगडे की सभावना कम करे। जो यह कर सकता है, उसने शाति-सेना का काम सफल कर दिया। पुलिस, अदालत और जेलखाना, इन तीनो का उपयोग समाज मे कम होना चाहिए। गॉव मे ये संस्थाएँ नही हैं, लेकिन ऐसे व्यक्ति हैं, जो इन तीनो की जगह ले सकते है। इन तीनो तरह के व्यक्तियो से आप गॉव को मुक्त कर सके, तो शांति-सेना का काम होता है।

प्रश्न : लेकिन बीच के समय मे क्या करना चाहिए ?

दादा : गॉव का झगडा अदालत मे नही गया और दो आदमियो ने धमकाकर एक को चुप बैठा दिया। अब अदालत मे तो झगड़ा नहीं गया, पर इससे क्या हुआ ? इसीलिए मैंने कहा कि वहाँ पुलिस, अदालत और जेलखाने के काम करनेवाले लोग है। एक ने दूसरे से कह दिया : 'बच्चू ! देखते है, कैसे घर से बाहर निकलते हो !' यह कहकर उसने जेलखाने का काम तो कर ही दिया। अब यह आदमी घर से बाहर निकल नहीं सकता। कोई कहता है कि 'देखते हैं, इस गॉव मे पैर कैसे रखते हो !'

प्रश्न : मध्यम मार्ग क्या है ?

दादा : मध्यम मार्ग यह है कि गॉव के तरुणो मे ऐसी शक्ति आनी चाहिए कि गॉव में गुंडों का, धनवानों का और सत्ताधारियो का भय न रहे। जब गॉव पर आफत आती है, तब तरुणों को ही आगे करते हैं।

अंग्रेजों के जमाने का मेरा अपना अनुभव है कि इस तरह के सगठनो से लाभ होता है। नागपुर मे राष्ट्रीय शाला मे हम लोग मुट्ठीभर शिक्षक थे। पहले तो बहुत थे, क्योंकि हजारों की सख्या मे विद्यार्थी आते थे। बाद मे कोई दस रहे होगे। हमने देखा कि नागपुर की किसी राजनैतिक पार्टी या सस्था मे लोगों का जितना विश्वास नहीं था, उतना हममे था। दगों मे हम लोग चले जाते थे और दंगाइयों ने अगर हमे पहचान लिया, तो कहते थे : 'भाई, ये राष्ट्रीय शालावाले आ गये। मारपीट करने से लाभ नही होगा। ये मर जायँगे,

यह ठीक नहीं है।' हम बहुत छोटे-से आदमी थे। अमीर, सत्ताधारी या बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन आठ-दस आदमी दो-तीन लाख के शहर में इतना काम कर सकते थे। केवल हमारी निःस्पृहता और तटस्थता के कारण लोग ऐसा मानते थे। काम तो सभी तरह के होते थे। किसी मरे हुए आदमी की लाश सड़ गयी हो, तो हमें उठानी पड़ती थी। भंगी की गाड़ी उलट गयी हो, तो हमें उठानी पड़ती थी। जैसे यह करना होता था, वैसे ही शहर में कुछ प्रतिष्ठित मनुष्यों के झगड़े हो जाते थे, तो उनमें भी हम बीच-बचाव करते थे। हिन्दू और मुसलमानों के दंगे में सवर्णों और अछूतों के दंगे में शांति-सेना का काम हो सकता है। यह काम देहात में भी हो सकता है।

देहात में छोटा पैमाना होने के कारण पार्टियाँ, दलबंदियाँ ज्यादा गहरी होती हैं। वे व्यक्तिगत जीवन तक पहुँच जाती हैं। इसलिए देहात में शांति का काम आवश्यक है। वहाँ अनुकूलता इस बात में है कि पुलिस का थाना कई देहातों में मिलकर एक ही होता है। देहात का जीवन आज भी बगैर पुलिस के चलता है। अदालतें अक्सर देहात में होती ही नहीं और जेलखाने भी नहीं होते। याने परिस्थिति भी अपने में बहुत अनुकूल है।

बड़े और छोटे उद्योग

प्रश्न : सरकार और मालिक बड़े उद्योग चलाते हैं, पर आप लोग सर्वोदय-संयोजन की बात करते हैं ?

दादा : इसमें हमारी जो दिक्कत है वह देखिये। इस देश के लोगों से अगर पूछा जाय कि तुम ग्रामोद्योग चाहते हो या बड़े उद्योग ? तो वे कहेंगे बड़े उद्योग। तो आप क्या जबरदस्ती उन पर लादेंगे ? आपका तो सारा काम लोकशाही से होनेवाला है। इसका एक ही उपाय है। वह यह कि ग्राम-संकल्प कराना चाहिए। इस देश के अनेक क्षेत्रों में ऐसे ग्राम-संकल्प होने चाहिए कि हमारे क्षेत्र के लिए आवश्यक उत्पादन और वितरण हमारे क्षेत्र में ही होगा। ग्राम-स्वराज्य इसका बिलकुल प्रत्यक्ष उपाय है और भावरूप उपाय है। इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है।

क्या आप यह समझते हैं कि गाँव के लोग कपड़े की मिलों या शक्कर की मिलों में पिकेटिंग करने को आ जायँगे ? उल्टे वे माँग करेंगे कि हमारे इलाके में एक मिल खोल दीजिये। वे सरकार से इस तरह की माँग करते हैं। हमारा साधन लोकशाही है। हमारे सामने यह सवाल तब आया, जब ग्रामोद्योग के व्रतों का प्रश्न उठा। मैंने कहा, यह व्रत बेकार है। व्रत की क्या जरूरत है ?

अगर आप यह चाहते है कि ग्रामोद्योग का भी विकास होना चाहिए, तो आवश्यक यह है कि जहाँ-जहाँ नयी मिले खुलती हो, वहाँ जाकर विरोध करना चाहिए। तब धीरेनभाई ने मुझसे कहा कि हम मिलो का विरोध करने पहुँचेगे और जिनकी हम उन्नति चाहते हैं, वे गाँववाले उनका स्वागत करने पहुँचेगे। इसलिए हम व्यक्तिगत आचरण से आरंभ करते है और आपसे भी कहते है कि आप भी व्रत लीजिये।

यह इसमे एक बहुत बड़ी दिक्कत है। इसलिए यह चीज नहीं हो रही है। हम अभी लोगो को यह बात नही समझा सके है। उद्योगीकरण अपने मे बहुत बडा आकर्षण है। हमारे यहाँ स्टेशन आ गया, तो यह गौरव की बात है। मिल आ गयी, तो वह भी गौरव की बात मानी जाती है। ये सब तरक्की की निशानियाँ मानी जाती है। अभी इस भावना मे हमारे कार्य से कोई अन्तर नहीं पडा है। जहाँ ग्रामदान होते है, ग्रामोद्योग खड़े होते है, वहाँ के मनुष्य का मानस ग्राम-स्वराज्य का नहीं बना। उस तरह का मानस बनाना एकमात्र उपाय है।

एक दूसरा उपाय भी है, पर वह आज हमारी मर्यादा मे नही बैठता। वह यह है कि हम चुनाव मे लोगो से यह कहकर खडे हो कि हम इस यन्त्रीकरण का विरोध करेगे। फिर हम बहुत सख्या मे चुने जायँ और असेबली और पार्लियामेट मे जाकर इसका विरोध करे। इसमे सवाल यही आता है कि क्या आप घोषणा-पत्र पर चुने जायँगे ? आप क्या करनेवाले हैं ? तेल की मिल को बंद करेगे, घानियाँ चलायेगे। कपड़े की मिलो के विरोध मे चरखे चलायेगे। वे कहेगे कि अपने घर बैठकर यह सब कीजिये। इसके लिए वहाँ जाने की जरूरत नही है।

प्रश्न : हमारे देश मे लोग आध्यात्मिक बाते करते है और धन की भी बाते करते है। यह अन्तर्विरोध मिटाने का क्या तरीका है ?

दादा : आध्यात्मिकता की बाते जो कर रहे है, उन लोगो मे भूख है और बेकारी है। इसे मिटाने की आवश्यकता है। आध्यात्मिकता की व्यावहारिक भूमिका का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि इस देश मे दीनता, दारिद्र्य और बेकारी न रहे।

प्रमापीकरण

प्रश्न : वर्तमान परिस्थिति मे 'स्टैण्डर्डाइजेशन' (प्रमापीकरण) वास्तव मे किस हद तक होगा ? इसके बारे मे खुलासा कीजिये।

दादा : 'स्टैंडर्डाइजेशन' की अब कोई हद नहीं होगी, क्योंकि 'स्टैंडर्डाइजेशन' के जिन साधनों का आविष्कार और स्थापना हुई है, उन साधनों पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं रह गया है और यही समस्या है। हमारे आज के जीवन की सबसे बड़ी समस्या यही है कि उन साधनों का आविष्कार और उन साधनों की स्थापना पर, जिनका प्रयोग समाज में हो रहा है, मानवीय नियंत्रण कम होगा। इसका कारण यह है कि इसकी अब कोई हद नहीं रह गयी। इसके लिए क्या करना होगा? मनुष्य को सावधान बनना होगा। सावधान का मतलब है स्वार्थ और विकारों से ऊपर उठना। उपकरणों और साधनों का नियंत्रण मनुष्य का मन ही कर सकता है। लेकिन कौन-सा मन? जिसमें स्वार्थ और विकार कम हो। दूसरा मन नहीं कर सकता। इसलिए विनोबा हमेशा कहा करते हैं कि मन से ऊपर उठना आज की वैज्ञानिक आवश्यकता है, परिस्थिति की आवश्यकता है, ऐतिहासिक आवश्यकता है। नाम चाहे जो दीजिये। अपने मन को समझना और दूसरे के मन को समझना, अपने मन को दूसरे का मन नियंत्रित करने के मोह से बचाना और दूसरे का अपने मन पर नियंत्रण न चलने देना—यह आज आवश्यक हो गया है।

प्रश्न : इस संदर्भ में तो लोगों को बुद्धि से ऊपर उठना होगा?

दादा : बुद्धि, मन चाहे सो कह लीजिये! उनमें कौन-सा फर्क है, यह मैं नहीं जानता। मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निर्णय करती है। तो, अगर यह मन संकल्प-विकल्प से रहित हो गया, तो वह शान्त हो जायगा। तब बुद्धि की निर्णय-शक्ति काम करेगी। जब बुद्धि की निर्णय-शक्ति के लिए अवकाश न हो, तो बुद्धि आत्मस्थ रहेगी, नित्य-तृप्त रहेगी। लेकिन बुद्धि के लिए निर्णय करने का अवसर हो, तो वह विकाररहित और संस्काररहित होनी चाहिए। परंपरागत संस्कार, कुल के संस्कार, शिक्षण के संस्कार, इतिहास के जो संस्कार हैं, उन सबसे बुद्धि को परिशुद्ध होना पड़ता है। ऐसी जो परिमार्जित बुद्धि होगी, उसका निर्णय भी परिष्कृत निर्णय होता है। इस प्रकार की बुद्धि की आवश्यकता है।

प्रश्न : हमारा सब काम भूतदया के लिए होगा। भूतदया से समाज में कुछ अन्याय पैदा होगा, क्या हम ऐसा नहीं मानते?

दादा : भूतदया का अर्थ यह किया गया है कि जिसमें जिस प्रकार की शक्ति है, उस शक्ति का उपयोग वह असमर्थ के लिए करे। इस अर्थ को लेकर यह सवाल पूछा गया है। लेकिन यह हमारे काम की बुनियाद नहीं है। हमारे काम का आधार है स्नेह, भूतदया नहीं। स्नेह में समानता होती है,

नम्रता होती है और निरपेक्षता होती है। ये तीन जहाँ नही, वहाँ स्नेह नही है। समानता और नम्रता साथ कैसे चलती है ? आपकी मै इज्जत करता हूँ, इसलिए आपको चाहता हूँ। आपको मै चाहता हूँ, इसलिए आपकी इज्जत करता हूँ। आप मेरी इज्जत करते है, इसलिए मुझे चाहते हैं। आप मुझे चाहते है, इसलिए मेरी इज्जत करते हैं। इस प्रकार स्नेह और प्रतिष्ठा साथ-साथ चलती है। स्नेह मे निरपेक्षता इसलिए है कि वह प्रति-स्नेह की भी अपेक्षा नहीं रखता। कहानियो और उपन्यासो मे जिसे 'लव्ह' (प्रेम) कहते है, वैसा यह 'लव्ह' नहीं है। उसमे शारीरिकता है, काम-वासना है। प्रेम मे वासना नहीं होनी चाहिए। इसलिए वहाँ प्रति-प्रेम की अपेक्षा नही है।

भीख माँगने का प्रश्न

प्रश्न : कोई मजबूत आदमी भीख माँगता है, तो क्या उसे भीख देना ठीक होगा ?

दादा : अगर हम उसे काम दे सकते है, तो भीख देना ठीक नही होगा; यह उसका एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि अगर हम स्वय बगैर काम के बैठे-ठाले खाते हैं, तो उसे परिश्रम सिखाने का अधिकार हम नहीं रखते।

भीख माँगनेवाले से हम कहते है कि तुझे कब से कह रहे है कि यहाँ कोई आदमी नही है, कोई आदमी नही है। उसने तीन-चार बार यह सुना। जाते वक्त वह हाथ जोड़कर कहता है : 'हजूर, आपको आदमी ही समझकर माँग रहे थे। हमने तो यही समझा था कि सामने आदमी ही बैठा है। गलती हुई, अब जा रहे हैं।'

सामने बैठा हुआ आदमी पान चबा रहा है। जँभाइयाँ और डकारे ले रहा है और वह भीख माँगनेवाले से आलसभरी आवाज में कहता है कि अच्छे हट्टे-कट्टे तो दिखाई देते हो, काम क्यो नही करते ? भला इसका कोई मतलब है ?

यह ठीक है कि हम हर मँगते को भीख नही दे सकते। लेकिन जिस देश मे काम करने की इच्छा रखनेवाले को भी काम नही मिलता और जहाँ भीख की प्रतिष्ठा रही है, वहाँ भीख माँगनेवाले का जितना दोष है, उतना ही परिस्थिति का भी दोष है। यह भूतदया है, सहानुभूति है। इतनी सहानुभूति हमारे मन मे हो। यह आवश्यक नही कि हम मँगते को भीख दे। न दे, तो धिक्कार करने की भी आवश्यकता नहीं है। काम करने के योग्य शरीर दिखाई देता है, काम क्यो नहीं करते ? वह तो तैयार है, लेकिन उसे काम नहीं

मिलता। ऐसा भी हो सकता है कि तैयार होने पर भी काम के लायक शरीर न रह गया हो—जैसे मेरा शरीर काम करने लायक नहीं रह गया है। ऐसा मँगते का भी हो सकता है। इतने दिनों के संस्कार के कारण शरीर में काम करने की क्षमता नहीं रह गयी है। परिश्रमशीलता नहीं रह गयी है। शरीर मजबूत होना अलग चीज है, परिश्रमशीलता दूसरी चीज। काशी स्टेशन का कुली जितना बोझ उठा लेता है, उतना यहाँ के अखाड़े का उस्ताद नहीं उठा सकेगा, क्योंकि शरीर में उतनी परिश्रमशीलता नहीं है। इन सारे विचारों में थोड़ी समग्रता आनी चाहिए।

प्रश्न : कुछ लोगों का कहना है कि अहिंसक समाज-रचना में ज्यादा किफायत होगी और ज्यादा उत्पादन होगा।

दादा : हमें दोनों में से किधर जाना है, इसकी कसौटी क्या होगी? यही कि मनुष्य का सह-उपभोग जिससे बढ़े, उस तरफ हमें जाना चाहिए। यह समान वितरण से एक कदम आगे ही जायगा। सम्यक् वितरण और समान वितरण—इससे अगला कदम है मनुष्य में सह-उपभोग। जो पद्धति हमें इसकी तरफ ले जायगी, उसीको हम अपनायेंगे। विज्ञान में नयी-नयी खोजें होती हैं। विज्ञान कभी इस पक्ष में होगा, कभी उस पक्ष में।

सहकार्य स्वयंस्फूर्त हो

प्रश्न : यह तो सहकारी खेती की ओर बढ़ना हो गया?

दादा : गाँव में सहकार्य तो होगा ही। अब वह औपचारिक होगा या हार्दिक, इतना ही सवाल है। परिवारों में एक हार्दिक सहकार्य भी हो सकता है, जैसा विवाह-शादियों के वक्त होता है। वह अलिखित सहकार्य है। उसके कोई नियम नहीं बने हैं। जीवन में स्वाभाविकता अधिक हो, औपचारिकता कम, इसके लिए कुटुंब-संस्था का बहुत बड़ा उपयोग हो सकता है। कुटुंब ऐसी संस्था है, जिसमें कम से-कम औपचारिक नियम हैं। कुटुंब-संस्था में संकेत अधिक हैं और नियम कम। इसी तरह जिसे हम विश्व-कुटुंब बनाना चाहते हैं, उस क्षेत्र में संकेत अधिक होंगे, औपचारिक नियम कम। सहकारिता एक तत्त्व है, पद्धति नहीं। वह व्यवहार में दाखिल करने का मनुष्य के पारस्परिक संबंधों का नियमन करनेवाला एक तत्त्व है, इसलिए बहुत अधिक दिक्कत इसमें हमें नहीं आती। इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता होगी। पर अभी वह हमारे पास नहीं है। तमाशा यह है कि ऐसा ज्ञान जिनके पास नहीं है, उन्हींसे हम पूछते हैं। हो सकता है, हममें से एकआध के पास हो, लेकिन अधिकांश के

पास नही है। इसलिए यह खोज का, प्रयोग और शोध का विषय है। दोनो इस क्षेत्र मे होने चाहिए। सहकारिता का मूल सिद्धान्त यह है कि वह स्वयंस्फूर्त होना चाहिए। नियंत्रित सहकार, मार्गदर्शित सहकार—ये सब 'कम्पल्शन' दबाव के पर्याय है, जिनका प्रयोग बहुत-से साम्यवादी देश कर रहे है। उन लोगो का कहना है कि स्वयस्फूर्त सहयोग असम्भव है। जो व्यक्ति अहिसक समाज-रचना मे विश्वास करता है, वह कहता है कि यह अगर असंभव है, तो फिर मनुष्य की स्वतन्त्रता भी असभव है। फिर आप यह कहिये कि मनुष्य की स्वतन्त्रता के आधार पर संयोजन नही हो सकता।

इसमे ध्यान देने की एक चीज और है। इस वक्त सस्थाओ ने इतना विशाल, प्रबल, अजस्र आकार धारण कर लिया है कि सामुदायिक शक्ति के सिवा अब मनुष्य का छुटकारा नही हो सकता। व्यक्ति-शक्ति इसके लिए पर्याप्त नहीं रही। सामुदायिक प्रयत्न की आवश्यकता है। व्यक्ति की आत्म-शक्ति अनन्त है, व्यापकता अनन्त है। समुदाय हमेशा सीमित है—चाहे जितना बडा हो—अतर्राष्ट्रीय हो, तब भी। लेकिन बहुत-से व्यक्तियो की आत्म-शक्ति सम्मिलित होकर काम करे, तो उसके गुण में उसकी गुणकारिता मे वृद्धि हो सकती है। आज तो बहुत प्रबल समुदाय बढ रहे है। उसके लिए एक ही उपाय है। आकार का मुकाबला करने के लिए गुण की शक्ति चाहिए। गुण का मुकाबला गुण के सिवा दुनिया मे और कोई शक्ति नही कर सकती। गुण की हद नही, आकार की हद है। गुण जितना उत्कट होगा, तादाद उसकी उतनी कम होगी। मिर्च जितनी कडुई होगी, उतनी कम डाली जायगी। कम कडुई होगी, तो तरकारी ही बना लेगे। जितना गुण अधिक होगा, आकार की आवश्यकता उतनी कम होगी।

मैंने दो चीजे रखी : व्यक्ति की सामर्थ्य और समुदाय की सामर्थ्य की। व्यक्ति की अनंत शक्ति समुदाय मे कैसे दाखिल हो ? वह सख्या द्वारा नहीं हो सकती। सख्या उसका दरवाजा नही है। वह गुण के द्वारा हो सकती है। इसलिए समुदायो की गुणात्मकता बढानी चाहिए। गुणात्मकता जितनी बढेगी, समुदायों की सामर्थ्य उतनी बढेगी, क्षमता उतनी बढेगी। वह सहकार हो या दूसरी कोई भी पद्धति हो। पद्धति की अपेक्षा उसके आशय का विचार करना चाहिए। उसमे आशय क्या है ? तत्त्व क्या है ? उस तत्त्व को अगर आप उसमें से निकाल लेते हैं, तो सहकार क्षेत्र और काल के अनुरूप अलग-अलग शक्ल लेगा। एक नारा बुलद हो गया—सहकार, सहकार, सहकार ! फिर

उसका एक नमूना निकल गया। अब उसीके सब कायल हैं।—ऐसा होने की कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध और सामुदायिक जीवन का यह तत्त्व है। यहाँ औपचारिकता कम-से-कम हो, हार्दिकता अधिक हो। इसके लिए हमारे पास पुरानी संस्था है कुटुंब। उसका उपयोग हो सकता है तो करेंगे, नहीं तो उसके मूल्यों का समाज में विस्तार करेंगे।

१०-२-'६०

सत्याग्रह : व्यक्तिगत और सार्वत्रिक : २४ :

प्रश्न : गाधी के सत्याग्रह मे और आज के सत्याग्रह मे क्या फर्क होगा ?

दादा : गाधीजी का जो सत्याग्रह था, वह स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए था। वह ऐसी परिस्थिति मे था, जब लोगो की अपनी बनायी हुई सरकार नही थी। यह परिस्थिति आज के सत्याग्रह के लिए नही है।

प्रश्न : अगर लोगो की बनायी हुई सरकार भी मनमानी करे तो ?

दादा : तो उसे हटा देना चाहिए।

प्रश्न : कैसे हटायेंगे ?

दादा : लोगो ने सरकार कैसे बनायी ?

प्रश्न : व्होट से।

दादा : तो 'व्होट' ही से उसे हटा भी सकते है।

प्रश्न : शहर मे चोरबाजारी, कुली आदि के प्रश्न आते है। ऐसे मौके पर हमें क्या करना चाहिए ?

दादा : यह सवाल तो बहुत सही है। इसमे अपने-आपसे एक और सवाल पूछना चाहिए कि 'शातिपूर्ण' का क्या मतलब है ? क्या दूसरा शात रहेगा, तब हम शात रहेगे ? और दूसरा अशान्त रहेगा, तो हम अशान्त रहेंगे ? क्या यह कोई शातिपूर्ण रुख है ? शातिपूर्ण रुख का अर्थ यह है कि दूसरा शान्ति-भंग करे, तब भी हम शात रहेंगे।

आपने कहा कि रात के आठ बजे तक वे लोग बहुत शान्त थे और पुलिस भी शात थी। वह अशान्त हुई, तब ये भी अशान्त हुए। पुलिस की तो अशाति की योजना ही है। पुलिस ने, सरकार ने अहिसा की शपथ नही ली है। अहिंसा की, शात रहने की शपथ किनकी है ? यह शपथ उनकी है, जो सार्वजनिक आन्दोलन करते है। इसका मतलब यह है कि आप निष्फल हुए, वे सफल हुए। आपने अपनी मर्यादा का भग किया और आपकी मर्यादा भग करने में उन्हे सफलता मिली। रावण सफल हुआ, लक्ष्मण असफल हुआ, यह इसका मतलब है।

इसमें कहाँ क्या सिद्धान्त है? जहाँ-जहाँ हम निष्फल होते हैं, वहाँ-वहाँ कहते हैं कि हम अव्यावहारिक हैं। तब ऐसा कहिये कि सफलता ही सबसे बड़ी व्यावहारिकता है।

जनता को समझना होगा कि अहिंसा की शपथ हमारी है, सरकार की नहीं। हमें अपनी शपथ का पालन करना होगा। यही हमारी तैयारी होगी। तैयारी में कोई दंड-बैठक तो है नहीं। अहिंसक दंड-बैठक क्या हो। अहिंसक दंड-बैठक यही है कि जहाँ पर हिंसा होती हो, वहाँ पर हम अहिंसक रहेंगे। खतरा इतना ही है कि स्वाभाविक रूप से जहाँ लोगों की हिंसा फूट पड़ती हो, उतना खतरा हम उठायें। इसका मतलब यह है कि क्या उस खतरे के लिए हम अपने मन में गुंजाइश रखेंगे? उस समय लोगों की जितनी हिंसा फूट पड़ेगी, उसका उपाय हमारे पास नहीं है, यह मन में लेकर हम काम करेंगे, तो काम नहीं होगा।

जैसे, आप स्वयं शांति-सैनिक बने और आपकी यह प्रतिज्ञा है कि मार खाऊँगा, लेकिन हाथ नहीं उठाऊँगा। लेकिन वक्त पर सामने आदमी आया और हाथ उठ ही गया, इसका खतरा लेकर जाते हैं। लेकिन इसकी कोशिश होती है कि हाथ न उठे। सत्याग्रह में जो कोई शामिल हों, उनमें कम-से-कम इतनी शक्ति होनी चाहिए। सत्याग्रह में मुख्य शक्ति भड़काने की नहीं, सँभालने की है। अहिंसा का नेतृत्व हिंसा को रोकने की शक्ति में है, क्योंकि हिंसा में आपकी पराजय है। हिंसा को रोकने की शक्ति में आपका पुरुषार्थ है। जहाँ हिंसक प्रतीकार करना हो, वहाँ हिंसा क्षिप्रकारी होनी चाहिए और कार्यक्षम होनी चाहिए। इसमें समय कम-से-कम लगता है, कार्यक्षमता अधिक-से-अधिक होती है। उसी प्रकार अहिंसा भी कार्यक्षम होनी चाहिए।

इसके लिए यह आवश्यक है कि नेताओं में हिंसा को रोकने की शक्ति हो। आज मजदूरों, किसानों और विद्यार्थियों के नेताओं में यह शक्ति नहीं है। अगर इसका उत्तर यह हो कि ऐसी स्थिति में अहिंसक प्रतीकार असम्भव है, तो विचारपूर्वक इसका त्याग कर देना चाहिए। उसके पीछे पड़े रहने में क्या फायदा है? लेकिन अगर इसका उत्तर यह हो कि उस दिशा में काम बढ़ाना चाहिए, तो जो इसका प्रयोग करना चाहते हैं, उन्हें, जनता से पहले, इस बात को पूरी तरह समझ लेना चाहिए।

हिंसा को रोकने में मर जाना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। लोगों की हिंसा को रोकने के लिए अहिंसक पुरुषार्थ-वान व्यक्ति का मर जाना अपने में बहुत बड़ी कीमत रखता है। लेकिन गांधी

के बाद एक भी ऐसा सत्याग्राही इस देश मे नही हुआ, जिसने अपने आदमियो के खिलाफ उपवास या सत्याग्रह किया हो ? इसका कारण यह है कि अभी हिंसा को रोकने की शक्ति हममे नहीं आ सकी है।

गांधी का सत्याग्रह

प्रश्न : गाधीजी का सत्याग्रह अग्रेजो की शासन-पद्धति के विरुद्ध था। आज भी हमारे सामने वैसी बहुत-सी समस्याएँ है, तो उनके खिलाफ गाधीजी के सत्याग्रह का प्रयोग क्यो न करें ?

दादा : मै समझता हूँ कि इसको और थोडा सोच लेना चाहिए। हम अग्रेजो के खिलाफ नहीं थे, उनकी पद्धति के खिलाफ थे। अग्रेजो की पद्धति के पीछे लोकमत नहीं था। आज लोकमत किस तरह चलता है, यह तो हम देखते हैं। अग्रेज भी यही कहते थे कि हमने लोगो को भड़का दिया है। यह दुधारी तलवार है, उसकी छान-बीन करेंगे, तो दोनो तरफ कटेगा।

हमने लोकमत से अपनी आत्मा को अधिक प्रमाण माना। हमारे कार्यकर्ता को आत्मनिर्भर होना चाहिए। अन्तिम प्रमाण उसकी अन्तरात्मा की आवाज है। अन्त मे आप यही न कहते है कि वर्तमान राज्य-पद्धतियो मे सबसे अच्छी पद्धति लोकतन्त्र है। आपका आक्षेप यह है कि आज का लोकतन्त्र औपचारिक है। इसे हार्दिकता की तरफ ले जाना है। औपचारिक लोकतन्त्र से वास्तविक लोकतन्त्र की तरफ कदम बढ़ाना है। परन्तु आज जो लोकतन्त्र है, उसको दूसरी पद्धतियों से आप गलत नहीं मानते। आज जितनी प्रचलित पद्धतियाँ है, उनमे लोकतन्त्र-पद्धति अधिक सही है। उसमे एक मनुष्य के एक व्होट है। पर कुछ आदमी व्होट खरीद लेते है, कुछ आदमी व्होट छीन लेते है। उसमे खरीदनेवाले को और छीननेवाले की जितनी दुष्टता है, उतनी ही दुष्टता वेचनेवाले की भी है। अब आप किसकी तरफ से सत्याग्रह करना चाहेगे ? जो मत वेचनेवाला है, उसकी तरफ से या जो बुजदिल होकर, दबकर मत देता है, उसकी तरफ से ? इसका मतलब यह है कि फिर सत्याग्रह वह नही करता, आप करते हैं। तो, आपको सोचना है कि आप सत्याग्रही प्रतिनिधि के नाते सत्याग्रह करेगे या लोकसम्मत सत्याग्रह करेगे ?

आप एक दूसरी बात का भी विचार कीजिये। आज भी व्होट छीने जाते हैं, वेचे जाते है। आज एक गरीब आदमी एक अमीर आदमी के खिलाफ यदि चुनाव मे जीत जाता है, तब आप कहते है कि लोकमत व्यक्त हुआ। अग्रेजो

के जमाने में मामूली-से-मामूली कांग्रेसवाला जीत जाता था। महाप्रतापी अंग्रेजी साम्राज्य उसके खिलाफ खड़ा था, फिर भी साधारण-से-साधारण कांग्रेसवाला जीत जाता था। ऐसा आज क्यों नहीं होता ? क्या प्रेरणा है आज ?

अंग्रेजों के जमाने में एक मामूली निर्धन कांग्रेसवाला एक अमीर, वजनदार, सरकारपरस्त, प्रतिष्ठित उम्मीदवार को हरा सकता था, तो आज क्या वजह है कि एक गरीब आदमी एक अमीर आदमी को नहीं हरा सकता ? परिस्थिति ने ऐसा पलटा क्यों खाया ? व्होटर के रुख में यह जो फर्क हुआ, इसका कारण क्या है ? यह अगर आप गहराई के साथ सोचेंगे, तो आपको कम-से-कम इतना मानना ही पडेगा कि अंग्रेजों के राज्य की जो भूमिका थी, वह भूमिका किसी लोक-नियुक्त राज्य की नहीं हो सकती। दोनों भूमिकाओं में बहुत अन्तर है। अग्रजों का राज्य अप्रातिनिधिक राज्य था। लोकतंत्र का जो यंत्र उस वक्त था, वह आज भी है। मतदाता के रुख में अब फर्क पड़ गया है। आप मतदाता से पूछिये कि 'क्या तुम फौज चाहते हो ?' वह कहेगा कि 'हाँ, चाहता हूँ।' 'क्या कारखाने चाहते हो ?' कहेगा : 'हाँ, चाहता हूँ।' इसलिए हमें याद रखना चाहिए कि लोगों की प्रतीकार की शक्ति जाग्रत करने के लिए समस्याओं का उपयोग कर लेना एक चीज है और लोगों में विधायक शक्ति का निर्माण करना दूसरी चीज। ये दो अलग-अलग चीजें हैं।

इसमें से अब क्या करना है, यह निश्चित कर लेना होगा। लोगों में प्रतीकार की शक्ति जाग्रत कर समस्याओं को आप सुलझाना चाहते हैं, तो वगैर सत्ता के समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं। केवल प्रतीकार अपने में समस्याओं का समाधान नहीं होता। आपने प्रचंड लोक-मत जाग्रत किया। एक लाख आदमी आपके सत्याग्रह में शामिल हुए। जो सरकार है, उस सरकार को छोड़ देना पड़ा। पर इसके बाद क्या होगा ? इसके बाद भी तो आप कुछ करेंगे न ? उस खाली जगह को कौन भरेगा ? उसको आपको भरना होगा। यह प्रत्यक्ष प्रतीकार सत्ता द्वारा परिवर्तन का प्रतीकार है।

अब हम देखें कि गांधी क्या कहता था ? "हमारा जो कुछ होना होगा, होगा, तुम यहाँ से चले जाओ। हमारे देश में अराजकता होनेवाली हो, तो भी उसकी फिक्र तुम मत करो। हमें भगवान् के भरोसे छोडकर तुम चले जाओ; हमारा चाहे जो हो, पर तुम्हारा राज नहीं चलेगा।" क्या आज के मतदाता का यह रुख है ? वह कहता है कि इससे तो अंग्रेज अच्छा था। उसके मन में स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुख की आकांक्षा अधिक है। वह कल्याणवादी हो गया है, स्वतन्त्रतावादी नहीं रहा। तात्कालिक समस्याएँ हल करना सत्ताधारियों के

हाथ मे है। आप उन्हे हल नही कर सकते। तो आप क्या कर सकते है ? आप यह कर सकते हैं कि मतदाता की जो समस्याएँ है, उनमे उसका साथ देकर सत्ताधारियों के प्रतिकूल अपने पक्ष मे उसे ला सकते है। उसके मन मे सुख की जो आकाक्षा है, उसमे उसे आप यह समझाइये कि यह सुख किसके हाथ मे है ? यह सुख अगर सत्ताधारियो के हाथ मे है, तो उसके व्होट का परिणाम यह होना चाहिए कि उसके खेत मे फसल पहले की अपेक्षा बढ़ जाय। कारखानों मे माल ज्यादा पैदा होने लगे।

समस्याएँ जो पैदा करता है, वह आपके हाथ मे नही है। आप बीच मे खडे है। दो तरफ से दो समस्याएँ पैदा करनेवाले है। एक तरफ से मालिक, दूसरी तरफ से मजदूर समस्या पैदा करेगा। एक तरफ से सरकार समस्या पैदा करेगी, दूसरी तरफ से पार्टियाँ समस्याएँ पैदा करेगी। लोग एक-दूसरे के खिलाफ भाषावादी और सम्प्रदायवादी समस्याएँ खड़ी करेगे। समस्या पैदा करनेवाले असख्य हो गये हैं और आप अपने को ब्रह्मदेव मानते हैं कि हम ये समस्याएँ सुलझाते चले जायँगे ! उन समस्याओ से लाभ उठाने की बात आप कहेगे, तो मै समझ सकता हूँ। लेकिन सुलझाने की बात अगर आप कहेगे, तो वह आपका बड़ा अहंकार है। इसके सामने आपका आकार, आपकी सामर्थ्य बहुत छोटी पड़ती है।

भंगियों की हड़ताल

प्रश्न : यह तो धीरे-धीरे होता है, तात्कालिक परिणाम तो नही दिखाई देते !

दादा : सघर्ष के सिवा तत्काल कोई कुछ कर सका है क्या ? तत्काल आप अधिक-से-अधिक इतना कर सकते हैं कि इस वक्त विद्यार्थियों की फीस माफ हो गयी, मजदूरों को बोनस मिल गया, भंगियों की तनख्वाह थोड़ी बढ गयी। यह तत्काल हो सकता है। यह आपकी शक्ति पर है। आप यह समझते है कि इन लोगो की माँग उचित है और वह पूरी होनी चाहिए, तो उनकी सहायता आपको करनी चाहिए। एक ही मर्यादा उसमे रहे कि भगी अपनी हडताल के वक्त यह भी कहें कि शहर मे गंदगी नही रहेगी।

प्रश्न : क्या एक सत्याग्रही भगियो की हडताल के समय शहर मे भगी-काम कर सकता है ?

दादा : सत्याग्रही भगियो के सफाई के काम मे शामिल जरूर हो, बशर्ते भगी उसको अपना दुश्मन न माने।

प्रश्न : भंगी अगर उस वक्त भी काम करेगा, तो हड़ताल कैसे होगी ?

दादा : वह तनख्वाह नहीं लेगा।

प्रश्न : इसका असर तो देर से होगा।

दादा : इसका असर शहर में जो गंदगी बढ़ेगी, उसकी अपेक्षा देर से होगा—यह जो आपका आक्षेप है, उसे मान लेता हूँ। आपने यह माना है कि बुराई का असर जल्दी होता है और अच्छाई का असर देर से। समाज में यह सर्वसामान्य नियम है कि भलाई का असर अच्छा होता है—भले ही वह थोड़ी देर से हो। इसका कारण यह है कि औषध की अपेक्षा जहर में ज्यादा काम करने की तासीर होती है।

दवा जीवन को बढ़ाने का साधन है, उसका असर कुछ देर से होता है। देर से इसलिए होता है कि जीवन बनाने की प्रक्रिया में जीवन के सहयोग की आवश्यकता होती है। आपका शरीर अगर दवा के साथ सहयोग नहीं करेगा, तो जीवन नहीं बढ़ सकता। जहर में सहयोग की आवश्यकता नहीं है। अगर आपको इतना जहर दे दिया जाय कि आपका प्रतीकार क्षीण हो जाय, तो काम जल्दी हो जायगा। जीवन में, स्वास्थ्य में विधायक सहयोग की आवश्यकता है। आपका सारा-का-सारा शरीर औषध के साथ विधायक सहयोग करे। हमारा समाज ऐसा हो गया है कि बुराई का असर जल्दी होता है, लेकिन जीवन को बढ़ानेवाला असर नहीं होता। भंगियों की हड़ताल हो गयी। गंदगी फैली। फिर उनकी तनख्वाह बढ़ा दी गयी। लेकिन इससे लोगों के मन में अनुकूलता पैदा हुई या प्रतिकूलता ?

बम्बई में हड़ताल हो गयी। उस वक्त एकनाथ भगत और राम देशपांडे शहर में सफाई के लिए जाते थे, तो भंगी उनको पीटते थे। वे मानते थे कि शहर में अगर वे सफाई करते हैं, तो हमारे स्वार्थ के खिलाफ काम करते हैं। शिक्षकों की सभा में मैंने उदाहरण दिया था कि पुजारियों की अगर हड़ताल हो जाय, तो सारे मंदिर सरकारी हो जायँगे। पुजारी सरकारी नौकर हो जायँगे। उनका 'यूनियन' बनेगा। नर्सों की हड़ताल हो जाय या जिन नर्सों को बच्चों को दूध पिलाने के काम पर रख लिया हो, उन्होंने हड़ताल कर दी, तो क्या होगा ? ये कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन पर अहिंसक प्रक्रिया के सिलसिले में बहुत गहराई के साथ सोचने की आवश्यकता है।

आपका सवाल यह हो सकता है कि क्या हम जनता के पुण्य-प्रकोप और उसके सात्त्विक विक्षोभ को उचित दिशा में न मोड़ें ? विकार और स्वार्थ से समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। पुण्यप्रकोप का मतलब है, अन्याय के कारण प्रकोप

पैदा होना। सात्त्विक क्षोभ को आप गुण मानते है। जहॉ-जहॉ मनुष्य का स्वार्थ होगा, वहॉ यह आवश्यक नही कि अन्याय ही हो। स्वार्थ है, लेकिन उसके पक्ष मे न्याय हो सकता है। ऐसी अवस्था मे प्रश्न है कि आप उसके पुण्य-प्रकोप और सात्त्विक क्षोभ से उन्हे उचित दिशा मे मोडने के लिए कितना लाभ उठाये ?

समाज में हमारी पूछ कुछ हो, हमे लोग कुछ माने, इसके लिए हम थोडा-बहुत लोकच्छदानुवर्तन करते है। यह 'डिमागॉगी' कहलाती है। लोगो को जो सनक है, उसके प्रवाह के साथ हम कुछ-कुछ जाते है। क्यो ? इसलिए कि लोग हमारी बात माने। यह एक अलग चीज है। यह सत्ता की दृष्टि से, राज-नीतिक दृष्टि से सोचना हो गया कि लोगो मे हमारी प्रतिष्ठा बढनी चाहिए, नहीं तो लोगो में हमारा प्रवेश ही नही हो रहा है। इस दृष्टि से आप सोचते हो, तो आपके पास कोई मार्गदर्शक ध्रुवतारा नही रह जायगा।

विधायक प्रतीकार

एक मार्गदर्शक ध्रुवतारा आपके पास यह है कि जितना प्रतीकार हो, वह सारा विधायक होना चाहिए। इसकी पहचान यह है कि जो लोग सत्याग्रह करते हैं, उनकी आपस मे कोई समस्या सत्याग्रह के प्रकार की नहीं रहनी चाहिए। आपस में केवल विरोधात्मक सहयोग नही, केवल सघर्षात्मक सहयोग नही—नित्य भावरूप सहयोग होना चाहिए। तो, इसके लिए एक परख यह है कि जो लोग सत्याग्रह करते हैं, वे क्या अपने भीतर भी उस दोष को मिटाने की कोशिश करते है, जिसके खिलाफ उनका सत्याग्रह है, या केवल यह कहकर चुप रह जाते है कि हम परिस्थिति के शिकार हैं, परिस्थिति हमारी पैदा की हुई नही है ? यह अगर नही है, तो सामुदायिक पराक्रम से आप उसे बदल कैसे सकते है ? मान लिया कि परिस्थिति आपकी पैदा की हुई नहीं है। लेकिन हम मानते हैं कि हम सामुदायिक पुरुषार्थ से परिस्थिति को बदल सकते है; तो उसका स्वरूप विधायक हो, केवल सघर्षात्मक न हो। रिक्शावालो का यूनियन हो, तो वह केवल रिक्शावालो का स्वार्थ न देखे। सवारियो के भाव के विषय मे रिक्शा-चालक का पक्ष यदि यूनियन लेता है, तो उस यूनियन का यह भी संकेत होना चाहिए कि सवारियो के साथ जो बेईमानी करेगा या दुर्व्यवहार करेगा, उस पर नियत्रण करने की शक्ति हम लोगो मे है। यह नहीं है, तो उनका पुण्यप्रकोप और सात्त्विक क्षोभ सत्याग्रह के अनुकूल नहीं है, सघर्ष के अनुकूल है। उसमे से सघर्ष पैदा हो सकता है, सत्याग्रह नहीं।

आखिर आपको समस्याओं को चुनना है। आप ऐसी समस्याओं को चुनेंगे, जिनमें प्रतीकार समाज-परिवर्तन के लिए उपयोगी हो सकता है। कम्युनिस्ट ऐसा करता है। आपकी हजारों समस्याएँ हैं। उनमें से वह उन समस्याओं को चुन लेता है, जिन्हें वह समझता है कि ये हमारे समाज-परिवर्तन के काम में लाभदायक हो सकती हैं। ट्रेड यूनियनिज्म और इसमें यह अन्तर है। कम्युनिस्टों का मजदूर-आन्दोलन समाज-परिर्तन की दृष्टि से होता है, ट्रेड यूनियनों का मजदूर-आन्दोलन मजदूरों के कल्याण के लिए होता है। एक मुकाम पर जाकर ट्रेड यूनियनिज्म रुक जाता है, वहाँ वह क्रान्तिकारी नहीं रह जाता। कम्युनिस्ट जब मजदूरों का या किसानों का संगठन करता है, तो उसके सामने समाज-परिवर्तन का लक्ष्य होता है।

सद्भाव का वातावरण

यहाँ यह देखना है कि आपके मन में क्या भाव हो? हमारे मन में न अहिंसक प्रक्रिया हो, न समाज की कोई तसवीर हो। हमारे मन में केवल यह भान हो कि जितना संघर्ष होगा, उसमें से भी मनुष्य का मनुष्य के लिए सद्भाव निष्पन्न होगा। सत्याग्रह के समय कुछ अल्पसंख्यक ऐसे लोग होंगे, जो आपके सत्याग्रह में शामिल नहीं होते। कुछ 'ब्लैक लैग' होंगे। कुछ लोग ऐसे होंगे, जो शामिल नहीं होते, लेकिन विरोध भी नहीं करते। उनकी तरफ से आपका रुख क्या होगा? इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

कलकत्ते में पचीस हजार लोग अहिंसक खड़े थे। उनमें एक हरिजन खड़ा है और उस भीड़ के खिलाफ नारा लगाता है, तो उसका क्या हुआ होगा? वह 'अहिंसा' से समाप्त कर दिया जायगा। यह ठीक है कि जो हमारा प्रतिपक्षी है, उसके प्रति हमारा व्यवहार अहिंसक हो, शांतिमय हो। लेकिन जो हमारा विरोधी स्वकीय हो, उसके प्रति हमारा व्यवहार कैसा हो, यह महत्त्व का सवाल है। वह उस संगठन का विधायक स्वरूप होगा। जो 'ब्लैक लैग' होगा, उसकी जान और उसकी इज्जत की हिफाजत उनको करनी चाहिए, जो सत्याग्रह कर रहे हैं। अगर उनके बीच वह अपने-आपको सुरक्षित पाता है, तो वह सुरक्षित है।

'ये सत्याग्रही हैं, लेकिन तुम कौन हो?'

'हम सत्याग्रही नहीं हैं।'

'लेकिन घर में बन्द क्यों हो?'

'सत्याग्रहियों के सामने जाते शर्म आती है।'

'सत्याग्रहियो के सामने जाने मे कोई हर्ज नही है। क्या तुम गलत काम कर रहे हो ?'

'नही, हम गलत काम नही कर रहे है। ये सत्याग्रही गलत काम कर रहे हैं।'

'तो फिर बन्द क्यो हो ?'

'घर से निकलेंगे, तो घर वापस लौट नही पायेगे।'

यह वातावरण अहिसा का नही है। यह वातावरण निःशस्त्र भीड पर जो गोली चलाते है, उनसे कम भयानक या कम अत्याचारी नहीं है। सवाल छिड़ा है कि सिंहभूम, मानभूम बगाल मे हो या बिहार मे। बगाल मे सभा हो रही है और लोग कह रहे हैं कि हम लेकर रहेंगे, लेकर रहेगे। वहाॅ पर सर्वोदय के कार्यकर्ताओं के बीच मैं पहुॅच जाता हूॅ। सार्वजनिक सभा मे मुझे वे ले जाते है। मैं कहता हूॅ कि "लेकर रहेगे, लेकर रहेगे, यह क्या कहते हैं ? यह सब गलत है।" तो, एक आदमी जो ऐसा कहता है, उसको मार डाले या नही, लेकिन उसकी आवाज सभा मे दुबारा सुनायी नही देगी। क्या यह भाषण-स्वातन्त्र्य है ? दफा १४४ तो बहुत खराब है, लेकिन यह क्या १४४ से कम खराब है ?

त्रिपुरारि हमे बिहार मे ले जाता है। वह कहता है कि सत्याग्रह के लिए एक वातावरण की आवश्यकता होती है। लोग बोल्ते हुए दिखाई देते हैं : 'दादा धर्माधिकारी प्रचंड वक्ता है। इनकी तरह सर्वोदय की व्याख्या कोई नहीं करता। सिर्फ ये मानभूम, सिंहभूम की बात न करे।'

एक वातावरण गाधीजी ने पैदा किया था। जिस सभा मे गाधी है, उस सभा मे उसके विरोधी को बोलने से कोई रोके, यह हो नही सकता। क्या हम यह बात अपने क्षेत्र मे करने को तैयार है ? जो अल्पसंख्य है, जो कमजोर है, जो अप्रतिष्ठित है, उन्हे अपनी बात कहने का मौका होना चाहिए। ऐसा मौका सिर्फ अदालत मे है, अदालत के बाहर नही। अदालत मे अपराधी के लिए भी अपनी बात कहने का मौका है, लेकिन सभ्य समाज में यह मौका नही है। जो कमजोर है, जो अप्रतिष्ठित है, जो अल्पसख्य है, उसको अपनी बात कहने का मौका मिलना चाहिए। यह वातावरण इस देश की सारी पार्टियॉ अपने सम्मिलित प्रयत्न से भी नही कर सकती। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रतिपक्षी के लिए मन मे इज्जत, जो सत्याग्रह का मुख्य लक्षण है, आज जितने सत्याग्रह हो रहे हैं, उनमें कही नही पायी जा रही है। हर सत्याग्रही अपने प्रतिपक्ष को झूठा, बेईमान, खुदगर्ज बतलाता है।

प्रतिपक्षी का आदर

आप गांधी के लेख और व्हाइसराय को लिखी हुई उनकी चिट्ठियाँ पढ़ लीजिये। वहाँ इस प्रकार के आरोप नहीं किये गये। वह प्रतिपक्षी की इज्जत करता है। प्रतिपक्षी की इज्जत हमारे मन में न हो, तो सत्याग्रह नहीं, संघर्ष कर सकते हैं। जो व्यक्ति हमारी बात नहीं मानेगा, वह समाज से उठ जायगा। जिस तरह भीड़ में लोगों के ढेले या पुलिस की गोली खाकर मर जाने में शहादत है, उसी तरह समाज से उठ जाने में भी शहादत है।

मानवता के जिन मूल्यों या प्रेम को लेकर हम चल रहे हैं, समाज में उनके दो ही नतीजे हो सकते हैं। समस्या को समझने में हम स्वयं समाप्त हो जायँगे। समाप्त होने के दो प्रकार हो सकते हैं : समाज में हमें अपनी जान से हाथ धोना पड़े या समाज में हमारा जो स्थान है, उससे हमें हाथ धोना पड़े। जिस स्नेह की प्रेरणा से मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन पैदा करने की कोशिश आप कर रहे हैं, उस स्नेह का आधार जहाँ आपको छोड़ना पड़ता है, वहाँ आपके चारित्र्य की परीक्षा है। सत्याग्रही गांधी इसके लिए तैयार रहता था।

जरा सोचिये कि उस वक्त इस बात को सोच लेना कितना भयंकर रहा होगा, जब कि सारा देश उत्कंठित हो रहा हो कि अब बारडोली में सत्याग्रह होगा, सारे देश में सत्याग्रह होगा, सन् १९२१ का साल समाप्त होने जा रहा है, अंग्रेजी राज्य के दिन अब लद गये, सारे देश के पुरुषार्थवान् व्यक्ति ऐसी उत्कंठा कर रहे थे। देश के किसी कोने में हिंसा होती है और यह आदमी उठकर कह देता है कि सत्याग्रह नहीं होगा, सत्याग्रह स्थगित ! जिस नेता के शब्द सर-आँखों झेलने के लिए सारा देश तैयार था, वह अपनी मान्यता और नेतृत्व को खतरे में डालकर अपनी मानवता का संरक्षण करता है, स्वत्व का संरक्षण करता है। उसने अगर उस वक्त अहिंसा का वातावरण देश में पैदा न किया होता, तो कोई देशभक्त उसी वक्त, सन् १९२१ में ही उसकी हत्या कर देता। इसे कहते हैं चारित्र्य की शक्ति।

गांधी के जमाने के सत्याग्रह में और विनोबा के जमाने के सत्याग्रह में क्या अन्तर है, यह तो गांधी और विनोबा ही जानें। मैं इतना जानता हूँ कि सत्याग्रह में यह शक्ति होती है। सामाजिक क्षेत्र में, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में, आर्थिक क्षेत्र में, श्रम की प्रतिष्ठा के लिए, प्रतीकार के क्षेत्र में आत्म-मर्यादा को सँभालने के लिए जो रोमहर्षण और रोमांचकारी प्रयोग गांधी ने किये, ऐसी

मिसाल दुनिया के इतिहास में बहुत कम है। वह सारे राष्ट्र का बापू है, शिखर पर चढ़ा हुआ है। वह ब्रह्मचर्य के कुछ ऐसे प्रयोग करता है, जो साथियो को भी व्यग्र कर देते हैं। आर्थिक क्षेत्र में काग्रेस से कहता है कि चार आने के बदले एक गुंडी सूत स्वीकार करो। ये सारे बहुत हिम्मत के प्रयोग थे। सत्य मे जो सत्त्व होता है, वह सत्याग्रही मे होना चाहिए।

सोचने की बात है कि गाधी ने एक भी काम ऐसा किया, जो लोक-सम्मत था ? चरखे को लीजिये। कौन चाहता था कि रेशमी कपड़े छोडकर दरी से भी बदतर कपड़े पहने ? भंगी का काम करने का किसीको शौक था ? इस देश मे अस्पृश्यता-निवारण कौन चाहता था ? हिंदू-मुसलमानो की एकता कौन चाहता था ? स्त्रियो को बराबरी का दर्जा कौन देना चाहता था ? उल्टे गाधी के सत्याग्रह में ऐसे व्यक्ति शामिल थे, जो अपनी औरतो को पीटते थे। कुछ लोग ऐसे शामिल थे, जिन्होने एक स्त्री के जीते जी दूसरी से शादी कर ली थी और जिससे शादी की, उसे सॅभालते भी नहीं थे। इतना होते हुए भी एक 'पुलिंग फोर्स' था, एक प्रभाव था। खादी चाहते नहीं हैं, लेकिन पहन रहे है। अस्पृश्यता-निवारण नहीं करते और फार्म भरते है कि मैने अपने जीवन से अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया। क्यो ? सत्याग्रह मे शामिल होना है।

सत्याग्रह की शक्ति

सत्याग्रह की शक्ति लोगो की समस्याओ से लाभ उठाने मे नहीं होती, लोगों की समस्याओ के समाधान मे, लोगों को अपनी दिशा मे मोड़ने में होती है अपनी दिशा से मतलब है, मानवता की दिशा। उनका अपना स्वत्व जाग्रत हो, उनकी आत्म-मर्यादा की स्थापना हो और विधायक सामुदायिक प्रवृत्ति का विकास हो। सत्याग्रह में गाधी यह सब करता था। नहीं तो इतनी शक्ति आयी कहाँ से ? लोगो की आवश्यकताऍ और परिस्थिति न होती, तो विधाता आ जाता, तो भी कुछ न होता। वस्तुनिष्ठ आधार न हो, तो कुछ नहीं हो सकता। इसमे से प्रतीकार भी अगर उत्पन्न होता है, तो उसका परिणाम क्या हो ? वह हो सद्भाव की स्थापना।

यह वस्तु गाधी ने की। आज भी इंग्लैंड हमारा दुश्मन नहीं है। हमारे देश का साधारण मनुष्य आज इंग्लैंड को दुश्मन नहीं समझता। जिस दिन गणतंत्र की स्थापना होती है, उस दिन आप माउटबेटन से कहते है कि 'आप एक साल रह जायॅ। आज तक आप हमारी कमजोरी और अपनी मर्जी से थे, अब हमारी मर्जी और अपनी रजामंदी से रहे।' इतिहास मे ऐसा कभी नहीं

हुआ। एक सच्चे सत्याग्रही का परिस्थिति पर कितना गहरा प्रभाव हो सकता है, इस बात को हम इससे समझ सकते हैं। गाधी विभूति था, हममें विभूतिमत्त्व नहीं है; लेकिन गुण में अन्तर क्यों? परिमाण में अन्तर हो सकता है। चुल्लूभर पानी मे आदमी डूब नहीं सकता। डूबने के लिए पुरसाभर पानी चाहिए। लेकिन पुरसाभर पानी के गुण मे और चुल्लूभर पानी के गुण मे कोई अन्तर नहीं है।

सत्याग्रह के बारे में एक व्यावहारिक बात और भी बता दूँ। आप सामुदायिक कार्य का आयोजन करते हैं, लेकिन जहाँ आयोजन होता है, संस्था होती है, व्यवस्था होती है, कार्यक्रम होता है, वहाँ उसके लिए एक 'रेफरी' की आवश्यकता होती है। प्रयोग में क्रियात्मक व्यवहार की बात आती है। इसका यह नियम है कि उसमें एकसूत्रता होनी चाहिए। वैचारिकता का यह नियम है कि उसमें कई भिन्न-भिन्न विचारों का विनिमय और आदान-प्रदान होना चाहिए। क्रियात्मक व्यावहारिकता मे अमल करना होता है, विचार को कार्यान्वित करना होता है। मोटर कौन-सी खरीदी जाय, यह घर के सब आदमी साथ बैठकर सोचें। लेकिन मोटर कौन चलाये? तो घरभर के आदमी ड्राइव्हर की जगह पर न बैठें। यह क्रियात्मक व्यवहार का एक नियम है। इसलिए अगर आप यह चाहते हैं कि लोकव्यापी सत्याग्रह होना चाहिए, तो उसमें पुण्यप्रकोप, सात्त्विक क्षोभ की मात्रा कितनी हो, कौन-सा स्वार्थ क्रान्ति के अनुकूल है, कौन-सा विकार सत्याग्रह की प्रक्रिया मे ही निःशेष हो सकता है, कौन-सी समस्या सामाजिक परिवर्तन के लिए अवसर देती है, इन सबका लोकव्यापी निर्णय करने के लिए किसी एक व्यक्ति का परामर्श आदरणीय मानना होगा। लोकव्यापी सत्याग्रह, लोकव्यापी समाज-परिवर्तन और लोक-व्यापी क्रान्ति का विचार हमारा हो, तो जो क्रान्ति हम करना चाहते हैं, वह लोकव्यापी होगी और स्वय लोग ही उसके विधाता होगे। अगर हमारा यह विचार है, तो इसके लिए किसी ऐसे व्यक्ति का मार्ग-दर्शन खोजना होगा, जिसका हृदय और जिसकी बुद्धि इतनी परिशुद्ध अर्थात् स्वार्थ, विकार और द्वन्द्व से इतनी मुक्त है कि वह तटस्थ हो गया है। इसलिए लोगों की आवश्य-कताएँ, आकाक्षाएँ और सामर्थ्य उसके व्यक्तित्व मे प्रतिबिंबित होती है।

अहिंसा की प्रक्रिया मे जो नेतृत्व होगा, वह किस प्रकार का होगा? इसमें नेतृत्व है, लेकिन अधिनायकत्व नहीं है। इसलिए यह 'डिक्टेटरशिप' (तानाशाही) नहीं है। इसमें आज्ञाकारिता उतनी नहीं है, जितनी सहज मार्ग-दर्शन की आकाक्षा है। इन दो चीजों मे बहुत अन्तर पड जाता है।

'इस समय यह सत्याग्रह करना मेरा कर्तव्य है।' अपने लिए ऐसा निर्णय कर लेने के बाद फिर सत्याग्रही स्वयं है और उसके भगवान् है ! कोई उसका समर्थन करे या न करे, गाधी समर्थन करे या न करें, विनोबा समर्थन करे या न करे—वह स्वतःप्रमाण है। वह अपनी अन्तरात्मा के अनुकूल करता है। इसमे वह यदि किसीकी भावनात्मक सहायता भी चाहता हो, किसीका समर्थन या आशीर्वाद चाहता हो या कल्याण की कामना करता हो, तो उसका स्वतःप्रामाण्य कुछ कम हो जाता है।

व्यक्तिगत और सार्वत्रिक सत्याग्रह

दो स्थितियाॅ है। जहाॅ स्थानीय, सामाजिक अन्याय के विषय मे हमारी आत्मा का निर्णय हो कि इसके लिए सत्याग्रह करना मेरा कर्तव्य है, जहाॅ मनुष्य अपना निर्णय स्वय कर सकता हो, वहाॅ उसकी सूचना दे दे। लेकिन जहाॅ मनुष्य अनुमति, आशीर्वाद या सहयोग की अपेक्षा करता हो, वहाॅ हमेशा किसी एक व्यक्ति की सलाह को अधिक महत्त्व देना होगा। जहाॅ लोकव्यापी सत्याग्रह करना हो, वहाॅ उसमे एकसूत्रता होनी चाहिए।

सत्याग्रह का निर्णय करने से पहले एकसूत्रता अवश्य हो। किसी क्षेत्र मे दो कार्यकर्ता है। एक कहता है कि सत्याग्रह इस प्रकार का होगा और दूसरा कहता है कि उस प्रकार का होगा। दोनो एक ही पक्ष मे है, एक ही प्रयोजन के लिए सत्याग्रह करना चाहते है, लेकिन दोनो मे सत्याग्रह के स्वरूप के विषय मे मतभेद है। दोनो की अपनी-अपनी राय अपनी-अपनी दृष्टि से शुद्ध है। ऐसी स्थिति मे या तो दोनो का सत्याग्रह एक-दूसरे के खिलाफ होगा या फिर वे एक-दूसरे का मत-परिवर्तन कर लेगे या इनमे से एक उस क्षेत्र को छोड़ देगा—और वह भी किसी विवाद या उद्वेग की भावना से नही, बल्कि इसलिए कि सत्याग्रह मे एकसूत्रता होनी चाहिए।

स्थानीय समस्या के लिए जहाॅ कार्यकर्ता स्वय अपना निर्णय कर सकता है, वहाॅ वह माने कि 'मेरे सत्याग्रह की निंदा विनोबा भी करे, तो भी मेरा अपना निर्णय शुद्ध है। गलत मालूम होने पर मैं बदल सकता हूॅ।' लेकिन जहाॅ सार्वत्रिक लोकव्यापी सत्याग्रह के लिए तैयारी करनी हो—वहाॅ एकसूत्रता होनी चाहिए और किसी एक व्यक्ति का परामर्श दूसरे सारे व्यक्तियो के परामर्श की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए। ●

११-२-'६०

संगठन की अहिंसक दृष्टि : २५ :

संगठन के बारे में जब हम सोचते हैं, तो मुख्य विचार हमारे सामने यह आता है कि संगठन किसलिए करना है? संगठन की आवश्यकता क्या है?

मनुष्य एक-दूसरे के सिवा रह नहीं सकते। उन्हें एक-दूसरे के साथ रहना है। एक-दूसरे के साथ रहने की प्रेरणा स्वाभाविक प्रेरणा है। इस स्वाभाविक प्रेरणा से जो संगठन बनते हैं, उनका आधार स्वाभाविकता होती है, इसलिए उनमें स्थायी तत्त्व अधिक होता है। मनुष्य के स्वाभाविक प्रकृति-धर्म जितने संगठनों के आधार होंगे, उनमें अनायास स्थायी तत्त्व आ जाता है। परन्तु इतने संगठनों से हमें संतोष नहीं है। हम कुछ संगठन ऐसे बनाते हैं, जो औपचारिक और कृत्रिम होते हैं। औपचारिक और कृत्रिम संगठनों में थोड़ा-बहुत मानसिक प्रशासन आ जाता है। इसलिए कुछ प्रत्यक्ष प्रशासन आ जाता है। याने इनमें दबाव का कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है। इसलिए जहाँ तक शुद्ध अहिंसा का, शुद्ध स्नेह का सवाल है, संगठन उसके अनुकूल नहीं है।

परस्पर विरोधी शब्द

'स्वाभाविक संगठन'—ये दो शब्द ही परस्पर विरोधी हैं। मनुष्य एक-दूसरे के साथ रहना चाहता है, तो रहेगा। उसके लिए संगठन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन जब हम कहते हैं कि संस्था और संगठन की आवश्यकता है, तो इसका मतलब यह है कि स्वाभाविक प्रेरणा से मनुष्य का जितना सह-जीवन सिद्ध होता है, उतना हम पर्याप्त नहीं मानते। हम उस सह-जीवन को नियमबद्ध और सूत्रबद्ध करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उस सह-जीवन को मर्यादित करना चाहते हैं। संगठन जीवन को उन्मुक्त और क्षितिज-व्यापी नहीं रहने देता। संस्था बनी, तो जीवन संस्था के भीतर आया। मर्यादा हुई। जब तक संस्था और संगठन नहीं है, तब तक जीवन अमर्यादित है। संस्था और संगठन में आते ही जीवन मर्यादित हो जाता है। गिरजाघर धर्म-भावना को मर्यादित करता है, मंदिर भगवान् को। उसी प्रकार संस्था और संगठन मानव

को मर्यादित करते हैं। विनोबा जैसा क्रान्तिकारी पुरुष सगठन के विरोध में क्यो है? एक आत्यंतिक क्रातिकारी पुरुष एक क्रान्तिकारी कार्य मे लगा हुआ है, फिर भी सगठन के लिए उसमे रुचि क्यों नही है? वह कहता है कि जितना संगठन अनिवार्य होगा, उतना ही करूँगा, उससे अधिक नही। जो अनिवार्य होगा, उसकी भी मात्रा कम करता चला जाऊँगा।

संगठन की यह अहिंसक दृष्टि है।

अहिंसक संगठन

अहिंसक समाज मे औपचारिक और कृत्रिम सगठनो की सख्या कम-से-कम होनी चाहिए और उसकी मात्रा भी कम-से-कम होनी चाहिए। एक आपद्धर्म के रूप मे हम संस्था और सगठन का अगीकार करते है। दोनो मे दृष्टि का अंतर है : एक कहता है कि जब तक मनुष्य सगठित नही होगा और जब तक संगठन-कार्य अधिक सक्षम नही होगा, तब तक सगठन मे कुशलता नही आयेगी। तब तक मनुष्य का सास्कृतिक विकास नही होगा। दूसरा कहता है कि सगठन की कुशलता की परीक्षा यह है कि उसमें से औपचारिकता और प्रशासन का अंग कम होता चला जाय और हार्दिकता का अश बढता चला आये। संविधान और नियम पहले तो हो ही नहीं, अगर हो, तो कम-से-कम हो। सविधान और नियमो के आधार पर ही जो सगठन बनता और चलता है, उस राज्य के विषय मे गाधी ने कहा कि 'वह सरकार सबसे अच्छी है, जो कम-से-कम हुकूमत करती है।' यह थोरो का वाक्य है। थोरो ने इस वाक्य का भाष्य किया है कि शासन-प्रबन्ध वह अच्छा है, जिसमे प्रशासन, हुकूमत बिलकुल ही न हो। जो सबसे चुस्त सगठन है उस सरकार के विषय में ऐसा कहा गया है, तो दूसरे सगठनों के लिए यह अधिक मात्रा मे लागू होता है। इसलिए गाधी का एक वाक्य है कि सस्था और सगठन मे अहिंसा की कसौटी होती है। कोई कहता है कि संगठन ऐसा हो, जो मनुष्य को सगठनो के बिना सम्पन्न होनेवाले सह-जीवन की तरफ ले जाय। सस्था-सगठन मनुष्य को सगठन-निरपेक्ष जीवन की दिशा में ले जाये। हमारा एक पुराना सूत्र है कि मानव की सदस्यता का अन्त हो, केवल उसकी मानवता शेष रह जाय। विलक्षण शब्द-शक्तिवाले विनोबा ने एक सूत्र दिया कि 'संघ' विलीन हो, 'सर्व-सेवा' शेष रहे। अन्त मे वे कहेगे कि 'सेवा' विलीन हो जाय, सिर्फ 'सर्व' शेष रहे। सेवा की भी आवश्यकता न हो।

संगठन क्यों ?

मनुष्य का सृष्टि पर, वस्तुओं पर और उपकरणों पर आज जो प्रभुत्व है, उसकी परिणति मनुष्य के मनुष्य पर प्रभुत्व में हो रही है। इसलिए मूल प्रश्न यह है कि संगठन किसलिए ? संगठन सत्ता के लिए हो या स्वतन्त्रता के लिए ? सत्ता दो तरह की है : एक भौतिक सत्ता और दूसरी मनुष्य पर प्रभुत्व, जिसे राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक सत्ता कहते हैं। आप कहते हैं कि संगठन और संस्था सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। यह आवश्यकता किसलिए है ? इसमें से क्या सिद्ध हो ? आप क्या चाहते हैं ? आप कहेंगे—स्वतन्त्रता के लिए। 'स्वतन्त्रता किसकी ?' 'व्यक्ति की।' व्यक्ति की स्वतन्त्रता से अर्थ है उसकी बुद्धि की स्वतन्त्रता, उसके शुद्ध मन की स्वतन्त्रता। तो, यह मानसिक स्वतन्त्रता, बौद्धिक स्वतन्त्रता और इन दोनों के साथ मिली हुई शारीरिक स्वास्थ्य की स्वतन्त्रता, शारीरिक संचार, विहार और प्रवास की स्वतन्त्रता। ये सारी स्वतन्त्रताएँ कई प्रकार की हो सकती हैं। एक की स्वतन्त्रता और दूसरे की स्वतन्त्रता में जहाँ विरोध पैदा होता है, वहाँ दोनों की स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए तीसरी शक्ति की आवश्यकता पैदा होती है।

आप संगठन की आवश्यकता क्यों बताते हैं ? एक के स्वार्थ में और दूसरे के स्वार्थ में विरोध पैदा होता है, एक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता के विरोध में खड़ी हो जाती है, इसलिए संगठन का उद्देश्य है, दोनों का अविरोधी स्वार्थ और दोनों की परस्पर अविरोधी स्वतन्त्रता। 'प्रशासन कम होगा', ऐसा जब हम कहते हैं, तो उसका अर्थ क्या है ? यही कि आप मेरी स्वतन्त्रता में रुकावट नहीं डालेंगे, मैं आपकी स्वतन्त्रता में रुकावट नहीं डालूँगा। मैं आपके स्वार्थ में रुकावट नहीं डालूँगा, आप मेरे स्वार्थ में रुकावट नहीं डालेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि दोनों के स्वार्थ परस्पर अविरोधी होंगे। इस अविरोधी स्वार्थ और स्वतन्त्रता का संरक्षण जिस संस्था में होता है, उस संस्था का नाम है—समन्वयात्मक संस्था। ऐसे समन्वयात्मक संगठन और समन्वयात्मक संस्थाओं की आवश्यकता है।

शासन की आवश्यकता

मैं आपके स्वार्थ का विरोध न करूँ, आप मेरे स्वार्थ का विरोध न करें; मैं आपकी स्वतन्त्रता में रुकावट न डालूँ, आप मेरी स्वतन्त्रता में रुकावट न डालें, इसके लिए अगर बीच-बचाव करने की तीसरे की आवश्यकता हुई, तो

आपकी और मेरी मनुष्यता मे त्रुटि है। दोनो की समझदारी मे अभी कुछ-कुछ कमी है। एकनाथ लोकेंद्र की फाउटेन पेन न छीने और लोकेंद्र एकनाथ की फाउटेन पेन न छीने, इसलिए दोनों के बीच अगर बदरी भाई को बैठाने की जरूरत हुई, तो इन दोनो की समझदारी मे फर्क है। इसका नाम है—शासन।

संस्था मे शासन की जितनी अधिक आवश्यकता होगी, उतना ही उसके सदस्यो मे परस्पर विश्वास और स्नेह कम होगा। जहाँ परस्पर स्नेह और विश्वास होगा, वहाँ एक-दूसरे के विचार के लिए केवल आदर ही नहीं, अनुकूलता भी होगी। यह सहिष्णुता नही है। दूसरे के विचार के लिए आदर नही है। केवल बौद्धिक उदारता नहीं है। यह विश्वासमूलक और स्नेहमूलक अनुकूलता है।

आप जब कहते है कि सगठन के विषय मे आप अपनी राय दीजिये, तो क्यो? इसलिए कि आपकी जो राय बनी हुई है, उसको या तो पक्की कर लेना चाहते है या शुद्ध कर लेना चाहते है। इसके बाद वह पक्की या दुरुस्त नही होती और मेरी राय आपको ठीक नही जँचती, तो मै आपकी राय को समझ लेना चाहता हूँ। दोस्ती और मुहब्बत से एक-दूसरे को समझने की जो कोशिश पैदा होती है, वह इन संस्थाओ की आत्मा है।

परस्पर समझने की कोशिश

सस्था और सगठन की अगर कोई आत्मा होती हो, तो अहिंसक संस्था और सगठन की यह आत्मा है कि उसके सदस्य एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते है। न समझ पाने पर कहते हैं कि आपकी राय समझने की मैंने कोशिश की और अब भी समझने की कोशिश चल रही है, लेकिन अब तक नहीं समझ सका हूँ। दूसरे कहते है कि जब तक तुम नहीं समझ सकते, तब तक फैसला करने की क्या जरूरत है? तुम अड़ियल होते, तो बात अलग थी, लेकिन अडियल हो नहीं। तुम देख रहे हो कि हम सबकी राय एक तरफ है, तुम्हारी राय एक तरफ। तुम्हे इसकी चिन्ता है, उत्कठा है कि इन सबकी राय एक है, तो वह मेरी समझ मे क्यों नहीं आ रही है। दूसरी तरफ हमे परेशानी है कि हम सबकी राय अगर एक है, तो हम तुम्हे क्यो नहीं समझा पाते।

दोनो तरफ जब ऐसा हार्दिक प्रयास होता है, तब उसे 'उत्कटता' कहते हैं। समझाने मे उत्कटता है, समझने मे उत्सुकता है, जब परस्पर ऐसी अनुकूल भूमिका होती है, तब उसमे से स्वाभाविक सर्वानुमति सिद्ध होती है। यह सर्वानुमति औपचारिक नहीं, हार्दिक सर्वानुमति है। इसलिए सर्व सेवा सघ के

सामने जब सवाल हुआ, तो 'यूनेनिमिटी' शब्द नहीं लिया गया। 'यूनेनिमिटी' का मतलब है 'एकमत'। 'सर्वानुमति' शब्द लिया गया, जिसका अनुवाद है 'हार्मनी'। वैसी 'हार्मनी', जैसी संगीत मे होती है। भेद तो है, लेकिन सारे भेदो को अगर हम मिलायें, तो वे सारे भेद एक-दूसरे के अनुकूल है, इसलिए उनमें से सवाद पैदा होता है। भिन्नता जब अनुकूल होती है, तब उन भिन्नताओं में से सवाद सिद्ध होता है। इसीको 'हार्मनी' कहते हैं। सर्वानुमति का असल अर्थ है—वृन्द-सगीत मे, सामुदायिक संगीत मे जो हार्मनी होती है, वह। आर्केस्ट्रा मे गायन और वादन दोनों मे भेद है, लेकिन दोनों का सवाद है, 'हार्मनी' है। इसलिए गाधी ने कहा कि सगठन अहिसा की कसौटी है।

गांधी सेवा संघ

हम लोग गाधी सेवा संघ मे थे। गाधी ने वहाँ कुछ मतभेद देखे। कुछ यह भी देखा कि सुभापबाबू के अनुयायी और काग्रेस के अनुयायी यह समझ रहे है कि यह सुभाप-जवाहरलाल की काग्रेस है। गाधी की काग्रेस है—गाधी सेवा सघ। यह देखकर गाधी ने कहा कि अब इस संगठन मे दोष आ गया। मैं इसे तोड दूंगा। जिस सगठन में दोष आ गया, उसे बनाये रखना अहिसा के खिलाफ है। जिस सरकार मे दोप है, उसे तोडना मेरा कर्तव्य है, उसी तरह जिस संस्था मे दोप है, उसे तोडना मेरा कर्तव्य है।

गाधी से पूछा गया कि क्या इसके बाद आप नया सगठन बनायेंगे? तो उन्होने कहा कि मै नहीं जानता। लेकिन अगर नहीं बना सका, तो मै निर्लज्ज होकर ससार के सामने कहूँगा कि अहिसा का सगठन होना असभव है। लेकिन अभी मुझे आशा है। मैं प्रयोग कर रहा हूँ।

प्रयोग किस दिशा में हो, यह जान लेना आवश्यक है। महेश पूछता है कि जब हमे राज्य से सहायता प्राप्त होती है, तो फिर राज्याश्रित सगठन क्यो नहीं हो सकता? इसलिए नहीं हो सकता कि सगठन स्वतन्त्रता-प्रधान बनाना है, सत्ता-प्रधान नहीं। ब्लड-बैंक (रक्त-भण्डार) को देखिये। दूसरे मानवो के लिए इतना रक्त मनुष्यों ने दिया हो, ऐसा इतिहास मे कहीं नहीं पढ़ा। बकासुर के उदर से अपने प्रियजन को बचाने के लिए एक की जगह दूसरा खडा हो गया हो, ऐसा हमने पढा है। इन्द्र को जिलाने के लिए या देवताओं के लिए बगैर शिकायत के अपनी हड्डियाँ दे देने के उदाहरण हमने पढे है। लेकिन ऐसा त्याग महापुरुषों ने किया। सामान्य मनुष्यो ने इतने बड़े पैमाने पर दूसरे मनुष्यो के लिए है रक्त-दान किया हो, ऐसा नहीं देखा। ये सब इस युग की अच्छाइयाँ

है, शुभ लक्षण है। एक तरफ तो यह है और दूसरी तरफ विज्ञान का उपयोग रक्त बहाने के लिए किया जा रहा है।

दो प्रकार के संगठन है। एक सगठन 'ब्लड-बेंक' का है, जो रक्त-दान के लिए है और दूसरा सगठन अणु-शस्त्रो का है, मनुष्यो का सफाया करने के लिए। एक संगठन है रोग के कीटाणुओ से मनुष्यो के निवास को मुक्त करने का। दूसरा सगठन है, शत्रु के निवास मे जाकर रोग के कीटाणु छोड़ने का। ये दोनो सगठन आज चल रहे है। हमारे सामने सवाल यह है कि इन दो प्रकार के सगठनो मे से हम किस प्रकार का सगठन करेगे। क्या ये दोनो प्रकार के संगठन आवश्यक है? दोनो समान रूप से आवश्यक है या इसमे से एक को आगे बढाना है और दूसरे को समाप्त करना है?

इसमें एक और गंभीर विचार है। सगठनो की शक्ति और उनका आकार बढ़ रहा है। खेल के मैदान पर दो लड़को का झगड़ा हो जाता है। आठ-आठ, दस-दस साल के लड़के है। सुकुमार उँगलियाँ है, उनके मुक्के भी कोमल हैं। दोनो मे घूँसेबाजी हो गयी। आप वहाँ से होकर जा रहे है। जाते-जाते एक नजर आपने देख लिया। आपने मुसकरा दिया। सोचा कि छोटे बच्चे है। कोमल हाथ है, कोई बहुत चोट नही आयेगी। आप थोडा आगे बढे। दो प्रौढ व्यक्तियो मे मुक्केबाजी हो रही है। आप घबडाये, ठिठके। तबीयत हुई कि बीच मे पड़ जायँ। क्यो? दोनो मजबूत है। इनके घूँसे से चोट आ सकती है। इनकी मुक्केबाजी ठीक नहीं। थोड़ा और आगे बढ़े। द्वन्द्व-युद्ध हो रहा है दो क्षात्र-वीरो मे। दोनो के पास भरी पिस्तौल हैं। एक-दूसरे की जान ले सकते हैं। इसको देखकर आप और भी घबड़ाये।

संगठनो की भयानकता

संगठनो की शक्ति जितनी बढ़ती जाती है और उनके पास एक-दूसरे पर प्रहार करने के साधन जितने बढते जाते है, संगठनो की भयानकता उतनी ही बढ़ती जाती है। इन संगठनो की—मै सेनाओं की ही बात नहीं कर रहा हूँ—इन शिक्षण-सस्थाओं की, धार्मिक सस्थाओ की प्रहार-क्षमता जितनी बढती चली जायगी, उतना ही इनका सगठन मनुष्य-समाज के लिए आपत्तिजनक होगा और मानवता के लिए घातक सिद्ध होगा। पश्चिम मे आज किस प्रकार के सगठन हो रहे है, उनका स्वरूप क्या है?—इन सबका अत्यन्त वैज्ञानिक विचार आज हो रहा है। हमारे यहाँ अभी इतना यत्रीकरण नही है, इतना शिक्षण नहीं है और इन दोनों के साथ-साथ इतनी संगठन-परायणता भी नहीं

है। इसलिए पश्चिम का सारा-का-सारा संगठनवाद मैं नहीं ले रहा हूँ। लेकिन हमें किस वस्तु से बचना है, क्या करना है, इतना आज ही निश्चित कर लेना चाहिए। ऐसा करना बहुत आवश्यक है।

सहयोग का आधार

अहिंसक संगठन सहयोगात्मक होना चाहिए, प्रतीकारात्मक नहीं। उसका आधार सहयोग होगा। जितने संगठन बनें, उनका उद्देश्य, आधार और पद्धति सहयोग हो, उनकी नींव सहयोग हो, उनका ढाँचा सहयोग हो और शिखर भी सहयोग हो।

आज का संगठन किस प्रकार का है? आज के संगठनों में सहयोग प्रतीकार के लिए, संघर्ष के लिए होता है। उसका सम्मिश्र आशय बुद्धि को असमंजस में डाल देता है। हृदय को अभिग्रस्त कर लेता है। फिर अनुभव होता है कि कोई प्रतिपक्षी न हो, तो संगठन में प्राण नहीं आता। जब तक सामने कोई प्रतिपक्षी नहीं है, तब तक संगठन में तेज नहीं है। 'तेज' का मतलब हमने 'ज्वाला' किया है। 'तेज' का मतलब 'प्रकाश' नहीं किया। ज्योति प्रकाश देती है, चाहे छोटी भले ही हो। ज्वाला में दाहकता होती है। संगठन के तेज से हमारा मतलब यह है कि उसमें दाहकता होनी चाहिए। वह दाहकता, तेज हमारे संगठन में न हो, तो हम समझते हैं कि हमारे संगठन निःसत्त्व, निष्प्राण और निस्तेज हैं।

अहिंसक संगठन कुछ फीके-फीके-से क्यों मालूम होते हैं? इसलिए कि उनमें संघर्ष का मसाला नहीं है, विरोध का छौंक नहीं है। कोई वस्तु, कोई संस्कार, कोई पद्धति, कोई प्रक्रिया हमारे विरोध में हो, तो आवेश के लिए पर्याप्त नहीं है। उसके लिए कोई प्रतिपक्षी चाहिए। लेकिन वह कौन-सा हो? वह मानवीय हो।

रावण के दस मुँह, तो हमारी दस इन्द्रियाँ हैं। रावण के बीस हाथ, तो हमारे बीसों दोष हैं। राम तो हमारे अंतर्यामी भगवान् हैं। किसीने कहा कि रामायण तो फीकी है, तो अब उसको कौन पढ़ेगा? और रामलीला में? रामलीला में रावण खड़ा किया गया है और एक सुकुमार लड़के को राम बनाया गया है। वह उसको बाण मारता है, तो जोश आता है। क्या इस बुनियाद पर हमारा अहिंसक संगठन हो सकता है? यह सवाल हमारे सामने है।

अहिसक प्रक्रिया मे प्रतीकार तात्कालिक, नैमित्तिक धर्म है। नित्य आचरण का धर्म है—सहयोग। उसके साथ भी सहयोग, जो हमारा प्रतिपक्षी हो। जितने अंश मे और जिस स्थान पर हमारा उसका मतभेद होता हो और जहॉ विरोध करना आवश्यक हो, उतने ही अश मे उसी स्थान पर विरोध। अन्य सारे अशो और स्थानो पर सहयोग। यह उसका नित्य धर्म है। उसके उस प्रतीकार मे स्नेह का अनुपान होता है। आपको कडवी पीपल भी खिलानी हो, तो शहद मे मिलाकर खिला देता है।

प्रतीकार मे यह जो स्नेह का अनुपान है, वह कहॉ से आता है? वह अहिसक संगठन से आता है। सार्वत्रिक स्नेह और सौहार्द का वातावरण हो, सार्वत्रिक सद्‌भाव छा रहा हो—इस प्रकार के वातावरण में सघर्ष हो रहा है। तब सगठन, सस्था बनी किसलिए थी? भावरूप सहृदयता के लिए। प्रसगविशेष मे तात्कालिक सघर्ष होता है। प्रतीकार होता है, तो उसमे विषमता नही आती। नही तो विषमता आती है। अहिंसक सगठन अगर सघर्ष-प्रधान होगा, तो मनुष्य का जीवन संघर्ष-प्रधान होगा और मनुष्य का जीवन अगर संघर्षप्रधान होगा, तो फिर वह युद्ध-प्रधान होगा। मनुष्य का जीवन अगर युद्धप्रधान होगा, तो वह सशस्त्र जीवन हो या निःशस्त्र, वह सत्ता-प्रधान होगा।

आज आप देखते है कि राजनैतिक संस्थाऍ दूसरी सारी संस्थाओ का नियत्रण करती हैं। पर राज्य-सस्था का नियत्रण शस्त्र-सस्था करती है। पहले यह समझा जाता था कि राज्य-सस्था कुत्ता है और शस्त्र-सत्ता–सेना–उसकी पूॅछ। पहले कुत्ता पूॅछ हिलाता था और अब? अब पूॅछ कुत्ते को हिलाती है।

राजनीति के बिना युद्ध असभव है। क्या युद्ध के बिना राजनीति सभव है? इस प्रश्न का उत्तर पश्चिमवाले खोज रहे है।

सत्ता-निरपेक्ष संगठन

इसी प्रकार का उत्तर हमे खोजना है। इसलिए हम कहते है कि हमारा सगठन सत्ता-निरपेक्ष होना चाहिए। हरएक का सहयोग और हरएक की सहायता लेना परावलम्बन नही है। लेकिन किसीके भरोसे जीना, उसका आश्रित बन जाना परावलम्बन है। हमारा सगठन सत्ता-निर्भर न हो, राज्यावलम्बी न हो और सघर्ष-प्रवण न हो। सघर्ष-प्रवण का मतलब है, प्रतीकाराभिमुख।

कॉलेज मे लडको को क्यो सिखा रहे हो? अन्त मे युद्ध करना है। कारखाने क्यो चला रहे हो? अन्त मे युद्ध करना है। गिरजाघरो मे प्रार्थना

क्यों हो रही है ? अत में युद्ध जीतना है। इस तरह हमारे सारे संगठन प्रतीकाराभिमुख होंगे, तो उनमें प्रतीकार का अंश बढ़ेगा, सहयोग का अंश कम होगा। अमेरिका और इंग्लैंड मे आपस में बहुत बडा सहयोग है। 'सीटो' और 'नाटो' राष्ट्रों मे बहुत बडा सहयोग है। लेकिन यह सहयोग किसलिए ? रूस के दाँत खट्टे करने के लिए ! रूस और चीन में बहुत बडा सहयोग है। लेकिन किसलिए ? अमेरिका के दाँत खट्टे करने के लिए ! इस सहयोग में आवेश है, उन्माद है, प्रखरता और तीव्रता है। हर सेना में जितना सहयोग होता है, उतना किसी शांतिमय संस्था में नहीं होता। इसका कारण यह है कि सेना का सारा-का-सारा सहयोग विरोध के लिए है। वह शत्रु कौन होगा ? जर्मनी ? अमेरिका ? नहीं। हिटलर, स्टालिन होगा, आइसनहावर होगा। आइसनहावर की जगह ट्रूमन होगा, तो वह भी शत्रु होगा। आपका विरोधी जब तक मानव नहीं होगा, तब तक आपका संगठन प्राणवान् नहीं बनेगा। भूमिहीनों का संगठन किसके खिलाफ ? मालकियत के खिलाफ ! जोश ही नहीं है। मालकियत कहीं रहती है ? संगठन किसके खिलाफ कर रहे हो ? लाल रंग के खिलाफ। इसमें क्या दम है ? कम्युनिस्टों के खिलाफ संगठन कर रहे हैं—इसमें दम है।

सेवा-प्रधान संगठन

प्रश्न यह है कि क्या यह अनिवार्य है ?

अहिंसात्मक प्रतिरोध का सत्याग्रह का, उत्तर यह है कि दुनिया में हमारा प्रतिपक्षी कोई नहीं है। सभी हमारे स्वजन हैं। हम प्रतीकार बुराई का करते हैं, पाप का करते हैं, दोष का करते है, व्यक्ति का नहीं। क्या हमने अपने संगठनों में इस चीज को पकडा है ? इसका नाम है सेवा-प्रधान संगठन। सेवा-प्रधान संगठन का मतलब यह नहीं कि वह संगठन विपत्ति और संकट की खोज में हो। कहाँ दुःख है, कहाँ संकट है, कहाँ विपत्ति है, इसकी खोज करके जहाँ-जहाँ वह होगा, वहाँ पहुँचेगा। इसे 'सेवा-प्रधान संगठन' नहीं कहते। समाज में जो सह-जीवन की बुनियादों को मजबूत करता है, वह सेवा-प्रधान संगठन है। वह दुःख-दारिद्र्य, दीनता, संकट और आपत्ति का निवारण सहयोग से करता है। याने इनके निवारण की जो प्रक्रिया है, इसमें भी सहयोग होना चाहिए। यह नहीं कि एक निवारण-कर्ता है, दूसरा उद्धार-कर्ता है और तीसरा शरणागत है। यह भूमिका नहीं है। अन्योन्य सहयोग है। इसलिए हमारा संगठन सहयोगात्मक संगठन होगा।

१२-२-'६० प्रात

संगठन की प्रेरणा का मूल : प्रेम

आप अगर यह कहे कि हम ऐसा सगठन चाहते है, जिसमे प्रशासन नही होगा, सविधान नही होगा और जिसमे आज्ञापन और आज्ञा-पालन दोनो नही होगे, तो लोग कहेगे कि अब तक के ज्ञान और अनुभव के आधार पर यह असभव है। दो प्रकार के उत्तर आपको मिलेगे। एक तो यह कि यह अपने मे असभव है और दूसरा यह कि अगर मनुष्य-स्वभाव कुछ भिन्न होता, तो ऐसा हो सकता था। एक पाश्चात्य विचारक ने इन उत्तरों को 'वुई काण्ट' और 'कुड इफ'—ये दो नाम दिये है। 'कुड इफ' याने हम कर सकते—यदि ऐसा होता तो। और 'वुई काण्ट' याने हम नही कर सकते। इन दोनो का कारण क्या है ? इन दोनो का कारण यह है कि अहिंसक प्रतीकार और अहिंसक सगठन की संभावनाओ के विषय मे जो खोज होनी चाहिए, उसकी तरफ आज हमारी प्रवृत्ति नही है। जिसे हम व्यावहारिक, भौतिक या नियमबद्ध सविधानात्मक संगठन कहते हैं, उसके सस्कार इतने प्रबल है कि दूसरी तरह के सगठन के प्रयोग हम करना नही चाहते। ये सफल होते, तो दूसरे प्रयोगों की आवश्यकता न होती।

लेकिन जिसे हम सविधानात्मक, प्रशासनात्मक सगठन कहते है, वह अब तक दुनियामे सफल नही हुआ है। यह प्रत्यक्ष होते हुए भी हम इसे मानने को तैयार नही है। इसका प्रत्यक्ष सबूत यह है कि दुनिया मे लडाई कोई नही चाहता। फिर भी सिर्फ लडाई ही नही होती, लडाई की तैयारी भी होती है। इसका कारण लडाई का भूतकाल का सस्कार है। इस समय लडाई की तैयारी है, इसका परिणाम भविष्य मे भी लडाई है। इस 'लडाई' की जगह आप 'सघर्ष' शब्द रख लीजिए, 'प्रतीकार' शब्द रख लीजिये, तो फिर सशस्त्र और निःशस्त्र मे अन्तर नही रह जाता। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य की आकाक्षा तो सघर्ष का अन्त करने की है, परन्तु मन का इरादा नही है।

अभिमन्यु का चक्रव्यूह

दोनों मे अन्तर है। इच्छा है, लेकिन मन का निश्चय, इरादा नही है। यह इरादा क्यों नही है ? उसको यह भरोसा नहीं हो सका है कि लडाई, सघर्ष

और प्रतीकार के विना भी सजीव सस्थाएँ और सजीव संगठन चल सकते हैं। उसने वड़े-वड़े पहाड़ों को तोड़ दिया। उसके पास आज ऐसे उपकरण हैं कि पर्वतों को वह जमीनदोज कर सकता है, समुद्र और घाटियों को पाट सकता है और उन पर पुल वना सकता है। लेकिन मनुष्यों के सस्कारों के पहाड़ों को सपाट कर सके, उनका छेद कर सके और मनुष्य मनुष्य में जो खाई है, उस पर पुल वना सके, यह सामर्थ्य उसकी बुद्धि में नहीं दिखाई देती। यह अभिमन्यु का चक्रव्यूह है। मनुष्य अपनी वनायी हुई दुनिया में रास्ता भूल गया है।

किसी शहर में एक कारखाना है, जहाँ एक आदमी काम कर रहा है। 'क्या वना रहे हो?' आप उससे पूछते हैं। वह कहता है कि 'मैं एक ऐसा शस्त्र वना रहा हूँ, जो पाँच हजार मील की दूरी पर प्रहार कर सकता है।' उसने ऐसा शस्त्र वना दिया। वह अपने घर चला गया। शायद मर भी गया। कुछ वर्षों के बाद वह शस्त्र दुनिया के दूसरे छोर पर फेंका जाता है। वह वहुत-से आदमियों को मार देता है।

इस तरह मनुष्य आज गुमनाम रहकर हत्या कर सकता है। लेकिन मनुष्य गुमनाम रहकर खून नहीं कर सकता। खूनी मनुष्य की आप खोज कर सकते हैं। खूनी मनुष्य अपने अपराध से भागता है। पर यह गुमनाम रहकर मनुष्य की हत्या कर सकता है, इसलिए उस हत्या की जिम्मेवारी का भान उसे नहीं है। हमारे सारे सगठन एक-दूसरे के साथ गूँथे हुए हैं और इन सवका एक गोरख-धन्धा वन गया है। शिक्षण-सस्था, धर्म-संस्था, अखवार, रेडियो, डाक-घर, तार-घर, मंदिर, मसजिद जितनी संस्थाएँ हैं, वे सब एक-दूसरे के साथ गुँथी हैं। इस चक्रव्यूह में से रास्ता निकालना है।

इसमें बुद्धि लगानी पड़ेगी। कौन-सी बुद्धि? जो हृदय की सवेदनाओं और आवेगों से मुक्त हो! वह प्रक्षालित बुद्धि होगी। उस बुद्धि का अब काम है। वह बुद्धि ऐसा करे, जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व और पारस्परिक व्यवहार में सवादित्व हो। इसके विज्ञान का विकास करना आवश्यक है। सत्याग्रह के साथ प्रतीकार के क्षेत्र में हमने इसकी थोड़ी-सी चेष्टा की, लेकिन अब तो समाज-निर्माण के काम में इसकी चेष्टा करनी है। सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में परि-वर्तन करना है। समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया यही है कि मनुष्यों के पारस्परिक सबंधों के क्षेत्र में संवादित्व और सामंजस्य का विकास किया जाय। हमारी सस्थाओं का नव-सस्करण करने की आवश्यकता है।

पर इसके लिए हमारे पास अभी कोई वना-वनाया नक्शा नहीं है। इसके क्रम-विकास की अभी पूरी-पूरी योजना वनी नहीं है क्योंकि अभी प्रयोग करने

हैं और हो सकता है कि इस दिशा मे असफल प्रयोग करने हो, क्योंकि सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि अपने अज्ञान का भी हमे ज्ञान नहीं है।

युद्ध का व्यापार

अब तक सस्थाएँ सशस्त्र सघर्ष के आधार पर चली है। शिक्षण-सस्थाओ ने इसी प्रकार की मनोवृत्ति बनायी है, धार्मिक संस्थाओ ने इसी तरह के धार्मिक सस्कार दिये हैं, प्रचार की संस्थाओ ने इसी वृत्ति के निर्माण के लिए शिक्षण-सस्था और धार्मिक संस्था—दोनो के साधनो का उपयोग किया है। आर्थिक संस्थाओ ने तो इसको सब तरह से उत्तेजन दिया है, क्योकि वे युद्धजन्य अवसर से हमेशा लाभ उठाना चाहती है। मनुष्य का आर्थिक स्वातन्त्र्य, उनकी आर्थिक भूमिका युद्ध चाहती है। कोई शीत-युद्ध चाहेगा, तो कोई उष्ण-युद्ध। युद्ध इसलिए चाहता है कि युद्ध से आर्थिक क्षेत्र मे लाभ के लिए अवसर मिलता है। आज दुनिया मे सबसे बड़ा व्यापार युद्ध का है। युद्ध के क्षेत्र मे व्यापार के लिए जितना अवसर है, उतना कहीं नहीं है। इस तरह संस्थाएँ आपस में गुँथी हैं।

एक दफा आप यह निश्चय करे कि संस्था का उद्देश्य, प्रतियोगिता और सघर्ष होगा, तो संस्था का स्वरूप बदल जाता है, सारी संस्थाएँ मिली-जुली होने से उनका ढंग, नक्शा और चित्र बदल जाता है। संस्थाओ का आशय, भूमिका और स्वरूप तीनों बदल जाते हैं।

मनुष्य ने सबका भय छोड़ दिया है। उसने ईश्वर का भी भय छोड़ दिया है। प्रकृति को तो वह नित्य परास्त कर रहा है। प्रकृति का भय निकल गया है। जंगली जानवरो से भय नहीं रहा है। बीमारियो से भय नही रहा है। मनुष्य ने बहुत से भयो को जीत लिया है, लेकिन उसे अपने प्रति ही भय है! वह अपने को नही जीत सका। सारा भय यहाँ आकर केन्द्रित हो गया है। मनुष्य को अपने से डर है। मनुष्य को मनुष्य से डर है।

संगठन मे तीन वृत्तियों का अभाव हो

सगठन मे से हम तीन वृत्तियों को हटाना चाहते है। हमारा सगठन सविधानात्मक नहीं होना चाहिए। शासनात्मक तो हो ही नही। जहाँ तक हो, हमारे सगठन के लिए किसी संविधान की आवश्यकता न हो और यदि सविधान हो भी, तो उसमें नियम कम-से-कम हो। और जो नियम हो, उनमे से अधिकाश अलिखित ही हों। लिखित नियम कम-से-कम हों।

दण्ड-शक्ति पर विश्वास

दूसरी बात यह है कि हमारे जो संगठन हैं, उनका संबंध अदालत, पुलिस और शासन-संस्थाओं से न हो। हमारी संस्थाओं में नैतिक, सामाजिक और कानूनी—तीनों प्रकार के अपराध होंगे। लेकिन उनके लिए हम कानून पुलिस और सरकार के अधिकारियों के अधिकार का उपयोग नहीं करेंगे। इसकी कीमत हमें क्या देनी पड़ेगी? कभी हमारी संस्था में गबन होगा, कभी कुछ। विद्यमान संस्थाओं की कैद से छुटकारे के लिए, उनके चक्रव्यूह से बाहर निकलने के लिए कुछ कीमत तो देनी ही होगी। यह कीमत देने की हिम्मत हममें नहीं है क्योंकि हमने यह मान लिया है कि पुलिस, फौज और जेल के कारण मनुष्य सत्प्रवृत्त है। अगर अदालत, पुलिस और जेलखाने का डर न हो, तो मनुष्य सत्प्रवृत्त नहीं रहेगा।

मनुष्य की बुद्धि में तो विश्वास है ही नहीं, उसके हृदय में भी विश्वास नहीं है। इसलिए हमारी संस्थाएँ अहिंसात्मक प्रक्रिया की वाहक नहीं बनतीं। वे अहिंसा के तत्त्व के अनुसार नहीं चलतीं। भीतर से हम सब लोगों का विश्वास दंड-शक्ति पर है। इसका प्रयोग हम नहीं कर पाये कि क्या कोई संस्था दंड-शक्ति के बिना, दंड-निरपेक्ष, हो सकती है? अधिक-से-अधिक क्या होगा? यही न कि संस्था टूट जायगी। टूट जाय, तो बहुत रोने का कारण नहीं है। महत्त्व प्रयोग का है, सफलता का नहीं। यह हिम्मत का काम है।

निर्वाचन न हो

इन संस्थाओं में निर्वाचन नहीं होना चाहिए। प्रतिनिधित्व हो, लेकिन निर्वाचन नहीं। एक सहज-प्रतिनिधित्व होता है। तिलक, गांधी इस देश के सहज-प्रतिनिधि थे। यह सहज-प्रतिनिधित्व जहाँ होगा, वहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पद्धति का कोई चुनाव नहीं होगा। अगर सहज प्रतिनिधित्व नहीं होगा, तो अप्रत्यक्ष चुनाव भी उतना ही उपद्रव कर सकता है, जितना प्रत्यक्ष चुनाव। आज की परिस्थिति में जब कि गाँव के पास कम-से-कम सत्ता है, राज्य और संघ-राज्य के पास अधिक सत्ता है—ऐसी परिस्थिति में तो अप्रत्यक्ष चुनाव अनर्थकारक होगा। जहाँ अधिक-से-अधिक जिम्मेवारी है, वहाँ प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व चाहिए। नागरिक के लिए जहाँ अधिक-से-अधिक दायित्व है, अधिक-से-अधिक कर्तव्य है, उस क्षेत्र में उसका प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व चाहिए। जैसे-जैसे ऊपर के क्षेत्र में सत्ता और जिम्मेदारी कम होती जायगी, वैसे-वैसे अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व हो, तो हर्ज नहीं है। लेकिन आज की परिस्थिति में गाँव में सत्ता

ही बहुत कम है, ऊपर सत्ता अधिक है। अप्रत्यक्ष चुनाव से थोड़े से आर्थिक लाभ के सिवा कुछ लाभ होनेवाला नही है।

हमारी अपनी जो सगठनात्मक संस्थाएँ होगी, वहाँ सहज-प्रतिनिधित्व होगा। आप लोगों ने अपना काम बाँटते हुए कहा कि रिपोर्टिंग का काम पद्मा करेगी। यह कैसे हो गया ? अपने-आप हो गया। कोई चुनाव नही हुआ। प्रतिनिधित्व है और वास्तविक प्रतिनिधित्व है। एक काम वह कर रही है, जिसके पीछे आप सबकी सम्मति है। दूसरे से कहा कि बीमारो की तरफ तुम्हे देखना है। तीसरे से और कुछ कह दिया। यह आपस मे आप लोगो ने किया। आप अगर स्वयं सोचेंगे, तो आपको ही पता नहीं चलेगा कि यह सब कैसे हो गया। मैं इसे 'सहज' कहता हूँ। इसमे प्रतियोगिता नही है। किसीको आपके खिलाफ शिकायत नही है। आपके खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव भी नही आयेगा, क्योंकि प्रस्ताव आने के पहले ही आपको गंध आयेगी। सस्थाओ मे यह चीज स्वाभाविक रूप से आती है। याने मनुष्य का जितना विश्वास हम विचारपूर्वक नहीं कर सकते, उतना विश्वास स्वभावतः हममे है।

देहात से एक व्यक्ति काशी आ रहा है। घर से वह जब चलता है, तो लोग कहते है कि 'तू काशी तो जा रहा है, जरा सँभल के रहना।' वह कहता है कि 'मुझे क्या मालूम नहीं है कि अगर मै मर जाऊँ, तो काशी के आदमी लात मारकर देखेगे कि दर असल मै मरा हूँ या नहीं ?' वह यहाँ आता है। रास्ते मे उसे बिच्छू काटता है। वह चिल्लाता है—'दौडो-दौड़ो।' पर यह वह किससे कह रहा है ? उन्हीं काशी के लोगो से कह रहा है, जिनके लिए वहाँ से यह कहकर चला था कि मैं मर जाऊँगा, तो वे लाश को लात मारकर देखेंगे कि दरअसल मरा हूँ या नहीं। अब 'दौडो-दौडो' वह उन्हीं से क्यो कह रहा है ? इसीलिए कि मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह दूसरे मनुष्य पर विश्वास करता है। अविश्वास के लिए कारण होते हैं।

भौतिक विज्ञान का नतीजा यह हुआ कि और सब प्रकार के भय तो कम हो गये, लेकिन मनुष्य का भय बढ़ गया। अपनी इन सस्थाओ मे अगर हम मनुष्य पर विश्वास का प्रयोग कर सके, तो करे। इससे कौटुम्बिकता की तरफ हमारा कदम बढेगा।

संगठन कैसा हो ?

सविधान न हो, नियम कम-से-कम हो। और वे भी अलिखित हो। प्रतिनिधित्व हो, लेकिन निर्वाचन न हो। हम इसको समाजव्यापी करना चाहते

है। विनोबा ने इसे 'तंत्र-मुक्ति' कहा। शासन-मुक्त समाज की तरफ जाने के लिए हमारी अपनी संस्थाओं में तन्त्र-मुक्ति आवश्यक है। अब इनमें जो सेवक होगा, उसकी भूमिका क्या होनी चाहिए? एक बात खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि सैनिक की मनोवृत्ति जैसी अस्वस्थ होती है, वैसे ही सेवक की मनोवृत्ति भी अस्वस्थ है। सैनिक के लिए सुयोग कौन-सा है? युद्ध। और सेवक के लिए सुयोग कौन-सा? संकट, दुःख और विपत्ति।

आप सेवा-परायण व्यक्ति हैं। मतलब, आप सेवा की खोज में हैं। अगर कहीं संकट न हो, विपत्ति न हो, तो आप बेकार हैं। इसलिए हमारी मनोवृत्ति यह होनी चाहिए कि ऐसा समाज बने, जिसमें सेवा के लिए अवसर न हो।

श्मशान का उद्घाटन!

मुझे याद है कि एक दफा एक शिविर में गया था। वहाँवालों ने मुझे उस गाँव की तरक्की का हाल सुनाया। बाद में उन्होंने कहा कि 'दवाखाने की यह नयी इमारत बनी है। अनायास आप आ गये, तो इसका उद्घाटन कर दीजिये और हमें आशीर्वाद दे दीजिये।' हमने कहा कि 'बाहर से हम उद्घाटन तो कर देते हैं, क्योंकि हम बीमार तो हैं ही नहीं कि इसका उद्घाटन कर सकें। लेकिन आशीर्वाद यह है कि इसमें पहले बीमार आप दाखिल हों।' आप कहेंगे कि 'यह आशीर्वाद कैसा? यह तो शाप है!' मैंने कहा कि 'अगर यह अस्पताल है, तो इसमें और क्या आशीर्वाद दे सकते हैं?'

हमारे एक सम्माननीय मित्र, खादी-संस्था के संस्थापक जिस दिन मरे, उनका शव लेकर हम श्मशान पहुँचे, तो वहाँ उनके लिए शोक-सभा हुई। उसमें उस नगर की म्युनिसिपैलिटी के एक सदस्य का पहला भाषण हुआ। उन्होंने कहा कि 'यह बहुत अच्छा सुयोग है। हमने यह श्मशान घाट अभी बनवाया है और पहला ही शव इस महापुरुष का आया। बड़ा सद्भाग्य हुआ कि इसका उद्घाटन एक महापुरुष के शव से हो रहा है!'

मानव्य-प्रधान संगठन

मैंने तीन संस्थाएँ बतायी थीं—अदालत, पुलिस और जेलखाना। इनके सिवा जिन्हें आप सेवा की संस्थाएँ कहते हैं, उनका उपयोग भी समाज में कम-से-कम होना चाहिए। यह एक सेवक की भूमिका है। समाज में सेवा के लिए जो संस्थाएँ हैं, उनका उपयोग करने की नौबत नागरिक को न आये, यह सेवा की भूमिका है। इसलिए हमारा संगठन सहयोगात्मक होगा, संवर्धात्मक,

प्रतीकारात्मक नही और सेवात्मक भी नहीं। हम चाहेंगे कि वह दिन भगवान् जल्द-से-जल्द दिखाये, जिस दिन मनुष्य समानता की भूमिका पर एक-दूसरे के साथ सहयोग और सहभोग करेंगे, सेवा और सहायता की आवश्यकता न होगी।

समान भूमिका से सहयोग हमारी संस्थाओ का शिखर है। इसलिए हमारी संस्थाएँ व्यक्तिनिष्ठ नही, मानवनिष्ठ होगी। वे संगठननिष्ठ तो होगी ही नही, नियमनिष्ठ तो होंगी ही नही, व्यक्तिनिष्ठ भी नही होगी। वे मानवनिष्ठ होगी। उनमें जो व्यक्ति होगे, उनका एक-दूसरे के साथ सबध होगा, हर व्यक्ति केंद्र होगा और हर व्यक्ति परिधि होगा। सस्था का जो वृत्त होगा, उसका केंद्र और उसकी परिधि भी व्यक्ति होगी। इस प्रकार का मानव्य-प्रधान संगठन होगा; नियम-प्रधान, शासन-प्रधान और दड-प्रधान नही होगा।

इस बात का थोड़ा-सा अनुभव आप लोगो ने यहाँ किया है। थोडे दिन के लिए आप सभी मेहमान थे। 'थोड़े दिन की बात है। सह लो, निभा लो'— इतना अगर आप सोच सकते है, तो अब इससे आगे जाना होगा—जहाँ सहना और निभाना न पड़े, ऐसा चिरस्थायी सगठन कैसे बने? इन्ही तत्वो पर, इन्ही आधारो पर यह बन सकेगा। जहाँ सहने और निभाने की जरूरत न हो, सब खुलकर रह सके, साथ रह सके, प्रेम से रह सके। इसके लिए स्नेह और विवेक की आवश्यकता होगी। यह प्रेम कहाँ से आयेगा? कुछ सगठन की प्रेरणा मे से आयेगा और कुछ सहवास मे से आयेगा। संगठन की प्रेरणा प्रेममूलक होगी; क्योकि अब दूसरा कोई उद्देश्य इसमे नहीं रह गया। समान प्रयोजन है। यह स्नेह बढ़ेगा कैसे? सहवास से बढेगा। नही बढेगा, तो सगठन टूट जायगा। टूट जायगा, तो क्या करेंगे? प्रसाद बाँटेगे। यह कोई विचित्र बात नहीं है। पोता हुआ तो बारहवे दिन प्रसाद बाँटा, माता मर गयी तो बारहवे दिन प्रसाद बाँटा। संस्था के जीवन और मृत्यु के विषय मे थोडा-सा तटस्थ होना पडेगा।

१२-२-'६०
दोपहर

कार्यकर्ताओं से अपेक्षाएँ : २७ :

प्रश्न : मालकियत और मिल्कियत में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा और सुख का संरक्षण देखता है। आनेवाले स्वस्थ समाज में जब स्नेह और सहयोग का वातावरण होगा, तो व्यक्ति खुशी से अपनी मालकियत छोड़ देगा। सङ्क्रमण-काल में ऐसी कौन-सी उदात्त प्रेरणाएँ हो सकती हैं, जिनसे व्यक्ति मालकियत और मिल्कियत के विसर्जन को तैयार हो सके?

दादा : मेरा अपना ऐसा विश्वास है कि हमें मनुष्य के मन से इस विचार को हमेशा के लिए मिटा देना चाहिए कि बगैर रिश्वत के मनुष्य अपने कल्याण के लिए तैयार नहीं है। इस भावना को समाज से हटा देने की आवश्यकता है। आज तक सारी संस्थाओं ने इसका परिपोष किया है—धर्म-संस्थाओं ने, शिक्षण-संस्थाओं ने भी आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं ने किया हो, तो आश्चर्य नहीं, लेकिन शिक्षण-संस्थाओं ने और धार्मिक संस्थाओं ने भी किया है। रोचनार्था फलश्रुतिः। धर्म में रुचि पैदा कब होगी? फलश्रुति बतलाओगे तब।

क्या जीवन और सह-जीवन अपने में नियामतें नहीं हैं? क्या मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा वैभव सह-जीवन नहीं है? मनुष्यों को यह सिखाइये कि संविभाजित संपत्ति परिवर्द्धित संपत्ति है। जिसको हम बाँट लेते हैं, वह चीज शत-गुणित हो जाती है। बाँटने का मतलब ही है कि उतने गुना वह हो जाती है। इस भावना को फैलाने की आवश्यकता है।

वितरण की भावना कैसे फैले?

अब सवाल यह है कि यह कैसे फैलाया जाय? जिसके पास मालकियत और मिल्कियत है, उससे पूछिये कि जिस समाज के विरुद्ध जिस संपत्ति का संरक्षण तू चाहता है, उसका आश्वासन कौन देगा? मालकियत और मिल्कियत अगर समाज-सम्मत न हों, तो उनका संरक्षण समाज कैसे करेगा? आखिर मालकियत और मिल्कियत है तो सामाजिक परिस्थिति पर ही निर्भर! सामाजिक वातावरण अगर मालकियत और मिल्कियत के प्रतिकूल हो, तो क्या व्यक्ति स्वयं उनका संरक्षण कर सकता है? इस पर बहुत गहराई से सोचने की आवश्यकता है।

जब हम यह कहते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आश्वासन सपत्ति मे है, तब सवाल यह होता है कि जिस संपत्ति मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आश्वासन है, उस सपत्ति का संरक्षण कौन करेगा ? यह सरक्षण वह समाज करेगा, जिस समाज मे आप रहते है। सामाजिक मान्यता अगर व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सम्पत्ति के प्रतिकूल हो, तो उसका संरक्षण नही हो सकता। फिर सवाल यह होगा कि तब फिर हम सामाजिक मान्यता को ही अनुकूल क्यो न बनायें ? स्वामित्व और सम्पत्ति के प्रतिकूल क्यो बनाये ? यह हमारे हाथ की बात नहीं है।

जहाँ सौ मे से सत्तर-अस्सी आदमी स्वामित्व-विहीन और सपत्ति-रहित है, वहाँ स्वामित्व और व्यक्तिगत सपत्ति के अनुकूल भावना का सरक्षण करना आपके हाथ की बात नहीं है। तो फिर व्यक्तिगत मालकियत और स्वामित्व सार्वत्रिक कर दीजिये। उसको सार्वत्रिक करने का ही नाम है उसका समाजीकरण। आखिर उपभोग तो समान हो ही नही सकता, क्योकि मनुष्य की उपभोग की शक्ति कम और अधिक है। इस समानता का मतलब क्या है। तुल्यता—आवश्यकता के अनुरूप उपभोग। आवश्यकता के अनुरूप उपभोग का आश्वासन समाज मे होना चाहिए। आप जरा इसका विचार कीजिये कि जिस समाज मे समाज के ही खिलाफ संरक्षण की आवश्यकता हो, उस समाज मे हम कैसे रह सकते है ? लोगो मे रहकर लोगो से सरक्षण की आवश्यकता का मतलब यह है कि हम परलोक जाने की तैयारी मे लग गये हैं।

इसलिए जब यह कहा जाता है कि व्यक्तिगत सपत्ति व्यक्ति के सरक्षण का आश्वासन है, उसका इतना मर्यादित अर्थ है कि उस सपत्ति का सरक्षण समाज करे। कौन-सा समाज करे ? वह, जिसके अपने पास संपत्ति नहीं है, जिसका अपना स्वामित्व नही है। वह कैसे हो सकता है ? इसलिए जो स्वामित्व और सपत्ति के विसर्जन को अव्यावहारिक मानते हैं, असल मे आज के सदर्भ मे उनकी यह बात ही अधिक अव्यावहारिक है। स्नेह या सद्भाव होगा या नहीं होगा, इसे छोड दीजिये, समान उपभोग का सयोजन तो होगा। जहाँ समान उपभोग का सयोजन ही आवश्यक हो जाता है, वहाँ सग्रह की कोई प्रेरणा नहीं रहती। थोडी-बहुत रहती है, तो बहुत क्षीण रहती है। उसका समाज पर कोई प्रतिकूल परिणाम नही होता। व्यक्तिगत सपत्ति मे भोग-क्षमता मर्यादित है।

सरकार से सहयोग का प्रश्न

प्रश्न : सरकार की ओर से कोई सार्वजनिक काम चलेगा—जैसे कम्युनिटी प्रोजेक्ट, पचवर्षीय योजना आदि, तो हम लोगों को किस तरह सहकार्य करना

चाहिए ? हममें से कुछ लोग कहते हैं कि हम लोगों को सरकारी काम में सह-कार्य नहीं करना चाहिए। तो, हम लोगों को क्या करना चाहिए ?

दादा : सरकारी और गैर-सरकारी का भेद अपने मन से निकाल देना चाहिए। जो शुभ कार्य है, वह शुभ है। जो कल्याण का कार्य है, वह कल्याण का कार्य है—चाहे हमारा प्रतिपक्षी भी क्यों न करता हो। यह सरकारी है, यह गैर-सरकारी है, ऐसा हमारा विचार नहीं है। अच्छा काम जो कोई कर रहा हो, उसमें अगर हमारे सहयोग से कुछ अधिक प्रगति हो सकती है, तो हमारा सहयोग उसे मिलना चाहिए।

प्रश्न : कोई इसका नाजायज फायदा उठाये तो ?

दादा : नाजायज फायदा तो अच्छी चीज से ही उठाया जा सकता है, बुरी चीज से नहीं। आपने भगवान् को शैतान का नाम लेते कभी सुना है ? गांधी के नाम से, भगवान् के नाम से, अच्छा काम करनेवाले के नाम से लोग फायदा उठाते हैं। इसके लिए क्या उपाय है ? इसके लिए क्या अच्छा काम छोड दें ? नहीं, अच्छे काम में सहयोग कीजिये, बुरे काम में मत कीजिये। यह शक्ति अगर हमारे कार्यकर्ताओं में नहीं है, तो इसका मतलब यह है कि हमारी कुशलता और सामर्थ्य दोनों में कमी है।

शक्ति कम है, तो उसे बढाना पड़ेगा। एलवाल में जब सवाल आया, तो अकेला मैं ही इसका विरोधी था। मुझे कुछ ऐसा लगता था कि इसमें बहुत बड़ा खतरा है। हमारे कार्यकर्ता को सरकारी नौकर निगल जायँगे। तो शंकरन् नम्बुद्रीपाद और डाक्टर जेड० ए० अहमद जैसे कम्युनिस्ट कार्यकर्ता भी मुझसे कहने लगे कि आपके मन में भय है और भय के साथ अहिंसा कैसे चलेगी ?

प्रश्न : अगर सरकारी योजनाओं में भूदान-कार्यकर्ता हिस्सा लेंगे, तो निकम्मे हो जायँगे।

दादा : यही तो मैं आपसे कह रहा हूँ कि हम कायर हैं, अहिंसक नहीं। हमें यह मान लेना चाहिए कि अगर हमारे मन में डर है, तो हम अहिंसक काम नहीं कर सकते। डरकर सहयोग नहीं हो सकता।

कार्यकर्ताओं से अपेक्षाएँ

प्रश्न : आप हमसे अहिंसक कार्यकर्ताओं के नाते आज की परिस्थिति में क्या अपेक्षा रखते हैं ? संक्षेप में कार्यक्रम पर प्रकाश डालें।

दादा : आप से मेरी कई अपेक्षाएँ हैं। पहली अपेक्षा यह है कि आप लोगों में आपस में मनमुटाव न हो। इसका मतलब यह है कि परस्पर अविश्वास न रहे।

परस्पर विश्वास

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि केवल आप एक-दूसरे की निंदा न करे। यह सभ्यता से भी हो सकता है। एक शिष्टाचार है कि 'भाई, जाने दीजिये, हम किसीके खिलाफ कुछ कहना नहीं चाहते।' 'छोड़ दीजिये', यह हमारा स्वभाव नहीं है। यह तहजीव का तकाजा है कि किसीके खिलाफ हम कुछ कह नही सकते। इससे ज्यादा और क्या कर सकते है ? क्या हम एक-दूसरे का विश्वास कर सकते है ? यह बहुत आवश्यक है। पठानकोट मे मैंने कार्यकताओ से कहा था कि अब जिन लोगो मे विश्वास नहीं रह गया है, उन लोगो को पद-मुक्त कर देना चाहिए। एक तरफ से साहस का अभाव, दूसरी तरफ से विश्वास का अभाव। ये है हमारे कार्यकर्ताओ की मुख्य बीमारियाँ। क्या इन्हे वे हटा सकते है ?

निधि-मुक्ति हुई। कार्यकर्ता थोड़े ही दिनो के बाद अपने-आपको असहाय अनुभव करने लगे। जब निधि-मुक्ति हुई, तब उसका स्वागत किया। उस वक्त क्या भावना थी ? कुछ कार्यकर्ताओ को बहुत वेतन मिल जाता है, कुछ को कम। तो, वेतन ही न हो तो सब समान हो जायँगे। देखने की बात है कि कार्यकर्ता के मन मे किस तरह की भावना थी ? जो भावना हमारे भीतर नहीं है, उसे लोगो मे कैसे जाग्रत करेंगे ?

तन्त्र-मुक्ति के वक्त क्या भावना थी ? हमारे जिला प्रतिनिधि बेवकूफ है, पर इनका हुक्म हमे मानना पड़ता है। तो, किसीका कोई हुक्म नही मानेगा, यही स्थिति अच्छी है। सत्ता की प्रतियोगिता और सपत्ति की ईर्ष्या मे से हम एक महान् सिद्धान्त की तरफ मुड़े। बुद्धि ने उसका स्वीकार किया, वृत्ति पिछड़ गयी। वृत्ति विचार के साथ कदम न मिला सकी। अब यह वृत्ति का ही विषय है। इसलिए इसमे अपने दिल को ही बदलने की बात है। जिस तरह भौतिक परिस्थिति का परिणाम होता है, उसी तरह मनुष्य की शुभ-अशुभ प्रेरणाओं का, भावनाओ का भी परिणाम होता है। जैसे विकार का परिणाम होता है, वैसे ही गुण का भी परिणाम होता है। मैंने कहा था कि समुदायवाद नही, मानव-निष्ठा होगी, तो मेरा मतलब यह था कि हममे से हर व्यक्ति अपने में उन भावनाओं का विकास करेगा, जिनकी सुगध फैले।

क्रांति के लिए एक मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है, एक रुख की आवश्यकता होती है। उसके बिना एकात्मता नहीं आती। एकात्मता या तो कम्युनिस्ट पद्धति से आयेगी या आपकी पद्धति से। आपकी पद्धति का अर्थ है

कि पद्धति नहीं होगी। आपकी पद्धति में ही पद्धति का न्यूनतम अस्तित्व है, अगर अभाव नहीं है तो। इसलिए व्यक्तिगत दायित्व बढ़ जाता है। जहाँ व्यक्ति से पद्धति पर अधिक जिम्मेवारी है, वहाँ व्यक्ति का दायित्व कम होता है। जहाँ पद्धति से व्यक्ति पर अधिक जिम्मेवारी है, वहाँ व्यक्ति के पुरुषार्थ की अपेक्षा अधिक है। और यह इसलिए करने की आवश्यकता है कि इसके बहुत बुरे परिणाम अब तक निकले हैं।

तथ्यों की प्रतिष्ठा

दूसरी चीज यह है कि तथ्यों की प्रतिष्ठा हमारे आंदोलन में होनी चाहिए। अब तक हमारे तथ्य भावनात्मक थे। नतीजा यह हुआ कि भावना के क्षीण होते ही हमारे तथ्य भी तिरोहित होते गये। पचास लाख एकड़ जमीन है कहाँ? जमीन मिलती जाती है, तब भी आँकड़ा पचास लाख से ऊपर नहीं जा रहा है। इसका कारण यह है कि पुरानी बहुत-सी जमीन नकली है, झूठी है। जो नयी आती है उसको उसी आँकड़े मे दाखिल करना पडता है। क्रांति में आँकड़े सांकेतिक होते हैं। लेकिन संकेत में भी वस्तु की प्रतिष्ठा चाहिए। वस्तुस्थिति की प्रतिष्ठा अगर संकेत में नहीं है, तो वे सारे-के-सारे संकेत वायु-मंडल में विलीन हो जाते हैं।

हमने अपनी असफलताओं को सोचने की कोशिश भी नहीं की है। हमेशा यही सोचा कि यह कार्यक्रम सफल नहीं हुआ, इसलिए दूसरा चाहिए। लेकिन यह कार्यक्रम असफल क्यों हुआ, इसका विचार नहीं हुआ।

दंडनिरपेक्ष क्षेत्र

क्या हम ऐसे किसी एक क्षेत्र का निर्माण कर सकते हैं, जहाँ के लोग कहें कि हमारे क्षेत्र में पुलिस की आवश्यकता नहीं है। मैं शांति-सैनिक के व्यापक कार्य का उल्लेख कर रहा हूँ कि उसके क्षेत्र में कम-से-कम क्या परिणाम होना चाहिए। ऐसे क्षेत्र हम कितने बना सकते हैं? क्या सारे देश में लाख, दो लाख की आबादी का ऐसा क्षेत्र बना सकते हैं, जहाँ लोग कहें कि यहाँ पुलिस की आवश्यकता नहीं है? तो क्या सरकार पुलिस को हटा ले? हटाये नहीं, रहने दे। वह वहाँ फिर 'सिविलियन्स'—नागरिकों—की तरह रहेगी। अगर इस देश मे हर दिशा में—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में—दो-दो लाख के ऐसे क्षेत्र बना सकते हैं, तो आपसे कह सकता हूँ कि चीन के प्रस्ताव के समय आपको जो कहना पड़ा कि आज हमारी उतनी अहिंसात्मक तैयारी नहीं है,

आपकी यह वृत्ति बदल जायगी। चार दिशाओं मे ऐसे चार दड-निरपेक्ष क्षेत्र हो, जहाँ के लोग यह कहे कि यहाँ सरक्षण के लिए पुलिस की आवश्यकता नही है, हम एक-दूसरे का संरक्षण कर लेगे। वहाँ केवल अविरोधी स्वार्थ और अविरोधी उद्देश्य ही पनप सकेंगे, विरोधी स्वार्थ और विरोधी उद्देश्य नही।

हमे सोचना है कि रोजगारो में, उद्योगो मे, सामाजिक व्यवहारो मे जो पारस्परिक विरोध है, उन विरोधो की जगह क्या अविरोध की स्थापना हम किसी क्षेत्र मे कर सकते है? थोडी देर के लिए भूल जाइये कि यत्र होगे या नहीं, लेकिन क्या इतना हो सकता है कि गाँव मे विजली आयी है, तो एक भी घर विजली के विना नहीं है? अगर गाँव मे आटे की मिल है, तो उसका लाभ पूरे गाँव को मिल जायगा? क्या ऐसा कोई लाख-दो-लाख का क्षेत्र हो सकता है, जहाँ स्वार्थों का विरोध क्षीण हो गया है? वह इतना क्षीण हो गया है कि परस्पर विरोधी स्वार्थों में सहअवस्थान है।

कोई भूखा न रहे

तीसरी चीज, उस क्षेत्र मे कोई भूखा नही रहता, कुछ लोग वेकार भले ही हों। तव सवाल होगा कि जो भूखे हैं, उनको मुफ्त मे खिलाये? हाँ, मुफ्त मे योजनापूर्वक खिलाइये। अव तक जो आलसी रहे, वे प्रतिष्ठित रहे हैं। भविष्य मे आलसी प्रतिष्ठित नही रहेगा। बेकार भी प्रतिष्ठित नहीं रहेगा। लेकिन उसकी वेकारी सामाजिक दोष के कारण है, इसलिए उसको प्रतिष्ठापूर्वक अन्न मिलना चाहिए।

प्रश्न : ऐसा कार्यक्रम हाथ मे लेंगे, तो राहत का काम होगा। उसमे मालकियत के परिवर्तन की या क्राति की वात कैसे हो?

दादा : इसमें मालकियत के परिवर्तन की और क्राति की बात कहाँ आयेगी, यह देखना है। यहाँ दंड-निरपेक्षता की वात आयेगी और स्वार्थों के विरोध परिहार करने की वात आयेगी। यह इस ढग से आयेगी कि शायद आपको पता नही चलेगा कि कैसे आ रही है। व्यक्तिगत संपत्ति का आश्वासन जो समाज देता है, उस समाज का दायित्व होता है कि उसका सरक्षण हो। जहाँ ८० प्रतिशत लोगो का स्वार्थ एक है और २० प्रतिशत लोगो का स्वार्थ दूसरा है, वहाँ दड-निरपेक्ष परिस्थिति के लिए दोनो को एक-दूसरे से परस्पर जो व्यवहार करना हो, उसमे हार्दिकता अधिक आनी चाहिए। यह हार्दिकता हमें उस तरफ ले जायगी।

प्रतिमास सहभोज

इसके अलावा दण्ड-निरपेक्ष क्षेत्र में महीने में एक बार अस्पृश्यों के साथ भोजन हो।

प्रश्न : पकाये कौन ?

दादा : ब्राह्मण पकाये, ब्राह्मण के घर पकाया जाय, सब लोग साथ बैठकर खायें और परोसनेवाला हरिजन हो। मकान ब्राह्मण का हो, बरतन ब्राह्मण के हों, क्योंकि हरिजनों के बरतनों में शायद मांस पका हो, वे अपवित्र हों।

प्रश्न : हरिजन को ब्राह्मण अपने घर में नहीं घुसने देगा तब ?

दादा : इसको मैंने नागरिकता के प्राथमिक अधिकारों की स्थापना का कार्यक्रम माना है। यह ग्राम-स्वराज्य का कार्यक्रम है। मैं इतना ही कहता हूँ कि आपने हर नागरिक को संविधान में जो मूलभूत अधिकार दिये हैं उतना तो कीजिये। जैसे नीग्रो वोट दे सके और म्युनिसिपैलिटी में जा सके—अमेरिका में यह समाज-सुधार नहीं है। क्रांति का यह प्राथमिक कदम है। इसी तरह अस्पृश्यता-निवारण को हमने प्राथमिक कदम माना है।

मैंने क्रम बतलाया है। पहले दण्ड-निरपेक्ष क्षेत्र हो। वहाँ हरिजनों की और सवर्णों की मारपीट में पुलिस की जरूरत नहीं होगी। कोई हर्ज नहीं है, झगड़ा हो गया; लेकिन पुलिस की जरूरत नहीं है, हरिजनों का कोई नुकसान नहीं होगा। हरिजन वहाँ बिना तकलीफ रह सकते हैं। अट्ठानवे सवर्णों के साथ दो हरिजन वहाँ रह सकते हैं। हरिजनों के घर में आग लगती है, ९८ आदमी पुलिस को वहाँ आने नहीं देते हैं, यह दंड-निरपेक्ष क्षेत्र नहीं है। दण्ड-निरपेक्ष का अर्थ है वह क्षेत्र, जिसमें अल्पसंख्यक, कमजोर और असमर्थ सुरक्षित हैं।

तो, पहली बात है दंड-निरपेक्ष क्षेत्र, दूसरी बात, उस क्षेत्र में कोई भूखा न रहे और तीसरी बात अस्पृश्यता-निवारण।

ग्रामदान या भूमिदान अधिक क्रांतिकारी कार्यक्रम है। उसे पहले उठाइये। जहाँ आप उसे नहीं कर सकते, वहाँ इसीको लीजिये। समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया हमारा प्रथम कर्तव्य है, लेकिन जहाँ वह सम्भव न हो, वहाँ विधायक कार्यक्रम यह हो सकता है।

यह क्षेत्र सत्याग्रही क्षेत्र बनने के योग्य है। कौन-से सबूत हैं इसके ? पहला सबूत तो यह कि इस क्षेत्र में कोई पुलिस नहीं आती, यहाँ कोई भूखा नहीं है और यहाँ कोई अस्पृश्य नहीं है। हम जब कार्यकर्ताओं की सभा में जाते हैं, तो

कहते हैं कि सत्याग्रह के लिए एक क्षेत्र बारडोली जैसा बनाना चाहिए। मैंने उनसे कहा कि बारडोली तो बना, लेकिन स्वराज्य के बाद भूदान मे बारडोली कहाँ है ? गाधी के वक्त तो सत्याग्रह के लिए बारडोली देश की नाक बन गयी, भूदान मे वह चपटी हो गयी। तो ऐसी बारडोली न बने, जो बाद मे चपटी हो जाय।

साथ जिलानेवाली अहिंसा

केरल मे हमसे कहा गया था कि हम किसीके संरक्षण मे शहीद हो जायँ। मैंने कहा : आप जहाँ कहे, चलने को तैयार हूँ। लोग सोचते थे कि हमे ऐसी जगह खड़ा रखेगे, जहाँ हमे पत्थर नही, गोली ही लगे। हमने कहा : इससे क्या होगा ? बोले : पत्थर लगेगे, तो हमारी उम्मीद खत्म हो जायगी। गोली लगेगी, तो हमारा आन्दोलन बढ़ेगा। हमने पूछा . क्या उससे अहिंसा बढेगी ? बोले : नही। अगर आपको गोली लग जाय, तो हिसा हो सकती है।

गाधी ३० जनवरी को शहीद हो ही गया। इतनी शुद्ध शहादत दूसरे किसी व्यक्ति की हो नही सकती। लेकिन उसकी शहादत का नतीजा क्या हुआ ? महाराष्ट्र मे ब्राह्मणो के घर जलाये गये। ईसा की शहादत का क्या नतीजा हुआ ? पॉच सौ साल तक यहूदियो का उत्पीडन !

वह अहिसा और वह स्वतन्त्रता अब पर्याप्त हो चुकी है, जिसके लिए जान देने के लिए लोग तैयार थे। अब उस स्वतन्त्रता और उस अहिंसा की आवश्यकता है, जिसमें मनुष्य जी सके। अब मनुष्यो को साथ जिलानेवाली अहिसा और मनुष्यो को साथ रखनेवाली स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।

प्रश्न : काशी मे सब मरने आते है। दादा ने हम सबको साथ जीने के लिए बुलाया है।

दादा : साथ मरने से अगर साथ जीने की कला प्राप्त हो जाय, तो आनन्द ही है। सह-मृत्यु मे भी कोई कम आनन्द नही है। प्रेयसी के साथ उसका प्रेमी गले से गला मिलाकर गगाजी में डूब जाता है। उसके अगर सह-मरण मे आनन्द है, तो हमारे आप के सह-मरण मे क्यो नही ? हम तो यही कह रहे है कि अमेरिका और रूस अगर सह-मरण का सकल्प भी कर ले, तो दुनिया का उद्धार हो जाय। सकल्पपूर्वक गले से गला लगाकर आइसनहावर और क्रुश्चेव सकल्प कर ले कि मरेगे तो साथ मरेगे। बस, दुनिया जी जायगी।

१३-२-'६०

परिशिष्ट

समाजवाद का उद्गम और विकास

[श्री अच्युत पटवर्धन]

पिछले सौ-सवा सौ साल में दुनिया में जो नये विचार-प्रवाह नदी के उद्गम में भी छोटे रूप में शुरू होकर जगन्मान्य हो गये, उनमें 'समाजवाद' एक है। समाजवादी विचार शुरुआत से ही कुछ आकर्षक था। कुछ भावनाएँ थीं और भावनात्मक आशय था। वही असली चीज है। समाजवाद के इतिहास के विकास में दो पहलू सामने आते हैं।

उसमें एक भावनात्मक प्रेरणा है, 'मॉरल अर्ज' है। वह केवल नीति-पाठ की तरह नहीं है। आदिकवि के बारे में कहा गया है कि उसका शोक श्लोक बन गया : शोकः श्लोकत्वमागतः। वैसे ही मानव-दुःख के विचार से जो लोग बेचैन हो गये, वे पहले समाजवादी थे। समाजवाद के इतिहास में उन्हें 'यूटोपियन' कहते हैं। मार्क्स से पहले जो भावात्मक समाजवाद था, उसका उपहास करने के लिए 'यूटोपियन' शब्द व्यंग्यात्मक अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

समाज नितान्त परिवर्तनशील है, उसे परिवर्तनशील रहना चाहिए। नहीं तो उसमें से रूढ़िवाद पैदा होगा और रूढ़िवाद से मानव का दास्य शुरू होगा। समाजवाद का विचार इसलिए है कि मानव-मानव में मानवता का रिश्ता रहे, यह आदि प्रेरणा है। समाजवाद की जड में यह प्रेरणा थी कि मानव-मानव में इन्सानियत, भलमनसाहत रहे। एक आदमी दूसरे आदमी के विकास में बाधक न हो। मानवीय सम्बन्ध की कसौटी यह है कि आपके विकास में मैं सहयोग देता हूँ, तो स्नेह बढ जाता है। अगर रुकावट डालता हूँ, तो सम्बन्ध क्षीण होता है।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे चरण में उत्पादन-तन्त्र में परिवर्तन हुआ। उसे हम 'औद्योगिक क्रान्ति' कहते हैं। इस औद्योगिक क्रान्ति से वस्तुओं की विपुलता बढ़ने लगी। उपभोग की वस्तुओं की विपुलता देखकर लोग उसे 'प्रगति' मानने लगे। वे उसके गीत गाने लगे। ब्रिटिश साम्राज्य का दावा

था कि हमारे झण्डे पर लिखा है 'विपुलता का नया युग'। जहाँ हम जाते हैं, वहाँ उसे लेकर जाते हैं और वह स्थान प्रगति का क्षेत्र बन जाता है। औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ जो शहर बने, उनमे 'स्लम एरिया' (गन्दी बस्ती) बनते थे। बच्चो से भी कारखाने में काम कराते थे, नशेबाजी बढती थी। तपेदिक से बहुत लोग मरते थे। कुछ लोग इस औद्योगिक विकास का दूसरा पहलू देखकर विह्वल हो उठे। विलियम मॉरिस, रॉबर्ट ओवेन, फॉरियर, सेण्ट सॉइमन—ये सब 'यूटोपियन' के नाम से विख्यात समाजवादी है। उनके दिल मे दर्द था कि विपुलता कितनी भी आवश्यक क्यो न हो, मगर इस तरह उत्पादक-वर्ग की आहुति देकर नही लानी चाहिए। यह अपराध है, यह अभिशाप है।

मानवीय विकास कई रग लाता है। वह यह रग लाया कि यत्र ही सारे दुःखो की जड है, तो उसे तोड डाले। बाद मे यह भावना काफी लोगो मे फैल गयी। गाधीजी के सर्वोदय-विचार के गुरु जॉन रस्किन और विलियम मॉरिस एक ही परिपाटी के लोग थे। वे कलाकार थे। उनको यह देखकर क्लेश हुआ कि औद्योगिक क्रान्ति के नाम पर मनुष्य के जीवन के साथ खेल खेले जाते हैं। आगे चलकर उस रंग मे रौद्र और बीभत्स जैसे सभी रस आये।

समाजवाद मे एक उदात्त भावनात्मक आशय था। प्रामाणिक प्रयत्न में भी अपयश आता है। उसको 'असफल' कहे, तो कोई बात नही, इससे विकास होता है। त्रुटि को हम त्रुटि समझे, तो बहुत कुछ सीख जायँ। पहले-पहल इन भावुको ने आश्रम भी खोले। उनकी भावना तो उत्कट थी, मगर व्यवहार-बुद्धि तीक्ष्ण न थी, इसलिए वे असफल हुए। लोगो की श्रद्धा कम हुई। दुनिया की कसौटी सफलता है। भावना मे आप कोई ऊँची बात करे लेकिन व्यवहार मे अगर उसे न कर सके, तो दुनिया मानेगी नही। फिर भी दुनिया को आगे ले जानेवाले लोग हमेशा 'सफल' नही हुए है। व्यवहार मे न हो सकता हो तो भी प्रयास जारी रखना पड़ेगा। इस तरह जो 'यूटोपियन' समाजवादी थे, उन्होने समाज-जीवन के बारे मे नयी आस्था फैलायी। उन्होने कहा कि समाज को दु:खियो का विचार करना चाहिए। वह भी क्या प्रगति, जिसमे इनका दुःख-दर्द दूर न हो सके।

यत्र के साथ-साथ और भी दूसरे विचार बदल रहे थे। वे थे आर्थिक विचार। भावनात्मक को मै नैतिक भी कहता हूँ। नीति दो प्रकार की होती है : एक होती है व्यक्तिगत नीति, दूसरी होती है सामाजिक नीति। सामाजिक नीति मे से स्मृतिकार पैदा होते है। हर स्मृतिकार समाज को नयी नीति देता

है। इन लोगों ने समाज के सामने नीति रखी। इनके अलावा दूसरे विचारक भी थे। उनके विचार में से पूँजीवाद का अर्थशास्त्र बना। उसमें नयी किस्म के मूल्य प्रस्थापित हुए।

समाजवाद के विचार जब बढ़ रहे थे, तो हर देश में अलग-अलग ढंग की परिस्थिति थी। विचारकों की हमेशा एक गलती होती है। देश-काल से मर्यादित परिस्थिति को वे सार्वदेशीय समझते हैं और सारी दुनिया के लिए नियम बनाते हैं। कार्ल मार्क्स से कहा गया कि जहाँ यंत्रोद्योग पहुँचा ही नहीं, वहाँ तुम्हारा विचार कैसे लागू होगा? उसने कहा: 'उसके लिए समय लगेगा।' जहाँ ये उद्योग पहुँचेंगे, वहाँ क्रान्ति होगी।

हम जो विचार करते हैं, उसमें परिस्थिति का, कालसापेक्षता का ख्याल नहीं रहता। समाजवाद के विकास की भी यह स्थिति रही। इंग्लैण्ड में समाजवाद की स्थिति अलग तरह की थी, तो जर्मनी और फ्रान्स में अलग तरह की। कार्ल मार्क्स ने समाजवाद के सिद्धांत को वैज्ञानिक रूप दिया। भावना के प्रवाह से ऊपर उठकर स्वप्न साकार होने जा रहा था, मगर उसमें बाधा आयी। मार्क्सवादियोंने पहले बुद्धि से तय कर लिया कि हमें यह चाहिए। इसलिए फिर चाहे जिस तरह उसे प्राप्त करना ही था—सही या गलत तरीके से।

कार्ल मार्क्स ने समाजवाद के विचार को 'डाइनेमिज्म' 'गतिशीलता' देने की कोशिश की। इस कोशिश में अध्ययन था, मगर वह एकांगी था। जो सिद्धांत के अनुकूल नहीं होता था, उसे वह ताक पर रखता था। 'फिलासफी ऑफ पावर्टी' को इसने 'पावर्टी ऑफ फिलासफी' में बदल दिया। इस तरह मार्क्स के समाजवाद में वितण्डावाद का असर है।

जब कोई भावनात्मक प्रेरणा युक्तिवाद से संयुक्त होती है, तो उससे समाजशास्त्र बनता है। तब उसमें ताकत आती है। पर उसके साथ-साथ भावना की शुद्धि भी बिगड जाती है। यूटोपियन समाजवादियों की भावना सात्त्विक थी। दूसरों के दुःखो से जले हुए दिलों की आह थी। कार्ल मार्क्स के हाथ में बात आयी, तो उसने दुःखियों के दिल में जो मत्सर, द्वेष था, उसका उपयोग किया। उसे उसने वर्ग-संघर्ष का शास्त्रीय रूप दिया। उसने आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया कि पीड़ितो की, शोषितों की भावना में समाज को बदलने की शक्ति है।

शक्ति न सत्य है, न असत्य। वह समाज को बदलेगी। उससे जो चीज बनेगी, वह सत्य होगी या असत्य, यह मालूम नहीं।

मार्क्स ने समाजवाद की भावना को नयी गति दी। उसमें कलुषता आयी। उसने वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त रखा, जो समाजवाद में फलक्रम की प्रेरणा का

स्रोत बन गया। मार्क्सवाद मे कहा गया है कि वर्ग-संघर्ष की पद्धति से जो चीज बनती है, वह विकास का अगला कदम है। इसमे कोई शक नहीं कि औद्योगिक विकास की दिशा कौन-सी है, उसका रुख क्या है, यह कुछ हद तक मार्क्स ने स्पष्ट कर दिया है। सन् १८४० मे मार्क्स का विचार आगे आया। साठ वर्ष तक करीब-करीब औद्योगिक और राजनैतिक विकास की जो दिशा रही, उससे मार्क्स की दृष्टि सही सिद्ध हुई। इसलिए मार्क्स 'द्रष्टा' और 'समाजशास्त्री' माना गया।

मार्क्स के बाद समाजवाद के विकास मे जो नयी प्रगति हुई, वह लेनिन के जमाने मे हुई। लेनिन के जमाने मे समाजवाद के आन्दोलन मे एक बडा भारी वितण्डावाद पैदा हुआ। वह था लोकतन्त्र और समाजवाद के बारे मे। जनतंत्र की भूमिका किस हद तक समाजवाद के लिए अनुकूल है, इस पर विचार होने लगा। जैसे-जैसे जनतन्त्र और समाजवाद का विचार हुआ, वैसे-वैसे समाजवाद और आर्थिक विकास के विचार को भी महत्त्व प्राप्त हुआ। यूरोप मे सामाजिक परिवर्तन का जो भी विचार फैला है, उसकी जड मे फ्रास की राज्य-क्रान्ति मानी जाती है। वैचारिक भूमिका फ्रास की क्रान्ति से आयी है। फ्रास की क्रान्ति मे 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता' ये नारे थे। स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता मे मानव-समाज के लिए आवश्यक मूल्यो का निदर्शन है। समाजवाद मे भी इसका हवाला दिया जाता था। पूँजीवाद फ्रास की क्रान्ति के सिद्धात के खिलाफ पडता है। समाजवाद मे समता की भावना, भौतिक, आर्थिक आशय, सामाजिक सदर्भ और राजनैतिक शक्ति—इन सबका विचार आवश्यक हो जाता है। समाजवाद मे समानता, बन्धुता और स्वतन्त्रता—इन मूल्यो का विकास हुआ।

समाजवाद मे लेनिन का अनुदान ज्यादा है। उसने एक नया विचार दिया। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश और आगे बढ़े देशों के परस्पर सम्बन्ध मे भी वर्ग-संघर्ष निहित है। यह विचार पहले हॉब्सन ने दिया था। लेनिन से उसको गति मिली। समाजवाद का विचार पहले औद्योगिक देशो तक सीमित था। साम्राज्यवाद के कारण समाजवाद के विचार मे विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त आ गया। समाजवाद का रूप जब तक सीमित था, तब तक एक किस्म का वातावरण था। जहाँ तक देश-काल की सापेक्षता थी, वहाँ तक औद्योगिक देशो में समाजवाद फैलता था। मगर साम्राज्यवाद आने से पिछडे हुए देशों मे भी समाजवाद के विचार फैले।

रूस मे समाजवाद के हाथ मे सत्ता आयी। औद्योगिक दृष्टि से जर्मनी, फ्रास, इग्लैण्ड आगे बढे हुए थे। रूस आगे नही बढ़ा था। इसने समाजवाद के विचार मे नये-नये सवाल आये। जो नये विचार आये, उनका समाजवाद के लोकतान्त्रिक पहलू पर जबरदस्त असर पडा। पिछडे देशों मे समाजवादी व्यवस्था शुरू होती है तो जनता मे सहयोग नहीं मिलता और जनतान्त्रिक प्रवृत्तियाँ उपयोगी नहीं होती। रूस की क्रान्ति के बाद समाजवाद में सत्ता का पर्व आया। पहले पर्व में आकाक्षा थी, आदर्श था, बाद मे यश का पर्व आया। समाजवाद का राज्य रूस मे बन गया। इसके फलस्वरूप नयी-नयी समस्याएँ लोगो के सामने आयीं।

कार्ल मार्क्स ने जब वर्ग-सघर्ष का विचार रखा, तो उसका अर्थ यह था कि उससे समाजवादी समाज कायम होगा और श्रेणी-विरोध समाप्त हो जायगा, हित-विरोध मिट जायँगे, रहेगे ही नहीं। यह वर्ग-सघर्ष की एक 'भावात्मक धारणा' है। समाजवादी समाज इसलिए बनता है कि समाज मे अलग-अलग श्रेणियो में विरोध न हो। मुझे लगता है कि मेरे जो भी मर्यादित गुण हैं, वे मैंने समाज से पाये हैं और मेरे पास जो कुछ है, सब समाज से आया है और वे सब शक्तियाँ मैं समाज को अर्पण करता हूँ, तो समाज के साथ में पूर्णतः एकाकार हो सकूँगा।

शोषक और शोषित वर्ग मे द्वैत रहता है। 'दे' और 'वी'—'वे' और 'हम' ऐसा फर्क होता है। 'दे' का अर्थ शोषक वर्ग और 'वी' का अर्थ शोषित वर्ग। मजदूरों के दिल में जलन थी कि शोषक-वर्ग मोटरगाड़ियों में बैठकर जाता है और हमें उसके पीछे की धूल फाँकनी पड़ती है। यह भावना वर्ग-सघर्ष की जड है। मार्क्स के श्रेणीवाद में भावनात्मक आशय है। जब तक समाज में विषमता और शोषण है, तब तक 'वे' और 'हम' रहेंगे। वर्ग-मुक्त समाज कब होगा? तब, जब शोषक-शोषित के वर्ग नहीं रहेंगे। वैसा होने पर परस्पर आत्मीयता बढेगी। पारस्परिकता की भावना बलवान् होगी। उनका दावा था कि पूँजीवाद का अन्त करने के बाद समाजवाद अपने-आप सिद्ध होगा।

आज समाजवाद अधिकतर देशों मे अधिकार जमाता है। स्वय-शासित देशो में भी उसका अधिकांश हिस्सा है। रूस और चीन से पूर्वी यूरोप, स्कैंडिनेविया आदि मे समाजवाद फैला है। मगर अलग-अलग श्रेणियों मे जो हितकर सामंजस्य समाज में कायम होना जरूरी है, वह कहाँ तक कायम हुआ है, यह प्रश्न अनेक प्रकार से समाज के सामने रखा गया।

समाजवाद की व्याख्या किसी ग्रन्थ या पुस्तक मे यह होगी कि भौतिक उत्पादन के जो साधन है, उनका स्वामित्व निजी स्वार्थ के लिए चन्द लोगों के हाथ मे न हो। उत्पादन के सभी साधनो का विनियोग सबके हाथ में रहे। यह समाजवाद की व्याख्या जब बतायी जाती है, तब वर्ग-संघर्ष का विचार सामने आता है। कारखाने जब राज्य के हाथ मे आ गये, तो वहाँ काम करनेवाले मजदूर और मैनेजर-वर्ग के बीच वही रिश्ता रहेगा, जो पूँजीवाद मे एक मालिक और मजदूर के बीच मे था। उससे बहुत-कुछ नही बदल जाता। यहाँ तक कि जहाँ पर 'कम्युनिस्ट प्रकार का समाजवाद' कायम हो गया है, वहाँ पर भी यह शिकायत हुई कि 'कम्युनिज्म ने एक नया वर्ग पैदा किया है'। इस विचार को व्यापक रूप से, सिद्धान्त के रूप से रखने का काम ट्राटस्कीवादियो ने किया। जॉन बर्नहॅम ने यह किया। उसकी 'मैनेजिरियल स्टेट' के प्रकाशन के बाद समाजवाद के विचार विकेन्द्रीकरण की तरफ जाने लगे। ऐसा इसलिए नही कि केन्द्रीकरण मे अनीति है। इसलिए कि ऐसा लगा कि केन्द्रीकरण मे विषमता रहती है और एक नया शासक-वर्ग रखना पड़ता है, तो क्यो न इसे हटायें?

विकेन्द्रीकरण की तरह समाजवाद मे दूसरा भी विचार पैदा हो गया है। अभी पश्चिमी देशों मे यह विचार बहुत परिपक्व नहीं हुआ है। अशोक मेहता ने कहा है कि जैसे पूँजीवाद और मजदूर के बीच संघर्ष होता है, वैसे ही ग्राम और शहर के बीच भी सघर्ष होता है। पूँजीवाद और मजदूर के बीच ही नहीं, श्रेणीवाद अन्यत्र भी हो सकता है।

हिन्दुस्तान की परिस्थिति मे लगेगा कि यह दैन्य-दारिद्रय हटना चाहिए, उत्पादन बढ़ना चाहिए। इसके लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं। इससे शहरों का उत्पादन बढा, राष्ट्रीय आय बढी। मगर हमारे देश की ७० प्रतिशत जनता गॉवो में रहती है और ३० प्रतिशत शहरों मे। उत्पादन शहरो का बढा, गॉवो का नही। शहर की आय बढ गयी, गॉव की नहीं। पर वह घटी भी नहीं। इससे ग्रामीण जब वस्तु खरीदने के लिए शहर मे जाता है, तो उसको दाम ज्यादा देने पड़ते हैं। दाम ज्यादा देने पडते है, इससे वह कम खरीदता है। गॉव की क्रय-शक्ति कम है।

गॉव मे यन्त्रोद्योग नही है और शहर मे औद्योगिक विकास है। इस कारण शहर मे आय बढ़ी है, गॉवों मे नही। इससे एक नयी किस्म की परिस्थिति पैदा होती है। यह एक सघर्ष है, विषमता है। समाजवाद के आन्दोलन मे वर्ग-संघर्ष की बात चली, तो इसका भी विचार करना चाहिए। समाजवादी

आन्दोलन में गाँव की समस्या का अपने-आप विचार नहीं है। गाँव में प्रति एकड़ उत्पादन नहीं बढ़ता, तो परिस्थिति जैसी की तैसी ही रहेगी। उत्पादन बढ़ेगा, तब यह सवाल नहीं उठेगा। एक सवाल है कि गाँव का उत्पादन क्या नेशनलाइजेशन (राष्ट्रीकरण) से नहीं बढ़ेगा? हमारा अनुभव है कि सहकारिता की अपेक्षा व्यक्तिगत उत्पादन से ज्यादा आय होती है।

समाजवाद की भावना का पहले निर्देश किया गया था। उसमें से समाजवाद का अर्थशास्त्र निकल पड़ा। अब समाजवाद का राज्यशास्त्र आया है। समाजवाद का राज्यशास्त्र इसलिए बढ़ा कि उसको समाजवाद की स्थापना का साधन माना गया। समाजवादी राज्यशास्त्र में लेनिन की बड़ी देन है। लेनिन ने कहा कि समाजवाद चाहते हो, तो समाजवादी सत्ता चाहिए। समाजवादी सत्ता बनती है, तो एक और पेंच बढ़ता है। इसी पेंच के उतार के रूप में कार्ल मार्क्स ने 'विदरिंग अवे ऑफ दी स्टेट' (राज्य के विलीनीकरण) का सिद्धान्त रखा था। समाजवाद के कारण राजसत्ता का रूप ही बदल जायगा। लेकिन इतिहास ही बताता है कि राजसत्ता का विलीनीकरण तो नहीं होता, मगर वह ज्यादा प्रभावशाली बन जाती है। पूरे समाजवाद की तसवीर पर इसीका रंग छा जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि पूँजीवादी देशों की अपेक्षा समाजवादी राजसत्ता के पीछे भौतिक युद्ध-शक्ति का सहारा अधिक रहता है।

साधना-केन्द्र, काशी
२५-१-'६०

परिशिष्ट : २

प्रमुख शब्दों की सूची

प्रमुख व्यक्तियों की सूची

अंग्रेजी शब्दों की सूची

परिशिष्ट : ५

उल्लिखित ग्रन्थों की सूची

अहिंसक क्रान्ति

जो यह समझते है कि खून बहाये बिना क्रान्ति नही हो सकती, वे सचमुच क्रान्तिकारी हैं ही नही। उनके सामने ध्येय क्रान्ति का नहीं, परन्तु वर्तमान सुखी और दुःखी लोगो के स्थानों की अदला-बदली करने का है। क्या यह क्रान्ति है? इसमे इसके सिवा क्या परिवर्तन हुआ कि जो सुखी है, वे दुःखी हो गये और जो दुःखी है, वे सुखी बन गये? क्या उन्होने दुःख को सर्वथा मिटा दिया?

क्रान्ति का अर्थ तो यह है कि निरपवाद रूप मे सर्वत्र सुख ही सुख हो। सर्वोदयवादी अर्थात् सबके सुख के लिए कोशिश करनेवाला होने के कारण मैं क्रान्तिकारी होने का दावा करता हूँ। जो समाज को दो वर्गों मे बॉट देना चाहते है, वे अपने को साम्यवादी या और कुछ वादी कह सकते हैं, परन्तु मेरी नम्र सम्मति में वे सब सम्प्रदायवादी है। जहाँ पाश्चात्य मस्तिष्क को अधिक-से-अधिक लोगो की अधिक-से-अधिक भलाई की दृष्टि से सोचने की तालीम दी जाती है, वहाँ भारतीय मानस को बचपन से ही सबके भले का, विश्व-मैत्री का, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का विचार करने की शिक्षा मिलती है। उसे सबसे प्रेम करने की तालीम दी जाती है। मैं सारे समाज का कायापलट इसी 'आत्मौपम्य' के आधार पर करना चाहता हूँ और इन्ही कारणो से मेरा तरीका क्रान्तिकारी है। मैं दूसरो को बहुत कष्ट पहुँचाये बिना लक्ष्य-सिद्धि चाहता हूँ। यह तभी हो सकता है, जब हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रति हमारी श्रद्धा हो। जो कुछ ऋषियो ने हमे सिखाया है, उसी पर अमल कर रहा हूँ। मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि अगर अहिंसात्मक क्रान्ति भारत मे नहीं हुई, तो और कहीं नही हो सकती।

'हरिजन'
१५-१२-'५१